इकाई-I

शहरी राजनीति का परिचय
(INTRODUCTION TO URBAN POLITICS)

1

शहरी नीतिशास्त्रियों की सैद्धांतिक समझः बहुलवादी, शासन व सार्वजनिक विकल्प
(THEORETICAL UNDERSTANDING OF URBAN POLITICS: PLURALIST, REGIME AND PUBLIC CHOICE)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- बहुलवाद
- नीतिशास्त्रियों की सैद्धांतिक समझः लॉस्की, रॉबर्ट मैकाइवर के विचार
- बहुलवाद की विशेषताएँ
- सार्वजनिक विकल्प का परिक्षेप्य
- क्रियापद्धति-व्यक्तिवाद, तार्किकता व राजनीति का आर्थिक विश्लेषण
- राज्य तथा राजनीति के लोक चयन उपागमन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगें—

- बहुलवाद को
- लास्की व रॉबर्ट मैकाइवर के विचारों को
- सार्वजनिक विकल्प के परिक्षेप्य को

● प्रस्तावना

बहुलवादी प्रभुसत्ता के एकत्ववादी सिद्धांत के सबसे बड़े विरोधी माने गए हैं। एकत्ववादियों के मतानुसार प्रभुसत्ता पूर्ण निश्चित, निरंकुश, असीमित, अविभाज्य, सर्वव्यापी व अपवर्जितता है। एकत्ववादियों के मतानुसार ''**यह राज्य के पास होती है और यह समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है। राज्य के अंदर रहने वाले सभी व्यक्ति तथा समुदाय राज्य के अधीन होते हैं। व्यक्तियों तथा समुदायों का परम कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना होता है। राज्य ही क़ानून का स्रोत है, सभी क़ानून उसी के द्वारा बनाए जाते हैं।**'' जनता को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है। वह उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करते हैं जिनकी स्वीकृति क़ानून उन्हें देता है। राज्य की सर्वोच्चता व राज्य के एकाधिकार को ही राजनीतिक एकत्ववाद

(Political Monism) कहा गया। प्रभुसत्ता के इस एकत्ववाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुसमुदायवाद का जन्म हुआ।

● बहुलवाद

बहुलवाद के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर राज्य व उसके अनेक समुदायों में बँटी हुई होती है। यह केवल राज्य की सम्पत्ति नहीं होती है। उनके मतानुसार राज्य सर्वोच्च संस्था न होकर अन्य समुदायों के समान सामान्य संस्था ही हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व आर्थिक समुदायों की स्थापना करता है। राज्य भी मनुष्य की राजनीतिक आवश्यकताओं का विकास करने के लिए एक समुदाय मात्र ही है। अत: प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर समुदायों में बँटी हुई मानी गयी है तथा राज्य इन समुदायों को समाप्त करने का अधिकार नहीं रखता है। **प्रो, हसियो** के अनुसार, **''बहुलवादी राज्य वह राज्य है जहाँ सर्वशक्तिमान् सत्ता का स्रोत न तो एक होता है, न तो सत्ता केन्द्रित होती है और न ही क़ानून की कोई एकताबद्ध व्यवस्था या प्रणाली होती है तथा जहाँ राजनीतिक इच्छा की सामान्यता पर बल नहीं दिया जाता। इसमें प्रभुसत्ता में विविधता होती है तथा यह विभिन्न भागों में विभाजित हो सकती है या विभाजित होनी चाहिए।'' गैटल** के अनुसार **''बहुलवादी राज्य को महत्त्व नहीं देते, प्रभुसत्ता की एकता के सिद्धांत का विरोध करते हैं तथा सामाजिक नियंत्रण में अन्य संस्थाओं के लिए एक बड़े हिस्से की माँग करते हैं।''**

बहुलवादी राज्य को समाप्त नहीं करना चाहते वरन् इसे प्रभुताहीन बना देना चाहते हैं। लॉस्की के मतानुसार, **''यदि प्रभुत्व की कल्पना को त्याग दिया जाए तो राज्य विज्ञान के लिए स्थाई रूप से उपयोगी सिद्ध हो जाएगा।''**

● सिद्धांत का विकास

बहुलवाद का विकास यद्यपि 19वीं शताब्दी के अंत व 20वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ परन्तु फिर भी इस सिद्धांत के चिह्नों की तलाश मध्यकाल में की जा सकती है। मध्य युग में यूरोप में राज्य बहुत निर्बल था तथा समाज में चर्च, व्यावसायिक संघ (Vocational Association) और श्रेणियों (Guilds) का बहुत अधिक महत्त्व था व इन विभिन्न समुदायों को काफी स्वतंत्रता भी प्राप्त थी। परन्तु 16वीं व 17वीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ जिससे राज्य बहुत शक्तिशाली बन गए तथा विभिन्न समुदायों को स्वतंत्रता भी प्राप्त हो गई थी। निरंकुश राजाओं की शक्तियाँ तो कम हो गई पर वे शक्तियाँ मंत्रिमंडल के पास चली गईं थीं। राज्य उसी तरह सर्वशक्तिशाली रहा। कल्याणकारी राज्य के उदय होने से राज्य के कार्य और बढ़ गए जिससे राज्य के क्षेत्र का विस्तार हो गया तथा समुदायों का महत्त्व बिलकुल समाप्त हो गया था। राज्य के सर्वशक्तिमान होने के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुसमुदायवाद का जन्म हुआ था।

● बहुलवाद की उत्पत्ति में सहायक तत्व

बहुलवाद की उत्पत्ति में निम्नलिखित तत्त्वों ने सहायता प्रदान की है।

1. व्यक्तिवादियों का योगदान—व्यक्तिवादियों ने राज्य की शक्तियों को कम करने पर अत्यधिक ज़ोर दिया व उन्होंने व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने का विचार भी किया। जे० एस० मिल हरबर्ट स्पेन्सर तथा माण्टेस्क्यू (Montesquieu) आदि विचारकों ने राज्य में शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध भी किया तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल दिया। बहुलवादियों ने भी राज्य की प्रभुसत्ता को कम करने पर ज़ोर दिया परन्तु व्यक्तिवादियों ने जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया उसके विपरीत बहुलवादियों ने समुदायों की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया।

2. मध्यकालीन श्रेणीवादी विचारकों का प्रभाव—19वीं शताब्दी के अन्त में गिरके (Gierke), मेटलैंड (Maitland), फिगिस (Figgis) इत्यादि लेखकों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जब मध्य युग में चर्च व अन्य श्रेणियों (Guilds) को स्वतंत्रता प्राप्त थी तो वर्तमान युग में भी समुदायों को स्वतंत्रता अवश्य मिलनी चाहिए।

3. राज्य की अयोग्यता—आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी बहुलवाद के विकास का कारण समझा गया। आधुनिक युग में राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया और बढ़ता ही जा रहा है। परन्तु व्यवहार में राज्य के कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से राज्य की अयोग्यता मतानुसार सिद्ध होती है। **प्रो० वार्ड** (Ward) के मतानुसार **''इससे केन्द्र में पक्षपात या लाभ तथा दूरवर्ती सिरों पर रक्तहीनता तथा पाण्डु रोग हो जाता है। बहु-समुदायवादी विकेन्द्रित राज्य से आधुनिक राज्य के दोष को दूर करना चाहते हैं।''**

4. लोकतंत्र में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था से असंतोष—19वीं शताब्दी के अन्त में व 20वीं शताब्दी के आरंभ में लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया गया, परन्तु शीघ्र ही इस प्रणाली में असंतोष भी उत्पन्न हो गया और श्रेणी समाजवादी व संघवादी विचारकों द्वारा इसके स्थान पर **'व्यावसायिक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व'** (Functional Representation) की माँग की जाने लगी तथा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थक समुदायों को राज्य के समान ही महत्त्व देना चाहते थे जिसके फल स्वरूप बहुलवाद के विकास में काफी सहायता मिली।

5. अराजकतावाद—सिन्डीकलिज्म तथा श्रेणी समाजवाद इत्यादि ने राज्य की शक्ति को कम करने का प्रचार किया था जिससे बहुलवाद को बहुत सहायता मिली।

6. क़ानून राज्य का आदेश नहीं—कई विद्वानों, जैसे ड्यूगी (Duguit) तथा क्रेब (Krabbe) ने इस बात का प्रचार किया कि क़ानून राज्य का आदेश नहीं है, इन विद्वानों के अनुसार क़ानून राज्य से ऊपर व श्रेष्ठ है। राज्य को भी क़ानून के मतानुसार कार्य करना चाहिए तथा राज्य को ही क़ानून बनाने का एकाधिकार प्राप्त नहीं होता। इन विद्वानों के विचारों से बहुलवाद को बहुत बल प्राप्त हुआ।

7. राज्य का उद्देश्य जनहित—राज्य का उद्देश्य जनता का कल्याण करना और समुदायों का उद्देश्य भी अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही होता है। अत: राज्य व अन्य समुदायों का पारस्परिक सहयोग होना चाहिए।

8. अन्तर्राष्ट्रवाद का क्रमिक विकास—आधुनिक युग में कोई भी राज्य पूर्णत: आत्म-निर्भर नहीं कहा जा सकता है। आज के युग का पालन अवश्य करना चाहिए व इस विचारधारा से भी बहुलवाद को बल मिला है।

बहुलवाद के मुख्य समर्थक तथा बहुलवाद की व्याख्या-बहुलवाद के मुख्य समर्थक गिरके, फिगिस, बार्कर, मैकाइवर, जी० डी० एच० कोल, लिंडसे, क्रेब, मेटलैंड, ड्यूगी तथा लास्की माने गए हैं।

बहुलवादियों के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर उन अनेक समुदायों में बँटी हुई होती है, जिनकी स्थापना मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है।

लिंडसे के मतानुसार, **''यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रभुसत्ता वाले राज्य के सिद्धांत का खण्डन हो चुका है। तथा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति केवल राज्य द्वारा नहीं हो सकती, इसके लिए अनेक समुदायों की आवश्यकता है।'' अत: राज्य को दूसरे समुदायों से मिलकर ही कार्य करना चाहिए। प्रो, लिंडसे के अनुसार, ''राज्य उन बहुत-से समुदायों या संगठनों में से एक समुदाय है जिनके अपने सामाजिक व्यक्तित्व और इच्छाएँ हैं और जो राज्य की तरह बहुत-से**

सार्वजनिक कार्यों में लगे हुए हैं। राज्य अपने सभी भागों में समुदायों पर केवल इतना ही नियंत्रण रख सकता है जितना कि नागरिक अपनी इच्छा से राज्य को देने को तैयार हो। राज्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं। राज्य समुदायों का समुदाय है।''

प्रो० बार्कर के मतानुसार, **''कोई भी राजनीतिक सिद्धांत इतना निष्प्राण और निष्फल नहीं हो गया जितना की प्रभुसत्ता संपन्न राज्य का सिद्धांत।''**

डॉ० फिगिस के मतानुसार, **''राज्य अन्य समुदायों की भाँति एक समुदाय ही है और उसका कार्य अन्य समुदायों के कार्यों में समन्वय करना है। इसलिए राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा एक भ्रम मात्र ही है।''**

ड्यूगी का मत है कि, **''राज्य की प्रभुसत्ता का सिद्धांत एक कोरी कल्पना है तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य या तो मर चुका है या मरने वाला है।''**

● लॉस्की के विचार नीतिशास्त्रियों की सैद्धांतिक समझ

बहुलवादी विचारकों में प्रो० लॉस्की का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं 'Studies in the Problem of Sovereignty', 'Authority in the Modern State', 'Foundations of Sovereignty' आदि में प्रभुसत्ता की समस्या पर भी विचार किया है। इन्होंने प्रभुसत्ता के परम्परागत सिद्धांतों पर ज़ोरदार आक्रमण किया था और ऐसा करने में इनके ऊपर अपने गुरु बार्कर, श्रेणी-समाजावदी चिन्तक कोल, मेटलैण्ड आदि का प्रभाव था। लॉस्की ने बोन, हॉब्स रूसो व आस्टिन द्वारा प्रतिपादित राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का बड़े ज़ोरों से खण्डन किया इन्हीं के अनुसार आस्टिन की प्रभुसत्ता की व्याख्या में निम्नलिखित तीन तत्त्व बताए गए।

1. क़ानून की दृष्टि से राज्य कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उस राज्य में एक निश्चित सम्प्रभु अथवा सत्ताधारी हो जो समस्त शक्ति का स्रोत होता है।

2. सम्प्रभु की शक्ति असीम व अमर्यादित होती है।

3. सम्प्रभु का आदेश ही क़ानून है जिसके न मानने पर व्यक्ति को दण्डित अवश्य किया जा सकता है।

लॉस्की के विचारानुसार प्रभुसत्ता की परम्परागत धारणा तथ्यों के विरुद्ध है। जिसे निम्नवत् आधार पर समझा जा सकता है।

1. सम्प्रभु का निर्णय करना कठिन है–लॉस्की का कहना है कि ऑस्टिन का सम्प्रभु को निश्चित करने का सिद्धांत कदापि उचित नहीं है। **लॉस्की** की धारणा है कि **'समाज के वास्तविक शासकों की खोज नहीं की जा सकती उसको निश्चयात्मक होने की बात कहना तो दूर रहा।'** इन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण देते हुए कहा है कि वहाँ न तो राष्ट्रपति व न ही कांग्रेस सम्प्रभु का स्थान ग्रहण कर सकते हैं। वहाँ पर किसी भी व्यक्ति को सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। यही बात अन्य संघात्मक राज्यों पर भी लागू होती है। वहाँ पर भी सम्प्रभु का पता लगाना कठिन कार्य ही है। यदि किसी राज्य में लोक-निर्णय की पद्धति प्रचलित होती वह धारणा का सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। यही बात अन्य संघात्मक राज्यों पर भी लागू होती है। वहाँ पर भी सम्प्रभु का पता लगाना कठिन कार्य ही है। यदि किसी राज्य में लोक-निर्णय की पद्धति प्रचलित हो व अंतिम क़ानूनी सत्ता निर्वाचक-मंडल के हाथ में रहती हो, तो उसे भी ऑस्टिन की धारणा का सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता **लॉस्की** के अनुसार, **''कोई भी निर्वाचक-मंडल एक ऐसा अनिश्चयात्मक निकाय होता है जो कि कानूनी दृष्टि से अपने अंगों या अभिकरणों के माध्यम से कार्य करता है, जबकि ऑस्टिन की धारणा यह है कि प्रभुसत्ता की विशेषता निश्चयात्मक तथा अमर्यादित होना है।''** इस परिस्थिति में लॉस्की यह मत भी

प्रस्तुत करता है कि **हेनरी मेन** (Henry Maine) का यह विचार उचित है कि ''**ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धांत मूर्खता की सीमा तक कृत्रिम है।**''

2. सम्प्रभुता के असीमित तथा सर्वोच्च होने की आलोचना—लॉस्की के मतानुसार आज तक कहीं भी सम्प्रभु की असीम सत्ता प्राप्त नहीं रही है और जहाँ कहीं ऐसे सम्प्रभु रहे हैं तो वहाँ कुछ-न-कुछ रक्षा कवच बने रहे **लॉस्की** ने टर्की के सुल्तान का उदाहरण देते हुए कहा कि वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर भी मनमानी नहीं करता था बल्कि कुछ प्रथाओं व रीति-रिवाज़ों की सीमा में उसने अपने को सीमित रखा। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में संसद-सहित राजा की स्थिति के बारे में भी उसकी धारणा यह है कि क़ानूनी दृष्टि में इसकी सत्ता असीम है तथा यह **ऑस्टिन** की धारणा की सम्प्रभु सत्ता ही है। परन्तु संसद भी अपनी असीम शक्तियों का प्रयोग जनमत व प्रथाओं के विरुद्ध नहीं कर सकती व्यवहार में वह अपनी क़ानूनी असीम सत्ता का प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार ही करती हैं व उसके ऊपर अनेक आंतरिक तथा बाहरी नियंत्रण है जिनका पालन उसको करना आवश्यक है। ब्रिटिश संसद बल्श खान-खोदकों के विरोध के कारण 'म्यूनिशन एक्ट' की हड़ताल विरोधी धारा को लागू नहीं कर सकी थी। इसी प्रकार अमेरिकन कांग्रेस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रेलवे कर्मचारियों के दबाव के कारण एक क़ानून बनाना ही पड़ा था। संघात्मक राज्यों में शक्तियों का बँटवारा होने के कारण सम्प्रभु की शक्तियाँ कदापि असीमित नहीं होतीं।

3. सम्प्रभु का आदेश क़ानून नहीं है–ऑस्टिन के इस मत से **लॉस्की** सहमत नहीं होता कि सम्प्रभु का आदेश ही पूर्णत: क़ानून है। **लॉस्की** के मतानुसार आदेश व क़ानून पृथक् चीजें हैं। क़ानून का लक्षण सबके ऊपर समान रूप से लागू होता है चाहे वह विधायक हो अथवा जनता। जिस कारण किसी ऐसी सत्ता द्वारा दिया जाता है जो स्वयं क़ानून द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार आदेश का लक्षण यह है वह आदेशदाता पर लागू नहीं होता जबकि क़ानून सभी पर समान रूप से लागू होता है। अत: कानून को आदेश का रूप मानना किसी भी आधार पर उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्प्रभुत्ता सम्पन्न राज्य के सिद्धांत को लॉस्की नैतिक दृष्टि से भी अमान्य कहता है। उसका कहना है कि किसी व्यक्ति से, उसे किसी बात को नैतिक औचित्य समझाए बिना ही अंधा होकर आज्ञापालन की माँग करना नैतिक रूप से पूर्णत: गलत है। यह उसके नैतिक व्यक्तित्व के विकास को कुंठित कर देगा। राज्य को व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करने का केवल वहीं तक पूर्णत: अधिकार है जहाँ तक उसकी अंतरात्मा सहमत होगी। ''मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में ही उपयुक्त है।''

लॉस्की के अनुसार अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से राज्य की सम्प्रभुता का सिद्धांत मानव के अहित में ही है। लॉस्की ने कहा है, ''अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की धारणा मानव कल्याण के लिए भयानक है, अन्य राज्यों के साथ संबंधों के निर्मित एक राज्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए। इसका एकमात्र निर्णायक स्वयं उसी राज्य को नहीं होना चाहिए।'' इस प्रकार लॉस्की की दृष्टि में अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की परंपराएँ (क़ानून) राज्य की प्रभुसत्ता को मर्यादित करती थी।

व्यक्ति और समूह के दृष्टिकोणों से भी लॉस्की ने सम्प्रभुता सिद्धांत की आलोचना की वह राज्य का संगठन इस प्रकार चाहता था कि व्यक्ति और समूहों को अधिकतर स्वतंत्रता प्राप्त हो जाये। वह व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान देना चाहता था। राज्य की इच्छाओं को व्यक्ति की इच्छाओं पर प्रधानता उसी सीमा तक देता जहाँ तक उसे इच्छा का निर्माण ऐसी बुद्धिमत्ता के साथ किया जाए जिस कारण उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि **लॉस्की** नैतिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण से एकलवादी या अर्द्धतवादी (Monist) प्रभुसत्ता का पूर्णत: विरोधी है। इसीलिए **लॉस्की** ने अपनी पुस्तक 'Grammar of Politics' में लिखा है—''राजनीति विज्ञान के लिए यह स्थायी लाभ की बात होगी यदि समस्त प्रभुसत्ता की कल्पना को

त्याग दिया जाए।'' तो राज्य की बात अंतिम आदेश नहीं हो सकती वह तो केवल दिशा–निदेशन का काम करता है अथवा उन लक्ष्यों को स्पष्ट करता है जिस ओर व्यक्ति, समाज और संघ सब बढ़ना चाहते हैं। अनुत्तरदायी और निरंकुश राज्य ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता।

लॉस्की का कहना है ''समाज का स्वरूप क्योंकि संघात्मक है, इसलिए सत्ता का रूप भी संघात्मक होना चाहिए।'' इसका अर्थ है कि ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो व्यक्तियों पर निरंकुश नियंत्रण का अधिकार रखती हो। ज्यादा से ज्यादा राज्य मनुष्य के जीवन पर आंशिक नियंत्रण रख सकता है। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जैसे कि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व धार्मिक आदि। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदायों का सदस्य बनता है और ये समुदाय व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए हमारे समाज में क्लब, चर्च, ट्रेड यूनियन व इसी प्रकार अर्थ, धर्म, कला आदि। क्षेत्रों में विभिन्न समुदायों का अस्तित्व है। इन समुदायों का अपना जीवन अथवा अपनी इच्छा है। ये सभी एक–दूसरे से अलग होते हैं क्योंकि इनकी कार्य–प्रणाली और उद्देश्य एक–दूसरे से अलग होती है। लॉस्की के अनुसार, अगर इनका अध्ययन राज्य के प्रसंग में किया जाए तो वे किसी भी अर्थ में उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं लगते हैं। दूसरी तरफ यदि इस राज्य का मूल्यांकन किया जाए तो इससे इन समुदायों व समूहों के बारे में जानकारी नहीं मिलती है। इसी तरह विभिन्न समुदायों का अध्ययन भी राज्य के बारे में जानकारी नहीं देता अत: इससे ज्ञात होता है कि राज्य को इन समुदायों के ऊपर किसी प्रकार की नियंत्रणकारी या बाह्यकारी शक्ति नहीं है। राज्य अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है, जो व्यक्ति के राजनीतिक हितों की रक्षा करता है। इसलिए राज्य को अन्य सभी समुदाय में सर्वोच्च होने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। राज्य व्यक्ति की आंशिक शक्ति को अपने अधिकार में कर सकता है। अत: जब राज्य हमारी केवल आंशिक इच्छाओं को पूर्ण करता है तो वह हमें उसी अनुपात में आज्ञा मानने के लिए बाध्य करता है। इटली में **मुसोलिनी** तथा जर्मनी में **हिटलर** ने सर्वसत्तावादी सावयव राज्य की स्थापना की। उनका कहना था कि समाज के सभी समुदाय व व्यक्ति राज्य के अस्तित्व के लिए बलि किए जा सकते हैं, किन्तु उनके राज्य का अस्तित्व स्थायी नहीं बल्कि बालू के घर के समान था क्योंकि उन्होंने व्यक्ति और समुदायों की स्वतंत्र इच्छा एवं व्यक्तित्व का सम्पूर्ण नाश किया। **प्रो० लास्की** राज्य को विभिन्न समुदायों में संतुलन अथवा सामंजस्य स्थापित करने वाला संघ बतलाता है। वह राज्य को बराबर वालों में श्रेष्ठ मानता है।

लॉस्की के अनुसार, जीवन के प्रत्येक पक्ष में शक्ति संघात्मक है। जैसे वैधानिक शक्ति को किसी विशेष व्यक्ति के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता, क्योंकि इससे बहुत–से लोगों का हित नहीं हो सकता है। एकत्ववादी राज्य स्वतंत्रता और जनमत का विरोधी होता है तथा जनता को प्रशासन के पास अपनी आवाज पहुँचाने का अवसर नहीं मिलता अत: यदि राज्य को क्षमतावान बनाना है, उसमें लोकमत को प्रभावशाली बनाना है तो राज्य की शक्तियों को विकेन्द्रित कर दिया जाए अत: उसे विभिन्न समुदायों में बाँट दिया जाए। इस प्रकार संघीय सत्ता की स्थापना होगी जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होगी। लॉस्की का कहना है कि एकत्ववादी राज्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें समुदायों की सत्ता की अवहेलना की जाती है, परन्तु अन्य समुदाय व्यक्ति के विकास के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितना कि राज्य। इसलिए वैधानिक प्रक्रिया उन सभी की इच्छाओं पर आधारित होनी चाहिए जिसको वे प्रभावित करती हैं। लॉस्की का यह भी कहना है कि राज्य बाहरी प्रभुसत्ता शक्ति के लिए खतरा है, और ये अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भी एक रुकावट है। राज्य का सम्प्रभुता को इन सभी हिस्सों का त्याग करके अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अभ्यास करना चाहिए और समस्त मानवता के हित में कार्य करना चाहिए। लॉस्की का बहुलवाद उग्र व्यक्तिवादी सिद्धांत है। व्यक्ति विभिन्न समुदायों अथवा राज्य का सदस्य होता है। व्यक्ति की निष्ठा की प्राप्ति के लिए समुदायों व राज्य में प्रतियोगिता रहती है। राज्य तथा समुदाय अथवा समुदायों के बीच मतभेद होने पर व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसी

4. राज्य के अस्तित्व की स्वीकृति—बहुलवादी राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं है बहुलवादी राज्य को उपयोग समझते हैं किन्तु उसके अनुसार राज्य के साथ-साथ अन्य समुदायों को भी स्वतंत्रता देनी चाहिए। अत: बहुलवादी राज्य की एकल प्रभुसत्ता का विरोधी है न कि स्वयं राज्य का।

5. प्रभुसत्ता का आधार संघात्मक होना चाहिए—बहुलवादियों के अनुसार समाज का संगठन संघात्मक है। जिस प्रकार संघ राज्य में कई राज्य मिलकर संघ की स्थापना करते हैं। किन्तु अपनी प्रभुसत्ता का अंत नहीं करते, उसी प्रकार संघात्मक समाज में भिन्न-भिन्न समुदायों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वतंत्रता होनी चाहिए। समाज में विभिन्न समुदाय सामान्य हितों की रक्षा के लिए संगठित अवश्य हों किन्तु प्रत्येक समुदाय अपनी सत्ता को अवश्य बनाए रखें।

6. क़ानून का पालन उपयोगिता के कारण—बहुलवादियों के अनुसार व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन इस कारण नहीं करता कि राज्य प्रभुसत्ता संपन्न है व उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर उसे दण्ड मिलेगा जबकि वह क़ानून का पालन उपयोगिता के कारण करता है। इस प्रकार बहुलवादी राज्य एक उपयोगी संस्था मानी जाती है। जिस प्रकार अन्य समुदाय व्यक्ति के जीवन को पूर्णत: विकसित करने के लिए प्रयत्न करते हैं उस प्रकार राज्य भी व्यक्ति के राजनीतिक जीवन का विकास करता है। इस प्रकार क़ानून का आधार शक्ति न होकर उसकी उपयोगिता है।

7. विकेंद्रीकरण के पक्ष में—बहुलवादी प्रभुसत्ता का विकेंद्रीकरण चाहते हैं। उसके अनुसार केंद्रीयकरण से समुदायों की स्वतंत्रता खत्म हो जाती है। इसलिए प्रभुसत्ता राज्य व अथवा अन्य समुदायों में बँटी होनी चाहिए।

8. राज्य की निरंकुशता का विरोध—बहुलवादी राज्य की निरंकुशता अथवा असीमित शक्तियों का विरोध करते हैं पर वे व्यक्ति को अनियंत्रित स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं थे। बहुलवादी व्यक्ति की अपेक्षा समुदायों के अधिकारों अथवा स्वतंत्रता पर ज़ोर देते हैं।

9. राज्य और समाज में अंतर—आदर्शवादियों की तरह बहुलवादी राज्य तथा समाज को एक नहीं मानते हैं। बहुलवाद के अनुसार, ''फॉसीवादियों का यह कथन गलत है कि सभी कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य के बाहर व राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं है। बहुलवादियों के अनुसार, राज्य समाज का वह अंग है जो उद्देश्य तथा कार्यक्षेत्र की दृष्टि में समाज का सहगामी नहीं हो सकता है। इस संबंध में मैकाइवर ने लिखा है कि, ''राज्य एक ऐसा संगठन है जिसे समाज का समकालीन व सम विस्तार वाला नहीं कहा जा सकता है। राज्य का निर्माण तो समाज के अंतर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है।''

10. राज्य सामाजिक संस्थाओं के अधीन—बहुलवादियों का कहना है कि इतिहास इस बात का गवाही देता है कि राज्य सदा ही सामाजिक संस्थाओं के सामने झुकता आया है। प्रो० **लॉस्की** का कहना है कि राज्य कभी भी सर्वशक्तिमान तथा निरंकुश नहीं रहा है। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों में विद्रोही मज़दूरों के विरुद्ध **'शस्त्रास्त्र अधिनियम'** (Munitions Act) को लागू नहीं कर सकी। इस प्रकार अमेरिकन रेलवे कर्मचारी।

IV. क़ानून राज्य के आदेश मात्र ही नहीं है—ऑस्टिन के अनुसार क़ानून सम्प्रभु के आदेश होते हैं, किन्तु मैकाइवर ऑस्टिन के इस विचार का विरोध करता है। किन्तु मैकाइवर के अनुसार क़ानून तो आदेश का विपरीत भाग है। जब कोई आदेश जारी किया जाता है तो वह आदेश देने वाले को आदेश पाने वाले से अलग कर देता है। दोनों के स्तरों अथवा दोनों के हितों में भेद पैदा करता है, जबकि क़ानून के माध्यम से एकता की स्थापना होती है व क़ानून सभी पर समान रूप से लागू होता है। मैकाइवर क़ानून को क़ानून बनाने वालों से उत्तम मानता है क्योंकि क़ानून बनाने वाले स्वयं किसी क़ानून के अंतर्गत ही क़ानून बनाते हैं। **मैकाइवर** का कहना है, ''क्रेब के इस शब्दों में सत्य का पूर्णत: अंश है कि क़ानून की शक्ति राज्य की शक्ति से बड़ी है।

राज्य क़ानून का संरक्षक अधिक व इसका निर्माता कम है। राज्य का मुख्य उद्देश्य क़ानून के शासन को लागू करना है जिसका अर्थ है कि वह स्वयं क़ानून के अधीन है।''

5. प्रभुसत्ता का आधार शक्ति नहीं—हॉब्स, बेथम व ऑस्टिन के अनुसार शक्ति प्रभुसत्ता का आधार है। किन्तु मैकाइवर के अनुसार, शक्ति न तो प्रभुसत्ता का आधार हो सकती है तथा न ही राज्य का। **मैकाइवर** का कहना है, कि ''शक्ति प्रयोग से ही केवल राज्य का निर्माण नहीं होता। अगर ऐसा होता तो समुद्री लुटेरों का जहाज तथा बागी सेना भी राज्य कहलाती।''

संक्षेप में, **मैकाइवर** के अनुसार प्रभुसत्ता सीमित होती है तथा राज्य भी अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है। अत: प्रभुसत्ता राज्य व अन्य समुदायों में विभाजित होती है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मैकाइवर एकत्ववादी प्रभुसत्ता को अंतर्राष्ट्रीयता का शत्रु मानता है। मैकाइवर का यह विश्वास है कि समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ राज्य को प्रभुसत्ता त्याग देने के लिए पूर्णत: विवश कर देती है।

● बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ

बहुलवाद के विभिन्न विद्वानों के विचों के आधार पर बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. राज्य सम्पूर्ण नहीं है—इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का जीवन बहुमुखी है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदायों की स्थापना करता है। इन समुदायों में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक संगठन होते हैं। अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को यह पूर्णरूप से विकसित कर सकता है अगर इन समुदायों की अपने क्षेत्र में स्वतंत्रता होती। समुदायों को अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुसत्ता प्राप्त होनी चाहिए। प्रभुसत्ता केवल राज्य के पास न होकर सभी समुदायों में विभाजित होनी चाहिए। इस प्रभुसत्ता पर राज्य का एकाधिकार नहीं होना चाहिए।

संघ ने हड़ताल की धमकी देकर सरकार से आठ घण्टे का दिन स्वीकार करा लिया था। भारत में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सरकार को सामाजिक संगठनों की माँगों को स्वीकार करना पड़ता है। हम बहुलवादियों के सिद्धांत को **गैटेल** (Gettell) के शब्दों में वर्णन करते हैं। **गैटेल** (Gettell) के अनुसार, बहुलवादी राज्य को एक अनोखी संस्था मानने से इनकार करते हैं। उनके अनुसार दूसरे समुदाय भी बराबर के महत्वपूर्ण व स्वाभाविक हैं। उनका मत है कि ये समुदाय अपने क्षेत्र में उसी प्रकार प्रभुसत्ता संपन्न हैं जैसे राज्य अपने क्षेत्र में।

● आलोचना

बहुलवाद की ओलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई हैं—

1. बहुलवाद अराजकता का समर्थन करता है—बहुलवादियों के इन विचारों को यदि व्यवहारिक रूप में लागू किया जाए तो इसका परिणाम अराजकता होगी। प्रभुसत्ता को राज्य की दूसरी संस्थाओं में बाँटने से अराजकता व दुर्व्यवस्था फैलेगी। प्रत्येक समुदाय के पास प्रभसत्ता हो तो प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों के लिए क़ानूनों का निर्माण करेगा व यह भी स्वाभाविक है कि कई समुदायों द्वारा बनाए गए क़ानून परस्पर विरोधी होंगे। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए यह समस्या होगी कि कौन-सा क़ानून माना जाए तथा कौन-सा नहीं। मध्य युग में चर्च, राज्य, सामंतों पर आर्थिक संघों में संघर्ष रहता था जिसके परिणामस्वरूप अराजकता फैली हुई थी।

2. राज्य दूसरे समुदायों के अस्तित्व के लिए आवश्यक है—यह ठीक है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदाय स्थापित करता है तथा ये समुदाय उसके जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। किन्तु ये समुदाय अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर निर्भर करते हैं। विभिन्न समुदाय अपने

नियमों को राज्य की सहायता से ही लागू करते हैं। राज्य के बिना इन समुदायों की स्थापना नही हो सकती। अत: समुदायों का स्तर राज्य के बराबर नहीं है। राज्य के पास प्रभुसत्ता है।

3. समुदायों के विवाद भी राज्य सुलझाता है—बहुलवादियों के इस विचार को यदि हम मान लें कि समाज विभिन्न समुदायों के समूह से बना है तो हमें किसी ऐसी उत्तम संस्था की आवश्यकता होगी जो कि भिन्न समुदायों के झगड़ों को निपटा सके। यदि कोई ऐसी सर्वोच्च संस्था नहीं होगी तो विभिन्न समुदायों के परस्पर झगड़ों से मनुष्य का जीवन बहुत दूषित हो जाएगा। ऐसी परिस्थितियों में समाज की प्रगति नहीं हो सकेगी। इसलिए समाज में सर्वोच्च संस्था अथवा राज्य का होना आवश्यक है।

4. बहुलवाद अस्पष्ट है—बहुलवाद स्पष्ट नहीं है। यह किसी एक विद्वान की देन नहीं है। इसके समर्थन में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने तर्क दिए किसी एक विद्वान ने इसके सिद्धांतों का स्पष्ट तौर पर वर्णन नहीं किया। गिरके मेटलैंड ने समुदायों के वास्तविक व्यक्तित्व की व्याख्या तो की किन्तु इन विद्वानों ने राज्य की क़ानूनी सत्ता के विषय में कुछ नहीं कहा। स्वयं कई समुदायवादियों ने भिन्न-भिन्न समुदायों में मेल-मिलाप बनाए रखने का कार्य राज्य को सौंपा जिससे राज्य की सर्वोच्चता स्पष्ट होती है।

5. प्रभुसत्ता का विभाजन किस प्रकार किया जाए?—यदि हम बहुलवादियों के इस सिद्धांत को मान लें कि प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर भिन्न-भिन्न समुदायों में बँटी हुई है तो प्रश्न उठता है कि प्रभुसत्ता का विभाजन विभिन्न समुदायों में किस आधार पर किया जाए। समाज में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक अनेक समुदाय होते हैं। किसी समुदाय को कितनी प्रभुसत्ता व किन-किन विषयों पर क़ानून बनाने की शक्ति दी जाए आदि समस्याओं को सुलझाना बहुत कठिन है।

6. प्रभुसत्ता का विभाजन करना राज्य को नष्ट करना है—बहुलवादी प्रभुसत्ता को विभाजित करते हैं। किन्तु प्रभुसत्ता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। प्रभुसत्ता एक पूर्ण इकाई है जिसे बाँटा नहीं जा सकता। यदि प्रभुसत्ता को बाँटा जाए तो राज्य नष्ट हो जाएगा। बहुलवादियों का सिद्धांत बड़ा अनोखा है क्योंकि ये प्रभुसत्ता को बाँटना भी चाहते हैं व राज्य को भी रखना चाहते हैं। यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती थीं।

7. सभी समुदाय समान स्तर के नहीं हैं—बहुलवाद की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि ये समाज के सभी समुदायों को समानरूप स्तर का मानता है। प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मानना बहुत बड़ी गलती है। विशेष कार्यों के कारण राज्य की स्थिति भी अन्य समुदायों से अलग व विशेष होती है। **डॉ० गार्नर** (Garner) के शब्दों में, ''विभिन्न श्रेणियों तथा वर्गों को एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले समुदायों को उचित मर्यादा में रखने का कार्य करके राज्य एक महत्त्वपूर्ण सेवा करता है। उनके परस्पर विरोधी हितों का निपटारा करने तथा उनमें मेल स्थापित करने के लिए राज्य एक निर्णायक का कार्य करता है।''

8. समुदायों के सदस्यों पर अत्याचार रोकने के लिए राज्य का सर्वोच्च होना आवश्यक है—यदि समुदायों को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता दे दी जाए तो समुदायों के प्रबंधक सदस्यों पर अत्याचार करने लगेंगे। इन समुदायों को प्रबंधकों के अत्याचारों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास सर्वोच्चता तथा प्रभुसत्ता हो ताकि राज्य समुदायों पर नियंत्रण कर सकें। राज्य समुदायों को अपने कार्यों के नियमों के अनुसार करने के लिए बाध्य व सदस्यों के अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

● सार्वजनिक विकल्प का परिक्षेप्य

पिछली इकाइयों में आप अफसरशाही के अध्ययन के भिन्न-भिन्न उपागमों के बारे में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। इस इकाई में हम जग प्रशासन के नए उपागम की चर्चा करेंगे। लौंग चयन उपागम का राजनीति और प्रशासन के क्षेत्र में लोगों, उनके अभिप्रेरणों (Motivations) और कारवाइयों के बारे में मूलरूप से

अलग दृष्टिकोण हैं। यह उपागम अफसरशाही और प्रशासन का किस प्रकार अध्ययन करता है इसके बारे में प्रस्तुत इकाई में प्रकाश डाला गया है।

काफी समय तक, जिन लोगों ने अफसरशाही का अध्ययन किया था, उनका मानना था कि सभी औपचारिक संगठनों में यह कमोबेश वहीं विशेषताएँ तथा व्यवहार प्रदर्शित करती है। अथवा लोग संगठनों के सिद्धान्तवादी इस तथ्य को ध्यान में लाए कि व्यापारिक प्रतिष्ठानों के विपरीत ब्यूरो के कार्य ने जनहित को ध्यान में रखा है। एक धारणा यह भी है कि लोग प्रशासन के अभिकरणों के कार्मिक तथा स्टाफ सरकार की सभी नीतियों तथा कार्यनीतियों को जहाँ तक संभव हो, कुशलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए काम करने हेतु अभिप्रेरण करते हैं।

वास्तविक व्यवहार में, ब्यूरो व फील्ड अभिकरण प्राय; उस व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं जिसने अनेकों को यह पूछने के लिए प्रेरित किया है—''क्या उनका व्यवहार कार्रवाइयों तथा रणनीतियों के अनुकूल है जो कुशलतापूर्वक तथा प्रभावी ढंग से सरकार की नीतियों को कार्यान्वित करेंगे?'' क्या देरी, अदक्षताएँ (Inefficiencies) तथा उप-अभीष्ट (Sub-optional) व्यवहार हैं? क्या कुछ कर्मचारी धन के लोभी हैं? पहले से जिन नीतियों का कार्यान्वयन किया जा रहा है, क्या वे सबसे अच्छी नीतियाँ हैं? सवाल उठता है कि यदि ऐसा व्यवहार कभी-कभी देखने को मिलता है तो क्यों इस प्रकार के व्यवहारों को प्रदर्शित किया जाता है? क्या यह अभिप्रेरण की समस्या है अथवा गलत ढंग से तैयार की गई प्रोत्साहन प्रणाली की समस्या है? सरकारी नीति (Official Policy) से प्राय: विचलन (हटना) क्यों हैं? ये गंभीर प्रश्न हैं जिनका सामना लोग प्रशासन के किसी भी विद्यार्थी को करना पड़ता है।

लोग चयन सिद्धान्त ने प्रशासन के अध्ययन के लिए एक अलग उपागम देने का प्रयास किया। मूल रूप से सिद्धान्त सुझाव देता है कि जब हम किसी संगठन अथवा संस्था का अध्ययन करते हैं तब हमें लोगों के व्यवहार अर्थात् संगठन अथवा संस्था के लोगों को भी देखना चाहिए। लोग चयन उपागम निष्कर्ष निकालने व सैद्धान्तिक ढाँचा तैयार करने में एक विशिष्ट नौकरशाह के व्यवहार का अवलोकन करता है। इस इकाई में अफसरशाही के विश्लेषण के लिए लोग चयन उपागम के सामान्य ढाँचे को पूर्व निर्धारित करने का विचार किया गया है।

निम्नलिखित भाग में विश्लेषण की लोग चयन पद्धति के क्रियापद्धति आधारों (Methodological Basis) को स्पष्ट किया गया है। यह भाग तार्किकता की अवधारणा को स्पष्ट करता है क्योंकि चयन उपागम का मूल आधार यह है कि राजनीतिक कार्यकर्ता (Political Actors) स्वाभाविक रूप से लोंग तार्किक होते हैं। चयन उपागम क्रियापद्धति व्यक्तिवाद के ढाँचे में निर्धारित है। इस भाग में लोग चयन की पारिभाषिक विशेषता तथा राजनीतिक विनिमय (Political Exchange) के कुछ संबंधित उपागमों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसका अर्थ है कि राजनीतिक तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं को ''विनिमय'' प्रक्रियाओं के रूप में देखा गया है। भाग 19.3 में कुछ मूल राजनीतिक प्रक्रियाओं, क्रियाओं व संस्थाओं के लिए लोग चयन उपागम की चर्चा की गई है जैसे सामूहित चयन व मतदान तथा हितार्थ तथा दबाव समूह। इसके अतिरिक्त इस भाग में राज्य की उत्पत्तियों तथा प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। आगामी दो भागों में इस इकाई में लोग चयन का प्रयोग करते हुए प्रशासन तथा नौकरशाही की चर्चा को भी उठाया गया है। भाग 19.4 में ब्यूरों की संरचना और स्वरूप की चर्चा की गई है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि ये ऐसे क्यों हैं। यह सार्वजनिक वस्तुओं के प्रावधान को भी स्पष्ट करता है। इसमें लोग चयन परम्परा के अंतर्गत नौकरशाही के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। भाग 19.5 में सरकारी विनियामक प्राधिकारियों द्वारा निजी क्षेत्र के आर्थिक कार्यकलापों तथा किराया-जीवी व्यवहार को नियंत्रित करने के व्यवहार का भी विश्लेषण किया गया है।

● क्रियापद्धति-व्यक्तिवाद, तार्किकता और राजनीति का आर्थिक विश्लेषण

आइए, आरंभ में दो शब्दों, लोग व ''चयन'' पर चर्चा करें। स्पष्ट है कि पहला शब्द सार्वजनिक संगठनों में उनके कार्यकलापों तथा प्रक्रियाओं पर उपागम का बल देता है जैसे राज्य की नौकरशाही, विधायिका, कार्यपालिका व अन्य अंग। यह निजी व्यक्तियों के कार्यों से संबंधित नहीं है परंतु यह मतदाताओं तथा हितार्थ समूह जैसे सामूहिक सदस्यों से संबंधित है। लोग चयन का मानना है कि किसी भी सार्वजनिक संगठन की कार्यप्रणाली का अध्ययन करने के लिए, व्यक्ति को उस संगठन में लोगों के व्यवहार का अवलोकन करने की आवश्यकता पड़ती है। ''चयन'' शब्द बताता है कि सार्वजनिक संगठनों में लोगों के व्यवहार तथा क्रियाएँ अथवा गतिविधियाँ एक एकल आयाम (Single Dimension) व चयन के अनुसार समझी जाती हैं जिन्हें व्यक्ति उपलब्ध विकल्पों व दबावों से प्राप्त करता है। हम इस पर नीचे उपभाग 19.2.1 में उल्लेख करेंगे।

दिलचस्प बात यह है कि यद्यपि अध्ययन के उद्देश्य सार्वजनिक संगठन तथा संस्थाएँ हैं फिर भी लोग चयन उपागम बल देता है कि किसी लाभदायक विश्लेषण के लिए इन संस्थाओं में व्यक्ति को एक विशिष्ट 'प्रतिनिधि' के व्यवहार व व्यक्तियों अथवा सामूहिक, सामाजिक तथा सार्वजनिक संस्थाओं व संगठनों के बीच संबंध का अवलोकन करने की ज़रुरत होती है। इसी पर अब हम चर्चा करेंगे।

● क्रियापद्धति व्यक्तिवाद और तार्किकता

लोग चयन की क्रियापद्धति में दो संबंधित तत्व हैं। पहला तत्व *क्रिया पद्धति-व्यक्तिवाद* है। क्रियापद्धति व्यक्तिवाद समाज को एक अवयव (Organism) के रूप में स्वीकार नहीं करता व पूरे उपागम को भ्रामक मानता है। लोग चयन सिद्धांतवादियों का मानना है कि जब सामूहिक पहचानों अथवा समूहों का अध्ययन करते हैं तो *व्यक्ति* को विश्लेषण की इकाई होना चाहिए अर्थात् निर्णयन (Decision-making) की बुनियादी इकाई होना चाहिए व उसकी इकाई जिसके लिए निर्णय किया जाता है। समूह, संगठन तथा समाज व्यक्तियों के अतिरिक्त कुद नहीं हैं क्योंकि व्यक्तियों से समूह, संगठन तथा समाज बनता है। जबकि अनेक अन्य उपागम समूह-निर्णयन की बात करते हैं, लोग चयन उपागम समूह स्तर पर निर्णयन की वैधता अस्वीकार करता है। इस उपागम का मानना है कि समाज का व्यवस्थित दृष्टिकोण सही नहीं है तथा यह वास्तव में भ्रामक है।

आर्थिक क्रियापद्धति का यह दूसरा तत्व पहले तत्व के साथ निकटता से जुड़ा है, जो *तार्किक चयन* (Rational Choice) है। तार्किक चयन ''प्रसन्नता-पीड़ा कलन के मापन'' (Measuring Pleasure-pain Calculus) के गुण का केवल आधुनिक उपयोग है जिन्हें क्लासिकीय दार्शनिकों के अनुसार लोग अनुसरण करते हैं। इसमें मानव व्यवहार का एक पहलू अथवा विशिष्ट पर्यावरणों में निर्णयन निहित है। मूल विचार यह है कि दबावों व बाधाओं को देखते हुए जिनका वे सामना करते हैं, उनके आधार पर लोग जो कर सकते हैं, अच्छे से अच्छा करने का प्रयास करते हैं। कल्पना की जाती है कि लोग वरीयता के क्रम में विकल्पों को व्यवस्थिति करने व सर्वाधिक चयनित विकल्प को चुनन और अपने चयनों (पसंदों) में सुसंगत होने में योग्य हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग स्वार्थी हैं तथा वे अन्य लोगों के बारे में नहीं जानते हैं। यह मानव प्रयास के सभी क्षेत्रों में चाहे वह आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र हो, सही है। राजनीति पर लागू बुनियादी अर्थ जिसे लोग चयन सिद्धांतवादी मानते हैं कि वह यह है कि राजनीति का 'जनहित' के दृष्टिकोण से विश्लेषण नहीं करना चाहिए बल्कि ''व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने वाले'' दृष्टिकोण से विश्लेषण करना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में सभी भागीदार-राजनेता नौकरशाह, मतदाता और दावेदार अपने-अपने लाभों को अधिक से अधिक करने के लिए कार्य करते हैं।

● राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा राजनीति का आर्थिक विश्लेषण

लोग चयन का उपागम विशेष क्रियापद्धति पर आधारित है। यह राजनीतिक प्रक्रियाओं व संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए अर्थशास्त्र की अवधारणाओं व विश्लेषणात्मक उपागमों को लागू करने का प्रयास करता है। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि व आर्थिक घटनाएँ अथवा शक्तियाँ या प्रक्रियाएँ राजनीतिक घटनाओं व कार्यकलापों को प्रभावित करती हैं बल्कि ये सार्वजनिक क्षेत्र में क्रियापद्धति व राजनीतिक प्रक्रिया व निर्णयन का अध्ययन करने के लिए अर्थशास्त्र के साधनों का उल्लेख करती है। लोग चयन प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जिनके द्वारा लोग राजनीतिक क्षेत्र में वरीयताएँ तथा चयनों का उल्लेख करते हैं। इसका आग्रह है कि समाजविज्ञानी जो राजनीतिक क्षेत्र में वरीयताएँ तथा चयनों का उल्लेख करते हैं। उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि राजनेता व नौकरशाह उपकार के कारण कार्य करते हैं या उनके दिमाग में 'सार्वजनिक हित' रहता है। बल्कि जब राजनेता व नौकरशाह निर्णय लेते हैं तथा कार्रवाई करते हैं तो उनके दिमागों में स्वहित सबसे ऊपर होता है। राजनेता वही कार्रवाई करने की सोचते हैं जिनमें उन्हें दुबारा चुने जाने अथवा चुनाव के लिए पार्टी टिकट लेने मे मदद मिलती है। इसी प्रकार, एक नौकरशाह जब कार्रवाई करता है तो वह अपने भविष्य के लिए पदोन्नति तथा अपने स्तर में वृद्धि प्राप्त करना चाहता है। लोग चयन के अनुसार हम राजनेताओं व नौकरशाहों के अभिप्रेरणों की किसी भी कल्पना प्रधान धारणा को छोड़ देते हैं तथा एक यर्थार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं।

आर्थिक उपागम का प्रयोग करके राजनीति का विश्लेषण करने में बुनियादी विचार है—व्यक्ति के बजाय श्रेणी के रूप में समूह के अध्ययन अर्थहीन हैं व विवेकपूर्ण चयन परिप्रेक्ष्य की बजाए सार्वजनिक हित का प्रयोग करके राजनीतिक अध्ययन भ्रामक है।

सरकार दो अर्थों में आर्थिक संस्थान है। यह एक ऐसा उपकरण है जिसके माध्यम से लोग कुछ उद्देश्यों को पूरा करते हैं। दूसरे, यह व्यक्तियों में सौदेबाजी व आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। सरकारें न केवल विनिमय प्रक्रिया के लिए पक्षकर (Parties) हैं बल्कि विनिमय प्रक्रिया का परिणाम भी हैं।

सरकार करार पर आधारित सामूहिक चयन का *उत्पाद* (प्रतिफल) है जो सामाजिक वांछनीयता (Social Desirability) का संकेत है लोग चयन सिद्धांतवादियों के अनुसार, अर्थशास्त्रियों को अधिकतम उपागत (Maximization Approach), संसाधन आबंटन और न्यूनता के प्रतिमान (Paradigm) से दूर रहना चाहिए व विनिमय प्रतिफल पर बल देना चाहिए। लोग चयन सिद्धांतवादी इस 'विनिमय' प्रतिमान को राजनीतिक अथवा लोग चयन नीति के क्षेत्र तक विस्तार करना चाहते हैं।

इसका अर्थ है कि 'अर्थव्यवस्था' व 'राज्यव्यवस्था' के बीच छोर धुंधले हो जाते हैं। एक बार यह उपागम अपनाने के बाद, राजनीतिक निर्णयन करने वाली संस्थाओं का उसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है जिस प्रकार आर्थिक संस्थाओं का किया जाता है जैसा कि एडम स्मिथ ने बताया है कि यह दावा वस्तु-विनिमय करने वाला व विनिमय अथवा व्यावसायिक लेन-देन तक सीमित नहीं है बल्कि मानव अंत:क्रिया के लगभग सभी क्षेत्रों में मौजूद है। इस प्रकार राजनीति का यह दृष्टिकोण लोक चयन राजनीति को विनिमय के रूप में लेता है।

एक मानव सिद्धांत जो विनिमय प्रतिमान से निकला है वह यह है कि यदि वह स्वैच्छिक विनिमय जिसमें सहमति निहित होती है, यदि उसके लिए दबाव दिया जाता है तो सहमति प्रदान करने वाले व्यक्तियों में स्वैच्छिक विनिमय को वरीयता दी जानी चाहिए। यही कारण है कि लोक चयन सिद्धांतवादी बाज़ार संबंधों के मुखर समर्थक हैं। आदर्श रूप में बाज़ार न केवल एक दक्ष आर्थिक संस्था है जो संवृद्धि व समृद्धि को बढ़ाता है बल्कि स्वैच्छिक विनिमय प्रक्रिया है जो बाज़ार का आधार है व किसी भी क्षेत्र में मानव स्वतंत्रता का सबसे अच्छी तरह आश्वासन प्रदान करती है तथा बल प्रयोग से बचाव करती है।

बाज़ार तथा सरकार की असफलता

आइए, मानक अर्थव्यवस्था की उन कुछ अवधारणाओं का अवलोकन करें जिसका प्रयोग लोक चयन द्वारा किया जाता है तथा उस मानक अर्थव्यवस्था का इस्तेमाल लोक चयन विश्लेषण में किया जाता है। मानक अर्थव्यवस्था के अनुसार कुछ अवधारणाओं को पूरा किया जाता है तथा लोग एक-दूसरे के साथ स्वैच्छिक विनिमय में प्रवेश करते हैं अथवा प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपना निजी हित साधता है और सुनिश्चित करता है कि प्रतियोगी बाज़ार संसाधनों का आबंटन करने के लिए सबसे दक्ष संस्थाएँ हैं। इस प्रकार पेरेटो की आशावादिता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी जिसका अर्थ है कि किसी को भी बेहतर नहीं बनाया जा सकता जब तक उसी समय में किसी अन्य को बुरा न बना दिया जाए। अर्थशास्त्री व समाजशास्त्री विल्फ्रेडो पेरेटो (Vilfredo Pareto) का यह कथन है। कीमत प्रणाली (Price System) संसाधन आबंटन का ध्यान रखेगी। मानक अर्थशास्त्र में प्रतियोगिता की अवधारणा जब प्रतियोगी बाज़ारों की बात नियंत्रण कर पाने में सफल होता है और न ही इसे संचालित कर पाता है। प्रतियोगिता इतनी गंभीर होती है कि मूल्य धिारित करने में किसी के पास शक्ति नहीं होती जोकि व्यक्ति अथवा संस्था के लिए अतिरिक्त लाभ की गारंटी है। हर व्यक्ति एक जैसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ बेचता है और विक्रेता आसानी से बाज़ार में प्रवेश कर सकते हैं तथा उसे छोड़ सकते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ है वह स्थिति जहाँ विरोधात्मक रूप से कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के पास समान शक्ति है तथा उसकी कमी है। ''बड़ा-व्यापार'' यहाँ अनुपस्थित रहता है।

इस प्रकार की पूर्ण प्रतियोगिता जिसमें सार्वजनिक माल मौजूद नहीं होता, वर्धमान प्रतिफल अनुमाप (Increasing Returns to Scale) की अनुपस्थिति तथा बाह्यताओं के अभाव को परंपरागत रूप से एक ऐसा मामला माना गया है, जहाँ बाज़ार कुशलतापूर्वक कार्य करते हैं और इन दशाओं से किसी भी प्रकार हटना *बाज़ार की असफलता* (Market Failure) कहलाता है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि बाज़ार सफलता के लिए सैद्धांतिक शर्तें कठोर हैं अथवा बहुत कम ही असली दुनिया में पाई जाती हैं। बाज़ार की असफलता के मामले सर्वव्यापक होंगे। इस प्रकार जब कभी सार्वजनिक वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं तथा एकाधिकारवादी दशाएँ मौजूद होती हैं तब बाज़ार की असफलता की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बाद में, ऐसी स्थितियाँ बाज़ार में जब विभिन्न अभिकारकों के पास बाज़ार मापकों (Market Parameters) के बारे में असमान जानकारी होती है तथा अपूर्ण जानकारी होती है जब बाज़ार असफलता की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। नव-क्लासिकी अर्थव्यवस्था की योजना में सरकार को कानूनी ढाँचे और संपदा अधिकारों को बनाए रखने के अतिरिक्त एक भूमिका निभानी है।

लोक चयन सिद्धांतवादियों व कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने दृढ़तापूर्वक तर्क प्रस्तुत किया है कि बाज़ार असफलता के मौजूद रहने का अर्थ यह नहीं है कि सरकार आर्थिक उत्पादन और व्यवस्था में भाग लेने का एक अच्छा कार्य करेगी। इससे सरकार के हस्तक्षेप का मामला स्वयं नहीं बनता। सरकार व्यवस्था में अकुशल हो सकती है, अधिक खर्च कर सकती है व हो सकता है कि यह लागत सीमाओं पर ध्यान न दे। सरकार भी असफल हो सकती है। वह स्थिति जहाँ सरकार व्यवस्था में अकुशलता (अदक्षता) प्रदर्शित करती है, उस स्थिति को सरकार की असफलता कहा गया है।

यह देखा जाना चाहिए कि सरकार की असफलता का मामला यह नही बताता कि सरकारें सहज रूप से खराब होती हैं व बाज़ार सहज रूप से अच्छे होते हैं। इसका अर्थ है कि उन दशाओं को स्वीकार करना जिनके अंतर्गत कहा जाता है कि बाज़ार असफल हो गए हैं, यह क्या गारंटी है कि वास्तविक विश्व की सरकार अधिक दक्ष होगी अथवा स्वत: ही सामाजिक कल्याण को बढ़ाएगी। सरकार की असफलता का सिद्धांत कुछ आदर्श अथवा इनके सैद्धांतिक निरूपर के बजाए वास्तविक सरकारों व अधिकारियों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए लोक चयन सिद्धांतवादियों के बार-बार दिए जाने वाले तर्क का एक भाग है। लोक चयन सिद्धांतवादियों

न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संविदा (Social Contract) को विकसित करने के लिए व्यक्तियों के बीच स्वैच्छिक विनिमय के परिणाम के रूप में उत्पन्न होती है। सहमति और सर्वसम्मति मूल रूप से महत्वपूर्ण हैं।

लोक चयन सिद्धांतवादियों ने सामूहिक चयन पर प्रतिपादित किया है कि समाजों में सामूहिक निर्णय किस प्रकार लिए जाते हैं। लोग प्राय: अपनी रणनीतियों को कुछ संभावित लाभ प्राप्त करने तथा इस पर बल देते हैं कुछ उद्देश्यों को पूरा करने के लिए समन्वित करने की आवश्यकता महसूस करते हैं। मेन्कर ओल्सन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह जानकारी देने का प्रयास किया कि सामूहिक तथा समूह कार्रवाई अत्यंत सफल न होने की संभावना होती है विशेषकर तब जब समूह का आकार बड़ा हो। उनका बुनियादी विचार यह है कि सार्वजनिक हित एक सार्वजनिक वस्तु है और जिसका लोग निशुल्क प्रयोग करेंगे अर्थात् कोई क़ीमत दिए बगैर लाभ प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। जितना बड़ा समूह होगा, व्यक्ति को उतना ही कम लाभ मिलेगा। अत: उद्देश्य की विशेष पूर्ति के लिए अपेक्षित किसी व्यक्ति की समूह कार्यकलाप में भाग लेने की कम संभावना होती है। अत: जितना छोटा समूह होता है, उतनी ही समूह कार्यकलाप सफल होने की अधिक संभावना होती है। लोक चयन सिद्धांतवादी देखते हैं कि अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक हित पर विशेष समूहों का खतरा हावी रहता है। अनेक मामलों में लाबियाँ और दबाव समूह संगठित हो जाते हैं व आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं जो सामाजिक दृष्टिकोण से कार्यकुशल नहीं होती व जिसकी कीमत असंगठित लोगों को चुकानी पड़ती है। जब सार्वजनिक हित समूह तथा लाबियाँ होती हैं तो परिणाम अनुचित होने के साथ-साथ अनुकूल नहीं होता। लोगों को साथ आने में कठिनाई होती है व वे पेरेटो समाधान खोजते हैं क्योंकि सार्वजनिक हित सार्वजनिक भलाई (वस्तु) है और स्वाभाविक है कि निजी रूप से उत्पादित वस्तु की कम आपूर्ति होगी।

सामाजिक चयन तथा मतदान

लोक चयन पद्धति का एक प्रमुख आधार मतदाताओं के लिए प्रोत्साहन की कमी है जिससे वे सरकार पर कारगर ढंग से निगरानी नहीं रख पाते। एंथनी डाउन्स ने अपनी पूर्व की लोक चयन की एक पुस्तक, *''एन इकॉनामिक थ्योरी ऑफ डेमोक्रेसी'' (An Economic Theory of Democracy)* में उल्लेख किया है कि मतदाता राजनीतिक मुद्दों के प्रति बहुत अधिक अनजान है व उसकी यह अज्ञानता सही है। यद्यपि चुनाव का परिणाम अत्यंत महत्वपूर्ण हो सकता है, फिर भी व्यक्ति का मत चुनाव का फैसला करता है। इस प्रकार सोच-समझकर वोट डालने का प्रत्यक्ष प्रभाव लगभग नगण्य होता है। मतदाता के पास वास्तव में चुनाव के परिणाम को निर्धारित करने का कोई अवसर नहीं होता। अत: मुद्दों का अनुसरण करना मतदाता के लिए वैयक्तिक रूप से उचित नहीं है। इस दावे के लिए प्रमाण इस तथ्य में पाया जाता है कि जनमत अभिगणना (Public Opinion Polls) लगातार पाते हैं कि कुल मतमान आयु के आधे से भी कम अमेरिकी अपने कांग्रेस के प्रतिनिधि का नाम ले सकते हैं।

लोक चयन के अर्थशास्त्री कहते हैं कि अनजान रहने का यह प्रोत्साहन निजी क्षेत्र में बहुत कम मिलता है। कोई व्यक्ति जिस वाहन को चुनता है, वह उस वाहन के बारे में पूरी तरह जानना चाहता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वाहन को खरीदने वाले व्यक्ति का चयन (पसंद) निर्णय पर आधारित है क्योंकि उसने जो पसंद किया है, वह उसका मूल्य देता/देती है। यदि चयन बुद्धिमत्तापूर्ण है तो क्रेता को लाभ होगा। यदि यह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है तो क्रेता को प्रत्यक्षत: हानि सहन करनी होगी। मतदान में इस प्रकार के प्रत्यक्ष परिणाम की कमी होती है। अत: अधिकांश मतदाता उन लोगों की स्थितियों के बारे में नहीं जानते जिनके लिए वे मतदान करते हैं। कुछ अधिक प्रचारित मुद्दों को छोड़कर वे उन पर बहुत ध्यान नहीं देते जो विधायी निकाय (Legislature Bodies) करते हैं व जब वे ध्यान देते हैं, तो उन्हें मुद्दों को समझने के लिए जिस बुनियादी ज्ञान तथा

विश्लेषणात्मक कौशल की ज़रुरत पड़ती है, उन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पास बहुत कम प्रोत्साहन होता है। लोक चयन सिद्धांतवादियों ने मतदान सिद्धांत में भी अपना योगदान दिया है अर्थात् वरीयता (Single-peaked Preference), मध्यम मतदाता परिकल्पना (Median Voter Hypothesis), मत व्यापार (Vote Trading), रणनीतिक (Strategic) व गलत मतदान (Insincere Voting) आदि।

● लोक चयन का प्रयोग करते हुए नौकरशाही तथा प्रशासन का विश्लेषण करना

अब आप सामान्य तौर पर राजनीतिक संस्थाओं व प्रकियाओं से परिचित हो चुके हैं। लोक चयन किस प्रकार विशेष तौर पर नौकरशाही व प्रशासन से किस प्रकार संबंधित है, हम इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे। लोक चयन उपागम नौकरशाही व सरकार के प्रशासन की कार्य शैली पर जाँच करने व विमर्श का एक नवीन उपागम है। लगभग 1965 तक नौकरशाही पर विद्वतापूर्ण कार्य वेबर (Weber) तथा विल्सन (Wilson) के विचार को लेकर किया गया था यद्यपि साइमन (Simon) ने अन्य विषयों सहित नौकरशाहों की कार्यशैली का अध्ययन करने के लिए निर्णयन के सिद्धांत का प्रयोग किया। उन्होंने परिबद्ध-तार्किकता (Bounded-rationality) तथा संतोषजनक निर्णयन (Satisfactory Decision) का विचार प्रस्तुत किया (आप इसे पिछली इकाई में पढ़ चुके हैं)। 1965 में गार्डेन टुलॉक ने अपनी पुस्तक *''पॉलिटिक्स ऑफ ब्यूरोक्रेसी'' (Politics of Bureaucracy)* प्रकाशित की। इस पुस्तक ने नौकरशाही को विश्लेषण पर लोक चयन ढाँचे के अंतर्गत कार्य की शुरुआत को महत्व दिया। उस समय तक लोक चयन साहित्य प्रातिनिधिक सरकार (Representative Government) व सामान्य तौर पर राज्य के माडलों का विश्लेषण करने और उन्हें विकसित करने के कार्य में व्यस्त था।

ब्यूरो का कार्यसंचालन

नौकरशाही के कार्य तथा भूमिका की जानकारी के संबंध में कहा जा सकता है कि ब्यूरो (Bureaux) सार्वजनिक वस्तुएँ व सार्वजनिक सेवाएँ प्रदान करने की गतिविधि में संलग्न है क्योंकि नौकरशाही द्वारा प्रदान की जाने वाली वस्तुएँ तथा सेवाएँ बेची नहीं जाती हैं, इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया बाज़ार प्रक्रिया का स्थान ले लेती है। लोक चयन उपागम की धारणा है कि यद्यपि राजनीतिक प्रक्रिया की संरचना बाज़ार-आधारित अंत:क्रिया की प्रक्रिया से पूरी तरह अलग है फिर भी राजनीतिक क्षेत्र में अभिकर्ताओं (Actors) के अभिप्रेरण व व्यवहार बाज़ार स्थल में अभिकर्ताओं के अत्यंत समान हैं। दूसरे शब्दों में व्यापारियों, उद्यमियों व आपूर्तिकर्ताओं का व्यवहार स्वहित द्वारा अभिप्रेरित होता है जबकि नौकरशाहों, प्रशासकों तथा राजनेताओं का व्यवहार जनहित द्वारा अभिप्रेरित होता है जोकि गलत है।

नौकरशाही पर लोक़ चयन साहित्य का विशेष कार्य निस्केनन (Niskanen) (1971) ने किया है। इस कार्य में बाद में लोक चयन परिप्रेक्ष्य से नौकरशाही पर अनेक योगदान किए गए। निस्केनन सिद्धांत एक विनिमय प्रतिमान में निहित है। यह बजट के लिए उत्पादन के विनिमय व्यक्तिगत ब्यूरो तथा सरकार के बीच की बात करता है। जो प्रासंगिक है वह यह भी है कि ब्यूरो में कार्य किस प्रकार आयोजित किया जाता है। निस्केनन अपने सिद्धांत को उस ढाँचे में निर्मित करता है जिसे अर्थशास्त्री एकाधिकार तथा वह स्थिति बताते हैं जहाँ उत्पाद का एकमात्र विक्रेता, उत्पाद के एकमात्र क्रेता का सामना कर रहा होता है। परिणामस्वरूप, दोनों के पास पर्याप्त शक्ति, नियंत्रण और सौदेबाज़ी की क्षमता है। उसके मॉडल में, सरकार ही नौकरशाही व सेवाओं की एकमात्र क्रेता होती है न कि आम जनता। ब्यूरो ही अपनी सेवाओं की विक्रेता होती है व सरकार ही ब्यूरो के 'उत्पादन' की एकमात्र क्रेता होती है। उत्पादन का यह विनिमय बजट के लिए होता है न कि प्रति इकाई मूल्य के लिए होता है। यहाँ पर निस्केनन इस सूत्र (रचना) का तार्किक चयन संबंधी पहलू प्रस्तुत करता है। किसी भी तार्किक चयन मॉडल में, अभिकर्ताओं से कुछ व्यवहारपरक कार्य की आशा की जाती है। इस

मॉडल में नौकरशाहों से उनके बजट को अधिकतम करने की अपेक्षा की जाती है। क्रेता की तरफ, सरकार का व्यवहार और वरीयता प्रातिनिधिक सरकार और बहुसंख्यक नियमों के उन परंपरागत मॉडलों से उत्पन्न होते हैं जो लोग चयन साहित्य में पहले से ही मौजूद थे। बाद के शोध पत्र में निस्केनन (1975) ने एक व बुनियादी अधिकतमकरण प्रयास जोड़ दिया जो बजट अधिकतमकरण को रेखांकित करता है। नौकरशाहों को उपयोगिता को अधिकतम करने वाला दर्शाया जाता है और उनकी उपयोगिता अपेक्षित पारिश्रमिक, संरक्षण, स्वविवेक की शक्ति, प्रबंध की सुगमता और वैचारिक कारकों पर निर्भर करती है। टुलोक (1965) व बुनियादी अधिकतमकरण प्रयास जोड़ दिया जो बजट अधिकतमकरण को रेखांकित करता है। नौकरशाहों को उपयोगिता को अधिकतम करने वाला दर्शाया जाता है और उनकी उपयोगिता अपेक्षित पारिश्रमिक, संरक्षण, स्वविवेक की शक्ति, प्रबंध की सुगमता और वैचारिक कारकों पर निर्भर करती है। टुलोक (1965) व डाउन्स (1967) ने इन कुछ बिंदुओं की तथा अप्रत्यक्ष संकेत किया था।

बाद में डनलीवी (Dunleavy) ने निस्केनन मॉडल का विस्तार किया जिसे ब्यूरो का आकार देने वाला मॉडल (Bureau Shaping Model) कहा जाता है। बुनियादी विस्तार यह है कि उच्च पद के नौकरशाह बजट के अधिकतमकरण पर बल देने के बजाए ग़ैर-आर्थिक लाभों पर अधिक बल देते हैं जैसा कि निस्केनन ने विचार व्यक्त किया था। इस प्रकार नौकरशाह अपने ब्यूरो को इस तरह आकार देते हैं जो उनकी ग़ैर-आर्थिक शक्ति और स्तर को बढ़ाते हैं। अत: निजी क्षेत्र की तुलना में लोक नौकरशाहियाँ सार्वजनिक व धन संबंधी लाभों पर अधिक दबाव (नियंत्रण) देती हैं।

सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रावधान

आप सोच रहे होंगे कि सार्वजनिक वस्तुएँ वे होती हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र अर्थात् राज्य द्वारा प्रदान की जाती हैं। यद्यपि यह कई मामलों में सही है परंतु ऐसा हमेशा नहीं होता। सरकार बड़े पैमाने पर सार्वजनिक वस्तुएँ प्रदान करती है। हम बाद में उन कारणों की चर्चा करेंगे। इस प्रकार की वस्तुएँ निजी क्षेत्र द्वारा भी प्रदान की जा सकती है। चाहे सार्वजनिक वस्तुएँ सरकार द्वारा तथा निजी क्षेत्र द्वारा प्रदान की जाती हैं फिर भी सार्वजनिक वस्तुओं की दो विशेषताएँ हैं। ये दो विशेषताएँ—**अप्रतिस्पर्धी उपभोग (Non-rival Consumption) और अनिष्कासन (Non-exclusion) हैं।**

अप्रतिस्पर्धी उपभोग

इस अवधारणा का अर्थ है कि किसी उपलब्ध वस्तु की निर्धारित मात्रा का किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग उस मात्रा को कम नहीं करता जो किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग किए जाने के लिए छोड़ दी जाती हैं। दूसरे शब्दों में, जब एक वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उस वस्तु की पहचान उपभोग में अप्रतिस्पर्धा से होती है। अनेक लोग इसका एक साथ उपभोग कर सकते हैं। एक उत्कृष्ट उदाहरण राष्ट्रीय सुरक्षा है। देश के एक नागरिक द्वारा 'उपभोग' की गई राष्ट्रीय सुरक्षा दूसरों के लिए इसकी मात्रा को नहीं छोड़ती। हाँ, यह सत्य है कि सीमावर्ती क्षेत्रों में रह रहे लोग बाहरी आक्रमण से अधिक खतरा महसूस कर सकते हैं; यद्यपि सैन्य सुरक्षा उपभोग में अप्रतिस्पर्धा की एक अच्छी विशेषता है। अन्य उदाहरण हैं—प्रदूषण नियंत्रण उपाय और अनेक सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम।

अनिष्कासन

यह सार्वजनिक वस्तु की दूसरी विशेषता है। अनिष्कासन को समझने के लिए हम निजी वस्तुओं का अवलोकन करते हैं जिनकी पहचान निष्कासन सिद्धांत द्वारा होती है और हम देखते हैं कि इसका क्या अर्थ है तब हम अनिष्कासन का अर्थ समझ सकते हैं। एक निजी वस्तु जैसे सेब को लीजिए। कल्पना कीजिए कि एक ही सेब है। यदि आप सेब खाते हैं तो आप इसे खाने से मुझे वंचित कर सकते हैं। दूसरी और अनिष्कासन की

विशेषता वाली किसी वस्तु के लिए कुछ लोगों तक वस्तु के लाभों को सीमित रखना या तो असंभव है तथा बहुत महंगा है। व्यक्ति वस्तु के उत्पादन से लाभ प्राप्त करेगा चाहे वह वस्तु के लिए कुछ अदा करता है अथवा नहीं।

उपभोग में अप्रतिस्पर्धा व अनिष्कासन के बीच सावधानीपूर्वक अंतर स्पष्ट करना ज़रुरी है। पहली अवधारणा से विचार स्पष्ट है कि एक व्यक्ति द्वारा उपभोग की गई मात्रा कम नहीं होती जो दूसरों के द्वारा उपभोग किए जाने के लिए छोड़ी जाती है। कोई वस्तु अप्रतिस्पर्धात्मक हो सकती है व हो सकता है कि कुछ लोगों को वस्तु का प्रयोग करने से वंचित होना पड़े। उत्कृष्ट उदाहरण केबल टेलीविजन प्रसारण का लिया जा सकता है। यदि कोई कार्यक्रम प्रसारित हो रहा है। तब एक व्यक्ति द्वारा देखे जाने से दूसरों के लिए अवसर कम नहीं होता। फिर भी यह संभव है कि कुछ लोग जिनकी पहुँच टेलीविजन सेट तथा कुछ चैनलों तक नहीं है या वे लोग जो चैनल के लिए अंशदान नहीं देते हैं कुछ कार्यक्रम देखने से वंचित रह जाएँ। याद रखें यहाँ पर उपभोग के लिए उपलब्ध मात्रा की कमी नहीं है। दूसरा उदाहरण थिएटर में सिनेमा का है। सिनेमा हाल में बैठा कोई एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से अधिक चल-चित्र नहीं देखता तथापि जो लोग टिकट के लिए भुगतान नहीं करते, उन्हें सिनेमा देखने से वंचित किया जा सकता है। अत: फिल्म एक वस्तु है जो अप्रतिस्पर्धात्मक है परंतु इससे लोगों को वंचित किया जा सकता है। वे वस्तुएँ जो उपभोग में अप्रतिस्पर्धात्मक है व उनकी अनिष्कासन की विशेषता है, इन्हें कभी-कभी विशुद्ध सार्वजनिक वस्तु कहा जाता है। विशुद्ध सार्वजनिक वस्तु का उदाहरण प्रकाश स्तंभ (Light House) है। जब दीप स्तंभ का प्रकाश चालू होता है तब निकटवर्ती जहाज (पोत) को इसे देखने से रोकना कठिन होता है तथा इससे इसे मार्गदर्शन मिलता है (अनिष्कासन की विशेषता)। परंतु एक पोत का प्रयोग दूसरों के लिए प्रकाश को कम नहीं करता जो अन्य पोतों के लिए छोड़ा जाता है अथवा अन्य शब्दों में, एक पोत का प्रयोग प्रकाश का प्रयोग करने के लिए अन्य पोड़ों की योग्यता (क्षमता) को प्रभावित नहीं करता है (अप्रतिस्पर्धात्मक विशेषता)। एक सार्वजनिक वस्तु बनने के लिए, उस वस्तु में कम-से-कम अप्रतिस्पर्धात्मक उपभोग होना चाहिए। ऊपर दिए गए उदाहरणों में, यद्यपि अप्रतिस्पर्धात्मक उपभोग है, वस्तुओं को बहिष्कृत (छोड़ा) किया सकता है।

क्लब वस्तुएँ, संकुलन (भीड़) तथा अशुद्ध सार्वजनिक वस्तुएँ

हम ऊपर बता चुके हैं कि विशुद्ध सार्वजनिक वस्तुओं की पहचान अप्रतिस्पर्धात्मक उपभोग व अनिष्कासन से होती है। हालाँकि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके लिए उपभोग अप्रतिस्पर्धात्मक होता है परंतु जहाँ निष्कासन लागू किया जा सकता है जैसे केबल टेलीविजन तथा सिनेमा थिएटर जिनके उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। इन वस्तुओं को कभी-कभी क्लब वस्तुएँ भी कहा जाता है। वास्तव में यह क्लब के सदस्यों के मामले में होता है जो इसमें शामिल हुए हैं व इस प्रकार यह अप्रतिस्पर्धात्मक उपभोग नहीं है जहाँ पर ग़ैर-सदस्य शामिल नहीं होते। वास्तविक क्लब के इस प्रकार के स्वरूप के कारण जो वस्तुएँ अप्रतिस्पर्धात्मक उपभोग की विशेषता रखती हैं तथा जिनमें निष्कासन की संभावनाएँ होती हैं, उन्हें कभी-कभी क्लब वस्तुएँ कहा जाता है।

अशुद्ध सार्वजनिक वस्तुओं की एक दूसरी श्रेणी होती है। वस्तुओं की इस श्रेणी में प्रतिस्पर्धात्मक उपभोग है परंतु इनके मामले में उपभोग में निष्कासन कार्यान्वित करना या तो अत्यंत कठिन है तथा अत्यंत कीमती है। एक भीड़भाड़ वाली सड़क एक अच्छा उदाहरण है। एक व्यक्ति वाहन चला रहा है परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों को वाहन चलाने से वंचित किया जाए परंतु एक व्यक्ति द्वारा सड़क पर लिया गया स्थान दूसरे व्यक्ति के लिए स्थान कम कर देता है—इस प्रकार सड़क के स्थान पर प्रयोग प्रतिस्पर्धात्मक वस्तु है। इसी तरह का एक उदाहरण समुद्र तट का है। लोग समुद्र तट का आनंद उठाने से दूसरों को वंचित नहीं कर सकते परंतु संभव है कि समुद्र तट पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध स्थान कम पड़ जाए। इस प्रकार समुद्र

तट का प्रतिस्पर्धात्मक उपभोग है। इन उदाहरणों से हम देखते हैं कि भीड़ के मामले कुछ अर्थों में क्लब वस्तुओं के विपरीत अशुद्ध सार्वजनिक वस्तुओं का दूसरा प्रकार है जो प्रतिस्पर्धात्मक उपभोग दर्शाता है परंतु नगेण्य निष्कासन दर्शाता है।

लोक चयन सिद्धांतवादी उन सार्वजनिक वस्तुओं की आपूर्ति का विश्लेषण प्रदान करते हैं जो शुद्ध सार्वजनिक वस्तुएँ नहीं हैं विशेषकर क्लब वस्तुएँ। वे सामूहिक कार्रवाई की हमारी जानकारी को बढ़ाते हैं वे सरकार की असफलता की संभावना के लिए एक विश्वसनीय मामला बनाते हैं व बताते हैं कि यह जैसा सोचा था उसके बजाए अधिक व्यापक था व विनियमन तथा किराया–जीवी के सिद्धांत में सशक्त जानकारी प्रदान करता है। नौकरशाही व राज्य के बढ़ते हुए खर्च पर लोक चयन सिद्धांत के विचारों के प्रभाव को इस तथ्य में देखा जा सकता है कि 1980 के दशक में ब्रिटेन में मारग्रेट थैचर से लेकर अनेक देशों ने न केवल ''राज्य को समेटना'' (Rolling Back the State) व सरकार का आकार छोटा करना (Downsizing the Government) जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग करने का प्रयास किया है बल्कि उन्हें वास्तव में लागू भी किया है। दूसरे शब्दों में निजी क्षेत्र के पास बड़ी भूमिका है परंतु राज्य व नौकरशाही तंत्र अनेक देशों में सिकुड़ गया है। लोक चयन का लोक प्रशासन के क्षेत्र में प्रमुख योदान इस तथ्य में है कि इसने नौकरशाही द्वारा संचालित शासन के बुनियादी आधार पर प्रश्न खड़ा किया है। कुल मिलाकर प्रमुख सिद्धांत का विश्वसनीय रूप से तर्क रहा है। कि राजनीति पर चर्चा किए बग़ैर आर्थिक नीति तथा लोक वित्त की बात करना व्यर्थ है। आखिरकार आर्थिक नीति को राजनेता बनाते हैं। प्रत्यक्ष प्रशासन में व सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण के माध्यम से जबकि निजी क्षेत्र का विस्तार हुआ है लेकिन राज्य क्षेत्र (सार्वजनिक क्षेत्र) (State Sector) छोटा हो गया है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में प्रयोग के लिए व्यापारिक प्रतिष्ठानों के प्रबंध निर्देशों व व्यवहारों को व्यापक रूप से अपनाया जाता रहा है। इसके साथ–साथ निजी सेवाएँ प्रदान करने वालों से सेवाएँ प्राप्त करने के साथ–साथ सरकारी उद्यमों द्वारा निजी प्रतिष्ठानों से बाहरी सेवाएँ प्राप्त करना बढ़ता जा रहा है।

किराया–जीवी कार्यकलाप

लोक चयन सिद्धांतवादी किराया–जीवी व प्रत्यक्ष अनुत्पादक लाभ चाहने वाले कार्यकलापों (Directly Unproductive Profit-seeking activities-DUPs) के बारे में बात करते हैं। प्रत्यक्ष अनुत्पादक लाभ चाहने वाले कार्यकलाप विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से लाभ अर्जित करने के साधन होते हैं जो सामाजिक मूल्य में कोई योगदान नहीं करते। वे वस्तुओं व सेवाओं का उत्पारन करते हैं जो उपयोगिता उपलब्ध नहीं कराती। प्रत्यक्ष रूप से अनुत्पादक लाभ चाहने वाले कार्यकलापों के विशिष्ट उदाहरण हैं—शुल्क दर कमाने वाली लॉबिंग (Tariff-seeking Lobbying), कृत्रिम एकाधिकार सृजित करना जिनसे किराया अर्जित होता है, यहाँ तक कि तस्करी अर्जित होती है। प्रत्यक्ष रूप से लाभ चाहने वाले कार्यकलापों के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि ये लाभ कमाने के लिए संसाधनों का प्रयोग करते हैं परंतु कोई भी उत्पादन नहीं करते। जगदीश भगवती व डी० एन० श्रीनिवासन जैसे कुछ सिद्धांतवादी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से अनुत्पादक लाभ चाहने वाले कार्यकलाप विशेष नीतियों के परिणाम के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं अथवा अनुकूल नीतियों को निर्मित करने को प्रभावित करने के लिए शुरु किए जाते हैं। पूर्व स्थिति के उदाहरणों के रूप में, हम विशेष हितार्थ समूहों को किसी नीति से लाभ प्राप्त करने के लिए एकत्र होता देख सकते हैं। इस श्रेणी के अंतर्गत दूसरे प्रकार का कार्यकलाप तस्करी है जो सीमाशुल्क संरक्षणवादी नीतियों (Protectionist Policies) के परिणामस्वरूप होती हैं। यह सब उच्च सीमा शुल्क के कारण है। दूसरी श्रेणी के उदाहरण के रूप में, हम मज़बूत औद्योगिक समूहों के बारे में सोच सकते हैं जो ऊँची शुल्क दरों व कोटा अथवा नीतियों के लिए लॉबी करते हैं। यह सब विदेशी प्रतियोगिता को हतोत्साहित करते हैं। प्रत्यक्ष अनुत्पादक लाभ चाहने वाले कार्यकलाप किराया–जीवी कार्यकलाप की सामान्य अवधारणा से जुड़े हुए हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. बहुलवाद की उत्पत्ति में सहायक तत्वों की उपस्थिति पर चर्चा कीजिए।
2. बहुलवादी शासन हेतु रॉबर्ट मैकाइवर के विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. सार्वजनिक विकल्प के परिक्षेप्य पर चर्चा कीजिए।

● सारांश

इस इकाई में नौकरशाही लोक प्रशासन के लोक चयन उपागम की जानकारी प्रस्तुत की है। यह एक ऐसा उपागम है जो बहुत अधिक प्रभावशाली रहा लोक चयन इकाई लोक प्रशासन व राजनीति के क्षेत्र में मानव व्यवहार के एक विशिष्ट पहलू पर प्रकाश डालती है जैसे वरीयता का प्रदर्शन और चयन का निर्धारण।

लोक चयन सिद्धांतवादियों का प्रमुख दावा है कि यह सोचना गलत है कि जब हम निजी क्षेत्र में निर्णयन की बात करते हैं तो हम जानते हैं कि लोग अपने-अपने हितों से नियंत्रित होते हैं, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र अथवा सरकार या सार्वजनिक प्रशासनिक अभिकरणों में निर्णयन सार्वजनिक हित अथवा सामाजिक हित से कुछ-कुछ नियंत्रित होता है। हालाँकि इन क्षेत्रों में निर्णय करने वाले लोग वही होते हैं और इस प्रकार वे उन्हीं अभिप्रेरणों से नियंत्रित होते हैं चाहे वे निजी क्षेत्र में निर्णय लेते हैं अथवा सरकारी क्षेत्र में निर्णय लेते हैं।

वे साधन जिनका प्रयोग नवक्लासिकीय अर्थशास्त्री बाज़ारों में निर्णयन का अध्ययन करने के लिए प्रयोग करते हैं, उन साधनों का प्रयोग सार्वजनिक अधिकार क्षेत्र में निर्णयन का अध्ययन करने के लिए लाभदायक ढंग से प्रयोग किया जा सकता है।

इस इकाई के अध्ययन के दौरान हमने तार्किकता की अवधारणा पर विचार करना शुरु किया था क्योंकि लोक चयन सिद्धांत मानता है कि निर्णयकर्ता तार्किक होते हैं। इस इकाई में क्रियापद्धति-व्यक्तिवाद के विचार का भी अध्ययन किया गया जो लोक चयन दर्शन का आधार है।

इकाई में निस्केनन के नौकरशाही सिद्धांत को स्पष्ट किया गया। सार्वजनिक वस्तुओं के विषय पर प्रकाश डाला गया। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक वस्तुएँ किस प्रकार प्रदान की जाती हैं तथा लोक चयन नौकरशाही की इन कार्रवाइयों का किस प्रकार विश्लेषण करता है, इस पर भी चर्चा की गई है और साथ ही किराया-जीवी कार्यकलाप और विनिमय के सिद्धांत के लिए लोक चयन उपागम की चर्चा की गई

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. बहुलवाद की विशेषताएँ बताइए।
2. क्रियापद्धति, व्यक्तिवाद व तार्किकता को समझाइए।
3. राजनीतिक अर्थव्यवस्था व राजनीति का आर्थिक विश्लेषण में सम्बन्ध को समझाइए।

●

इकाई-I

2

वैश्वीकरण, वैश्वीकरण व भूमण्डलीकरण को समझना
(UNDERSTANDING GLOBALIZATION, GLOCALISATION AND GLURBANISATION)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण)
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का सिद्धान्त व भूमण्डलीकरण
- वर्तमान भूमण्डलीकरण की विशेषताएँ
- भूमण्डलीकरण के आयाम
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगें—

- भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) को।
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का सिद्धान्त व भूमण्डलीकरण को।
- भूमण्डलीकरण के आयाम को।

● प्रस्तावना

इस इकाई का मूल उद्देश्य ''भूमण्डलीकरण'' शब्द को समझना है। इसकी विषयवस्तु क्या है, तथा इसका महत्व क्या है? इस जानकारी का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध में इसको लागू करने या इसके गुण-विवेचन करने के लिए किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध पर लिखी गई समकालीन रचनाओं में न केवल ''भूमण्डलीकरण'' का बार-बार प्रयोग किया जाता है, बल्कि कुछ विद्वानों का ऐसा मानना है कि ''भूमण्डलीकरण'' के प्रभाव को समझे बिना समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध का अध्ययन कर पाना संभव भी नहीं है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ''भूमण्डलीकरण'' शब्द का प्रयोग, सर्वप्रथम 1950 के दशक में, फ्रांस में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के साहित्य में किया गया। फ्रांसीसी (फ्रेंच) भाषा में भूमण्डलीकरण के लिए प्रयुक्त शब्द है *mondialisation*। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के साहित्य में ''भूमण्डलीकरण'' का प्रचलन हाल ही के वर्षों में उस समय हुआ जब अचानक सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तथाकथित क्रांति हुई। यद्यपि अब ''भूमण्डलीकरण'' शब्द का प्रयोग बड़े पैमाने पर हो रहा है, फिर भी इस विषय में अब भी आम सहमति नहीं बन पाई है कि यह विषय (या शब्द) वास्तव में किसका प्रतीक है। इस प्रकार यह शब्द जितना अधिक प्रचलित हो रहा है, उतना ही इसकी विषयवस्तु के बारे में विवाद चल रहा है।

● भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण)

इससे पूर्व कि हम इस पर दृष्टिपात करें कि भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) का वर्णन किस प्रकार किया गया है, यह जानना आवश्यक है कि भूमण्डलीकरण की प्रकृति क्या है। भूमण्डलीकरण की अनेक परिभाषाएँ हैं। उनको पढ़ने से ऐसा लगता है कि उनकी विषयवस्तु (प्रकरण) में अनेक विविधताएँ हैं।

कुछ लेखकों ने इसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत बताया है। उनके अनुसार ''भूमण्डलीकरण'' (वैश्वीकरण) ऐसी बहुमुखी घटना है जिसका प्रभाव मानव के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में पड़ रहा है। अन्य विद्वानों का विचार है कि यह अनेक घटनाओं का एक समूह है जोकि एक-दूसरे का साथ देते हैं, व जिसमें कोई भी एक पक्ष अन्य पक्षों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। उनके अनुसार, अनेक तत्त्व हैं जो कि आज भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को 'विशेष' बनाते हैं। यह अंतर या विशेषताएँ हैं—तीव्र गति की संचार व्यवस्था, बाज़ार का उदारीकरण तथा उत्पादों और सेवाओं का विश्वव्यापी एकीकरण।

कुछ अन्य लेखक कहते हैं कि भूमण्डलीकरण की एक विशेषता अन्य विशेषताओं को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में, वे भूमण्डलीकरण के संदर्भ को सीमित करती हैं। इस प्रकार के वर्णन प्राय: संचार प्रौद्योगिकी का विस्तार आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में करते हैं। फिर भी, वे भूमण्डलीकरण का आधार, या उसकी नींव, विश्वव्यापी संचार व्यवस्था में तलाश करते हैं। उनका विश्वास है कि संचार क्रांति ने यह संभव बना दिया है कि विचार, सूचना तथा सांस्कृतिक मूल्यों को राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं से परे विकसित किया जाए। इस प्रक्रिया में, इन परिवर्तनों ने विश्व भर में नवीन राजनीतिक और सामाजिक गतिशीता प्रदान की है।

कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो कि भूमण्डलीकरण की केवल आर्थिक विशेषताओं पर बल देते हैं। उनके अनुसार, भूमण्डलीकरण का अर्थ पूर्ण रूप से पारस्परिक सम्बद्ध विश्व बाज़ार (Interconnected world market) न होकर, संसार के विभिन्न देशों में व्यापार के उदारीकरण, पूँजी निवेश तथा सेवाओं की प्रचुरता के कारण बाज़ारों में सम्बंध स्थापित (interconnections of markets) करना भर होता है। भूमण्डलीकरण के इस उपागम में इस व्यवस्था को ''मुक्त बाज़ार पूँजीवाद'' का पर्याय मान लिया जाता है। इस उपागम के आलोचकों का कहना है कि भूमण्डलीकरण दो-आयामी (two-dimensional) है—एक, यह ऐसी शक्तिशाली प्रक्रिया है जो आर्थिक विकास को गति देती है, प्रौद्योगिकी का विस्तार करती है, तथा यह विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में जीवन स्तर को सुधारने में योगदान करता है; तथा दो, यह राष्ट्र-राज्य की सत्ता पर आघात करता है, स्थानीय संस्कृति तथा परम्परा में सेंध लगाता है तथा यह आर्थिक व सामाजिक स्थायित्व को भी 'धमकी' देता है।

भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) की अंतरतम विशेषताएँ

भूमण्डलीकरण शब्द में जो तत्त्व हैं उन सबके विस्तार को ऊपर दी गई विभिन्न परिभाषाएँ प्रतिबिम्बित करती हैं। भूमण्डलीकरण की विशेषताओं की इन विविधताओं के आधार पर, यह संभव है कि इस शब्द की पाँच प्रमुख विशेषताओं की पहचान की जा सके। वे हैं—

1. इस शब्द का उपयोग वर्णनात्मक रूप में अधिक किया गया है, न कि यथार्थ चित्रण के रूप में। यह किन्हीं वांछनीय या अवांछनीय उद्देश्यों का उल्लेख नहीं करता, जिन्हें स्वीकार किया जाए, या अस्वीकार। यह केवल कुछ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा प्रौद्योगिकी शक्तियों को दर्शाता है, जोकि हाल के समय में स्पष्ट रूप से विख्यात हुए हैं।

2. इस शब्द का उपयोग उपेक्षाकृत नया है, जबकि इससे सम्बद्ध घटना/घटनाएँ किसी भी प्रकार नवीन नहीं कही जा सकती। अतीत में भी ऐसी घटनाएँ (phenomena) घटी हैं जो कि भूमण्डलीकरण शब्द में समाहित हैं।

3. भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप जिन संस्थाओं का उदय हुआ है, वे सभी राष्ट्र-राज्य की शक्ति व सत्ता से बाहर हैं। यहाँ तक कि भूमंडलीकृत होते अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में, राष्ट्र-राज्य एक मात्र अभिकर्ता (actors) नहीं रह गए हैं (जैसा कि पहले था); अब अन्य अनेक अभिकर्ता भी हैं जो नई व्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इनमें ग़ैर-सरकारी संगठन (Non Govt Organisation), पर्यावरण-संबंधी आंदोलन, पारराष्ट्रीय निगम, जातीय राष्ट्रीयताएँ तथा बहु-राज्यीय अथवा क्षेत्रीय संगठन शामिल हैं।

4. ''भूमंडलीकृत'' विश्व में नए अभिकर्ताओं की भूमिका निरंतर बढ़ी है—शायद इसलिए कि आर्थिक, राजनीतिक व संचार अवसरंचनाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। इन व्यवस्थाओं (या जालों networks) ने राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं को खुला कर दिया है अथवा उनके आर-पार लोगों, वस्तुओं, सेवाओं, विचारों अथवा सूचनाओं का आवागमन अत्यंत सरल हो गया है।

5. भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों को अधिक विस्तृत बना दिया है, बल्कि वे अधिक सघन (एकोद्दिष्ट) भी हो गए हैं, क्योंकि अब न केवल अभिकर्ताओं की संख्या बढ़ी है अथवा विस्तृत व्यवस्था (ज़ाल) एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं, बल्कि अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इनमें से प्रत्येक जो दूसरों पर प्रभाव डालता है वह गुणवत्ता में पहले से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। विश्वव्यापी संचार व्यवस्था, बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पाद अथवा बड़ी संख्या में लोगों का संसार के एक भाग से दूसरे में आवागमन, इन सबने विश्व स्तर पर लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक नौबंध (moorings) को भी प्रभावित किया है।

ऊपर भूमण्डलीकरण की जिन विशेषताओं की व्याख्या की गई है, उनमें से प्रथम दो उस प्रक्रिया की पहचान करती हैं जो उत्तर (अनुक्रिया) की अपेक्षा करती हैं। तीसरी विशेषता इस बात पर बल देती है कि भूमंडलीकृत होती विश्व व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य अन्य अभिकर्ताओं के साथ विश्व मंच पर भागीदार के रूप में कार्य कर रहे हैं—उनका एकाधिकार समाप्त हो गया है। इस प्रकार आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध, पहले की अपेक्षा, कम राज्य-केन्द्रित रह गया है। चौथी व पाँचवीं विशेषताएँ यह संकेत देती हैं कि घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में किया जाने वाला अंतर अब उतना टिकाऊ नहीं रह गया है जितना पहले था।

समर्थकों का बोध (समर्थकों के तर्क)

भूमण्डलीकरण की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं इस विषय में अलग-अलग बोध, या धारणाएँ हैं, जिनके कारण इस प्रक्रिया पर तीव्र विवाद चल रहा है। इसके लाभ क्या हैं; तथा कमियाँ क्या हैं, इनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध का भविष्य में दिशा-निर्देश क्या होगा इस पर प्रत्यक्ष पड़ा है।

यह कहा जाता है कि भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) की प्रक्रिया ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध विषय के आधार के रूप में राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों के मध्य अंतर कम कर दिया है। इस विचार का कुछ लोग स्वागत करते हैं, अथवा कुछ विरोध। जो विद्वान भूमण्डलीकरण का स्वागत करते हैं उनका कहना है कि यह प्रक्रिया विश्व शांति, मानव सुरक्षा व आर्थिक सम्पन्नता को प्रोत्साहित करेगी। दूसरी व कुछ लेखक इन दावों को अस्वीकार करते हुए, यह तर्क देते हैं कि भूमण्डलीकरण, लोकतन्त्र, मानव स्वतन्त्रता अथवा मानव पहचान के लिए, बड़ा खतरा हो सकता है।

सामान्य तौर पर भूमण्डलीकरण के समर्थकों का दावा है कि संसार में एक ''सर्वदेशीय लोकतांत्रिक समुदाय'' (Cosmopolitan democratic community) का विकास हो रहा है। यह एक नया अन्तर्सम्बंधीय प्रतिमान है। परन्तु, उनके मध्य कुछ मतभेद भी हैं। उन विद्वानों में से कुछ बिना किसी हिचकिचाहट के भूमण्डलीकरण का समर्थन करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि अनेक ऐसी समस्याएँ जो कि भूमण्डलीकरण से उत्पन्न मानी जाती हैं, वे वास्तव में इसलिए उपजी हैं क्योंकि हमने संसार की वैश्वी (भूमंडली) प्रकृति को न पूरी तरह समझा है, व अपनाया है। उनके अनुसार, एक संस्था के रूप में, अपनी उत्पत्ति से ही, राष्ट्र-राज्य विश्व को शांति, मानव अधिकार अथवा खुशहाली न तो दे पाया है, और न उसे सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया है। ऐसी स्थिति में, मानव अधिकारों की अवहेलना, मानव के सम्मान व निर्धनता जैसी समस्याओं के निराकरण का प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा किया जा रहा है। इन संस्थाओं के सशक्तीकरण के लिए ताकि उनके पास पर्याप्त सत्ता व शक्ति है यह आवश्यक है कि विश्व सरकार की स्थापना की जाए, जो कि अपनी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए राष्ट्रीय सरकारों पर निर्भर तो रहें, परन्तु उन राज्यों पर अपनी कुछ सत्ता का प्रयोग अवश्य करें।

अपने तर्कों के समर्थन में, भूमण्डलीकरण के प्रशंसक मानते हैं कि संसाधन प्रबंधन तथा पर्यावरण की क्षति को रोकने में राष्ट्र-राज्य किस प्रकार विफल रहे हैं। वे इसकी तुलना इन समस्याओं के समाधान की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय या भूमंडलीय संस्थाओं के द्वारा उठाए जा रहे प्रभावी क़दमों से करते हैं।

इसके विपरीत, एक ऐसा वर्ग भी है जो भूमण्डलीकरण को ऐसा समर्थन देता है जिसे आँख बंद कर दिया समर्थन नहीं मान सकते। यह वर्ग जहाँ भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप हुए कुछ घटनाक्रमों का स्वागत करता है, वहीं कुछ अन्य को यह अस्वीकार भी करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि, यह वर्ग

भूमण्डलीकरण के वांछनीय तथा अवांछनीय परिणामों में अंतर करता है। परन्तु इन विचारों में यह स्पष्ट नहीं है कि भूमण्डलीकरण की कौन सी विशेषताएँ वांछनीय है, व कौन सी नहीं है। एक उद्योग तथा व्यापारिक संगठन, जिन्होंने मुक्त बाज़ार का इसलिए स्वागत किया है कि उपभोक्ताओं के समक्ष विकल्पों में वृद्धि हुई है व वस्तुओं के मूल्यों में कमी आई है, वे भी पूरी तरह, उन बहुराष्ट्रीय संधियों का समर्थन नहीं करते जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश के मानकों के अधीन बना देती है। दूसरी ओर वे श्रमिक संगठन जो यह माँग करते हैं कि, प्रगतिशील सामाजिक न्याय से सम्बंधित मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय समझौतों को मान्यता दी जाए व उन्हें अपनाया जाए, उनके द्वारा भी, निर्धन श्रमिकों की परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए विश्व बाज़ार की क्षमता की, निंदा की जाती है।

जो लोग भूमण्डलीकरण को सीमित रूप से समर्थन प्रदान करते हैं, उनकी चिंता का एक अन्य पक्ष भी है। उनका विचार है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया केवल वहीं तक ठीक है जहाँ तक यह राष्ट्र-राज्य नामक संस्था की जड़ों पर कुठाराघात नहीं करती। उनका विश्वास है कि राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिए राष्ट्र-राज्य का सशक्त रहना अनिवार्य है। राष्ट्र-राज्य के महत्व पर बल देते हुए भी वे यह कहते हैं कि, विश्व स्तर पर उभरने वाली समस्याओं के निदान के लिए, प्रत्येक राष्ट्र-राज्य को अन्य राष्ट्र-राज्यों के साथ मिलकर व उनके सहयोग से कार्य करना चाहिए। उनका यह भी विश्वास है कि भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) के फलस्वरूप एक भूमंडलीय नागरिक समाज का उदय होगा, जिसमें राष्ट्र-राज्य तथा ग़ैर-सरकारी संगठन (Non Govt Organisation) मिलकर एक ऐसी संरचना के अंगों के रूप में कार्य करेंगे जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संधियों तथा परम्पराओं से मान्यता प्राप्त होगी।

आलोचकों का बोध (आलोचकों के तर्क)

जो विद्वान भूमण्डलीकरण का पूर्ण समर्थन करते हैं, वे भी तथा जो कुछ शर्तों (या संकोच) के साथ इसका स्वागत करते हैं दोनों ऐसा मानते हैं कि इस प्रक्रिया ने, बाज़ारों को मुक्त करके अथवा राष्ट्र-राज्यों पर मानव सुरक्षा व सुख शांति के लिए दबाव डालकर, राष्ट्रीय समुदायों के लिए नई संभावनाओं के द्वार खोले हैं तथा उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। इनके विरोधियों का कहना है कि भूमण्डलीकरण एक गंभीर चिंता का विषय है। उनके अनुसार, भूमण्डलीकरण में अनेक खतरनाक तथा अनियंत्रित (अंकुशहीन) कार्यरत् हैं, जिन्होंने राष्ट्र-राज्य के मूलभूत अधिकारों, तथा उसके (राज्य के) द्वारा घरेलू अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक प्रबंधन को सुव्यवस्थित रूप से संचालन करने व अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाए रखने की क्षमता, शक्ति तथा सत्ता को कुंठित करके, राष्ट्रीय समुदायों को अशक्त कर दिया है। वास्तव में, उनका विचार है कि, भूमण्डलीकरण का परिणाम उसके बिल्कुल विपरीत हुआ है जिसकी बात इसके समर्थक करते हैं। उन्होंने तीन प्रमुख चिंताएँ व्यक्त की हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के लिए खतरा सिद्ध हो सकती हैं। वे हैं—

1. राष्ट्रीय आर्थिक हितों से समझौता;
2. राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता में कटौती; अथवा
3. राष्ट्रीय पहचान को क्षति।

राष्ट्रीय आर्थिक हित के साथ समझौता

वर्तमान भूमण्डलीकरण, जो कि मुख्य रूप से सूचना अथवा संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रांति का परिणाम है, उसने यह संभव बना दिया है कि पूँजी का प्रवाह राष्ट्रीय सीमाओं के पार हो सके। इसके फलस्वरूप पारराष्ट्रीय निगमों के लिए यह संभव हो सका है कि वे बहुराष्ट्रीय आधारों पर अपनी-अपनी संक्रियाएँ स्थापित करें, अथवा उन्हें इस योग्य बना सकें कि वे संसाधनों और गतिविधियों को एक देश से दूसरे देश भेज सकें। बढ़ते हुए आर्थिक भूमण्डलीकरण ने घरेलू अर्थव्यवस्थाओं को न केवल एक दूसरे पर निर्भर बना दिया है, किन्तु वे काफी हद तक पारराष्ट्रीय निगमों द्वारा किए जाने वाले पूँजी निवेश पर भी निर्भर हो गई हैं। आर्थिक पारस्परिक निर्भरता से केवल राज्यों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में ही वृद्धि नहीं हुई है। इस प्रक्रिया से एक या अनेक देशों में पूँजी जुटाकर अन्य देशों में उत्पाद-कार्य की सहायता की जाती है। यह भी है कि वस्तुओं के उत्पादन का कार्य अनेक देशों में हो सकता है।

जिस आसानी से पूँजी का भिन्न-भिन्न देशों में निवेश-विनिवेश हो रहा है उससे सकारात्मक लाभ भी हो रहा है व हानि भी। यदि एक देश से पूँजी को निकाल कर दूसरे देश में निवेश किया जाता है, जहाँ की अर्थव्यवस्था के निवेशकों को अधिक मुनाफा होगा, तब ऐसी स्थिति में प्रथम देश में हुआ निवेश निष्फल हो जाता है। इस प्रकार जो हानि होती है उससे न केवल अर्थव्यवस्था को धक्का लगता है जबकि देश की सरकार को भी राजस्व की हानि होती है। ऐसी परिस्थिति में उन देशों की सरकारों को विवश होकर सीमा शुल्क में भारी कटौती करनी पड़ती है, अथवा ऐसी आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है जो कि विदेशी पूँजी को आकर्षित कर सके—इसको ''अधोभाग के लिए होड़'' (race for the bottom) का नाम दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप, राष्ट्रों के मध्य व राष्ट्रीय समुदाय के भीतर भी, सम्पत्ति का असमान तथा असंतुलित विभाजन हो जाता है।

ऐसी विचित्र स्थिति में राष्ट्र-राज्य अपनी जनता के आर्थिक हितों की सुरक्षा ठीक से नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसे-जैसे देश के राजस्व में कमी होती है, वैसे-वैसे राज्य/सरकार की, अपने नागरिकों के स्वास्थ्य, कौशल व उनकी शिक्षा के सम्बंध में कल्याण कर सकने की शक्ति भी कम हो जाती है। इस प्रकार मानव संसाधन विकास को भी ठेस पहुँचती है।

राष्ट्रीय संप्रभुता में कमी

राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता के लिए भूमण्डलीकरण को इसलिए खतरा माना जाता है क्योंकि राष्ट्रों की सरकारों पर उन अन्तर्राष्ट्रीय संधियों अथवा समझौतों को लागू करने के लिए दबाव डाला जाता है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को प्रसन्नता होती है। इसके कारण राष्ट्रीय सरकारों को बहुराष्ट्रीय संधियों द्वारा, विभिन्न मुद्दों पर निर्धारित मानदंडों अथवा उनकी माँगों के सामने झुकना पड़ता है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा राष्ट्रों की सरकारों की छानबीन भी होती रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध की पारम्परिक व्याख्या के अनुसार, राष्ट्र-राज्य की केन्द्रीयता अथवा उनके राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों की संधियों पर बल देने पर आधारित है। संधियों पर विभिन्न देश अपने पारस्परिक हित व लाभ के लिए हस्ताक्षर करते हैं। अतीत में, संधियाँ राज्यों के बीच शांति स्थापना का कार्य करती थीं। उनका उद्देश्य राष्ट्र-राज्यों की घरेलू व्यवस्थाओं की जाँच करना नहीं था। राष्ट्र-राज्य केन्द्रित विश्व में संधियाँ संप्रभुता की रक्षा का साधन थीं। परन्तु, हाल के वर्षों में संधियों के प्रसार ने राष्ट्र-राज्यों के घरेलू क्षेत्राधिकार को आघात पहुँचाना आरंभ कर दिया है। राजनयिक सम्बंधों के नियमन के अतिरिक्त, आधुनिक संधियाँ राष्ट्र-राज्यों पर राजनीतिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय उत्तरदायित्व थोपती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संधियों व समझौतों की प्रकृति में परिवर्तन के कारण घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के मध्य का अंतर घूमिल पड़ गया है। इसके कारण राष्ट्रीय समुदायों को लोकतान्त्रिक घाटा सहन करना पड़ता है। लोकतान्त्रिक घाटे के द्वारा यह आरोप लगाया जाता है कि, संधियाँ लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकारों तथा उन देशों के जनसमुदायों के बीच की कड़ी को कमजोर कर रही हैं। ऐसा शक्तिशाली वित्तीय अथवा कूटनीतिक समुदायों के द्वारा किया जा रहा है, जिनके प्रति राष्ट्रीय सरकारें भी उत्तरदायी हैं। फिर भी, अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे कि विश्व व्यापार संगठन (WTO) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), जिनके प्रति राष्ट्रीय सरकारें आभारी हैं, वे वास्तव में लोकतांत्रिक संस्थाएँ नहीं हैं; क्योंकि उनका राष्ट्रीय समुदायों के द्वारा न तो निर्वाचन होता है, न वे उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।

राष्ट्रीय पहचान को क्षति

भूमण्डलीकरण जिन दो तरीकों से राष्ट्रीय पहचान पर दबाव डाल रहा है वे हैं, संसार में तीव्र गति से जनसाधारण का आवागमन अथवा विश्वव्यापी संचार व्यवस्था में हुई क्रांतिकारी प्रगति। जनसंख्या के आवागमन (या तीव्र गति के प्रवास) का एक कारण उत्तर के सम्पन्न देशों के उच्च जीवन स्तर तथा दक्षिण के निर्धन देशों के निचले जीव स्तर के बीच की खाई है। ''उत्तर'' में औद्योगिक एवं प्रौद्योगिकी दृष्टि से विकसित पाश्चात्य देश, तथा 'दक्षिण' में कम विकसित या विकासशील देश आते हैं। अब ऐसा विश्वास किया जाता है कि सम्पन्न ''उत्तर'' के देशों में पहचान का संकट उत्पन्न हो गया है क्योंकि वहाँ जाकर बसे (निर्धन देशों के)

लोगों, ने जातिवाद एवं जातीय हिंसा को बढ़ावा दिया है। परिणाम यह हुआ है कि 'उत्तर' के विकसित देशों की मान्य सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं विश्वास अथवा जीवन के स्पष्ट एवं उच्च स्तर थे, उन्हें अब विविध सांस्कृतिक विश्वासों व परम्पराओं के लोगों की तीव्र गति से बढ़ती संख्या में स्वीकार करना पड़ रहा है। उनमें प्राचीन एकल सांस्कृतिक पहचान के स्थान पर विविध सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के नागरिकों का समूह पनप रहा है। उनकी एकल पहचान संकट में पड़ रही है।

सूचना-संचार प्रौद्योगिकी में आई क्रान्ति ने भी एकरूपता नामक प्रक्रिया से सांस्कृतिक पहचान को क्षति पहुँचाई है। यह एकरूपता दोधारी तलवार है, क्योंकि इसका विपरीत प्रभाव ''उत्तर'' अथवा ''दक्षिण'' दोनों के देशों पर पड़ा है। इसीलिए संसार के दोनों भागों में आलोचक भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर चिंता व्यक्त कर रहे हैं।

● अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध का सिद्धान्त व भूमण्डलीकरण

भूमण्डलीकरण पर लिखे विशाल साहित्य के अध्ययन से पता लगता है कि इस विषय पर कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है कि इस प्रक्रिया की विषयवस्तु क्या है, व न इस बात पर आम सहमति है कि इस प्रक्रिया ने कितनी प्रगति की है, तथा किस दिशा में। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह एक अत्यंत विवादास्पद विषय है। यह विवाद अनेक मुद्दों पर है—इसकी परिभाषा तथा अर्थ, इसकी ऐतिहासिक विशेषता, इसके लाभ तथा कमियाँ, किस सीमा तक इसमें संगत तथा तार्किक प्रवृत्ति या अनेक विविध प्रवृत्तियाँ हैं; अथवा सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इसका राष्ट्र-राज्य की क्षमता और योग्यता पर क्या प्रभाव पड़ा है। स्पष्ट है कि इस बहुमुखी प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध की एक समीक्षात्मक व क्रियात्मक परिभाषा में सीमित नहीं किया जा सकता है। फिर भी यह आवश्यक है कि भूमण्डलीकरण व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त में स्पष्ट सम्बंध स्थापित किया जाए।

इस दिशा में प्रारंभिक कदम के रूप में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चाहे हमने अनेक विवादास्पद मुद्दों का उल्लेख किया है, तथापि यह उचित होगा कि एक सामान्य चिंता रेखा को सामने रखकर इसका विश्लेषण किया जाए। उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि इन चिंता रेखाओं का उन मुद्दों से सम्बंध है जिन पर परम्परागत रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त के अध्ययन में विवाद हुआ है।

इनमें से एक प्रश्न तो यह है कि क्या भूमण्डलीकरण के घटनाक्रम को केवल मात्र एक विचार के रूप में देखा जाए, या फिर एक सजातीय भौतिक तत्त्व के रूप में। अन्य शब्दों में क्या भूमण्डलीकरण का आरंभ प्रौद्योगिकी, संचार व्यवस्था, अर्थव्यवस्था जैसे भौतिक तत्त्वो से हुआ, तथा केवल इसी सीमा में इसको मापा अथवा पहचाना जा सकता है। या फिर इसकी पहचान इन भौतिक तत्वों की मानव समझदारी के द्वारा की जा सकती है। कुछ लोगों का विचार है कि इस प्रकार का कोई भेद संभव नहीं है। यदि ऐसा है, अर्थात् भूमण्डलीकरण का आधार भौतिक व सजातीय शक्तियों दोनों ही हैं, तब इसके सैद्धान्तिक पक्ष में दोनों पक्षों का समावेश होना चाहिए। इस उपागम के आधार पर, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के रचनात्मक विचारक कहते हैं कि इनमें से किसी भी तत्त्व की भूमण्डलीकरण अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध की समीक्षा में अनदेखी नहीं की जा सकती।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त के सम्बंध में विवेचन करते समय चिंता का एक तथा विषय आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में सम्बंध भी है। अर्थात्, क्या दोनों के सम्बंध आकस्मिक (casual) हैं, अर्थात् कोई एक दूसरे का अनुसरण मात्र करता है। क्योंकि कुछ लोगों का मानना है कि समकालीन आर्थिक भूमण्डलीकरण के द्वारा (उसके परिणामस्वरूप) राजनीतिक रूपांतरण किया गया, जबकि अन्य यह कहते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन आर्थिक प्रक्रिया से पूर्व होता है, व होना भी चाहिए। एक तीसरा विचार यह है कि दोनों विरोधात्मक रूप में सम्बद्ध हैं, क्योंकि राजनीति को सक्रिय आर्थिक भूमण्डलीकरण पर एक अंकुश का कार्य करना चाहिए। इन विशेषताओं का उल्लेख करना भूमण्डलीकरण को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त से सम्बद्ध करने में प्रासंगिक तथा अनिवार्य है। किन्तु क्योंकि भूमण्डलीकरण

के समर्थक व आलोचक दोनों ही केवल इस प्रक्रिया की व्याख्या मात्र करते हैं, किसी आम सहमति का प्रयास नहीं करते, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त तथा भूमण्डलीकरण के अध्ययन में कोई सम्बंध स्थापित करना कठिन कार्य है।

इसके अतिरिक्त, भूमण्डलीकरण के संदर्भ में कुछ अन्य सामान्य मुद्दे भी हैं जो इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त में कम उपयोगी बनाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भूमण्डलीकरण के समर्थकों में भी गंभीर मतभेद हैं। यह विवाद स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में मुख्य विकास अथवा मूल प्रगति के संदर्भ में भूमण्डलीकरण की प्रासंगिकता के बारे में हैं। उदाहरण के लिए, महाशक्तियों के शीत युद्ध की समाप्ति में भूमण्डलीकरण की भूमिका के विषय में भी परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि भूमण्डलीकरण शीत युद्ध की समाप्ति (के बाद) का परिणाम है, जबकि दूसरा विचार, या तर्क, है कि भूमण्डलीकरण आरंभ होने के फलस्वरूप शीत युद्ध का अंत हुआ। यह आकस्मिक धारणाएँ प्राय: संगत प्रतीत होती हैं, क्योंकि एक प्रकार से शीत युद्ध की समाप्ति ने भूमंडलीय शक्तियों को, उस समय तक जो समाज बंद थे, उनमें प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया। परन्तु, इसी तर्क को विपरीत दिशा भी दी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि भूमंडलीय शक्तियों के प्रवेश ने शीत युद्ध को समाप्त करवाने में प्रमुख भूमिका निभाई।

इस दुविधा के समाधान के लिए सिद्धान्तकारों का विचार है कि भूमण्डलीकरण को शीत युद्ध का कारण व परिणाम दोनों ही कहा जा सकता है। यह इस अर्थ में शीत युद्ध की समाप्ति का कारण बना कि इसने शीत युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य की भूमिका को कम कर दिया है। यह इस अर्थ में शीत युद्ध का परिणाम है कि शीत युद्ध के अंतकाल ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान की। इस विचार के अनुसार, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया एक ही समय में राष्ट्र-राज्य के स्तर तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्तर दोनों पर कार्यरत् थी। अत: उनका तर्क है कि यदि हम इस विचार को मान लें कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया दो स्तरों पर एक साथ चल रही थीं तब यह शीत युद्धोत्तर अनिरंतरता पर बल देता है, परन्तु यदि पहले विचार को स्वीकार किया जाए तो इससे अभिप्राय होगा निरंतरता (continuity)। क्योंकि यह दोनों ही शीत युद्धोत्तर काल की वास्तविकताएँ हैं, इसलिए इस तर्क के अनुसार भूमण्डलीकरण में परिवर्तन व निरंतरता दोनों का संगम है। शर्त यह है कि राष्ट्र-राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था दोनों में इसकी उपस्थिति को ध्यान में रखा जाए।

''भूमंडलीकृत'' राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध सिद्धान्त-निर्माण की ओर

भूमण्डलीकरण के वर्तमान् चरण में, जिसके मूल में सूचना प्रौद्योगिकी अथवा एक सशक्त वैश्वी अर्थव्यवस्था है, यह सरल कार्य नहीं है कि राष्ट्र-राज्य, भूमंडलीय अर्थव्यवस्था से अलग रह कर, अपनी अर्थव्यवस्था का कुशल संचालन कर सकें। किन्तु यह कोई नई बात नहीं है। जैसा कि संरचनावादियों का कहना है, राष्ट्र-राज्य की स्वतंत्र क्रियान्वयनता सदा से दबाव में आकर सीमित होती रही है। यही नहीं मार्क्सवादियों व निर्भरता सिद्धान्त के समर्थकों का सदैव से यही कहना रहा है, विकासशील देश जो कि विश्व की पूँजीवादी व्यवस्था की परिधि पर स्थित हैं, उनके लिए अपनी संप्रभुता का मुक्त उपयोग करना सदा ही एक समस्या रहा है।

यदि स्थिति ऐसी है तो फिर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के नए सिद्धान्त के निर्माण का क्या औचित्य है जिसमें भूमण्डलीकरण की नई प्रक्रिया को भी समाहित किया जाए। यहाँ पर हम को भूमण्डलीकरण के प्रभाव व पारस्परिक निर्भरता के प्रभाव को अलग-अलग करके देखना होगा। भूमण्डलीकरण के परिणाम पारस्परिक निर्भरता के परिणामों से भिन्न हैं। जहाँ पर पारस्परिक निर्भर विश्व व्यवस्था केवल मात्र संप्रभुता के स्वायत्तता तत्व पर आघात करती है, वहीं दूसरी ओर भूमण्डलीकरण संप्रभुता की मूल विशेषता, अर्थात् ''सत्ता'' को भी अस्थिर कर देता है। इस संदर्भ में, यह तर्क दिया जाता है कि न केवल भूमण्डलीकरण पारस्परिक निर्भरता (interdependence) से भिन्न है, बल्कि यह (भूमण्डलीकरण) तो संप्रभुता की पारस्परिक परिधियों पर मौलिक आघात है। यह संप्रभुता के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों रूपों में परिवर्तन का कारण है। यह भी है कि इसने संप्रभुता के दो तत्वों 'सत्ता' व 'स्वायत्तता' में नया समीकरण बनाया है।

संप्रभुता की अवधारणा व उसकी विषयवस्तु के लिए भूमण्डलीकरण जो चुनौती पेश करता है उसी से यह बात स्पष्ट हो जाती है। भूमण्डलीकरण ने न केवल संप्रभुता के क्षेत्रीय तत्त्व पर विपरीत प्रभाव डाला है, किन्तु उससे भी गंभीर बात यह है कि इसने संप्रभुता के ''पहचान'' व ''सत्ता'' दोनों तत्त्वों पर भी आघात किया है। भूमण्डलीकरण के इन अस्थिर करने वाले प्रभावों ने एक ऐसी नई स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसमें संप्रभु राज्यों के द्वारा किए गए 'निर्णय' वास्तव में उनकी इच्छा की अभिव्यक्ति प्रतीत नहीं होते। राष्ट्रीय सीमाएँ वास्तव में खुली (मुक्त) सीमाएँ बन गई हैं। राज्य में निहित असीमित सत्ता के पिघल जाने (dilute हो जाने) से संप्रभुता के 'पहचान' के तत्व की भी क्षति हुई है।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने सत्ता के नए जाल (व्यवस्था) को जन्म दिया। यह हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय विधाएँ जो कि विश्व सुरक्षा के सभी पक्षों में स्पष्ट वक्ता हैं व दृष्टिगोचर होती हैं। पिछले कुछ वर्षों में स्थापित कुछ प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विधाओं (regimes) का उल्लेख करना आवश्यक है। इनका सम्बंध मानव सुरक्षा के कुछ विशेष पक्षों से है, जैसे कि मानव अधिकार अथवा पर्यावरण संरक्षण इत्यादि। यह कहा जाता है कि नव विकसित मानक जिन्होंने इन अन्तर्राष्ट्रीय विधाओं का रूप ग्रहण किया है, उनको न तो संप्रभुता पर अंकुश के रूप में देखना चाहिए, और न उसके पतन की ओर संकेत के रूप में। वास्तव में वे तो उस विकास के प्रतीक हैं जिसको संप्रभुता महत्व देती है। अत:, भूमण्डलीकरण के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि संप्रभुता इस समय समायोजन के दौर से गुजर रही है, जिसमें इसके आंतरिक व बाह्य आयामों में समन्वय का प्रयास किया जा रहा है।

अतीत में जिस प्रकार संप्रभुता के औपचारिक अथवा ठोस तत्त्वों में तालमेल किया गया था, उसी प्रकार अब भूमण्डलीकरण के परिवेश में इसकी पुनर्रचना की जा रही है। इस प्रक्रिया में इसके व्यावहारिक व ठोस, तत्त्वों में भी कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यदि अतीत में ''सत्ता'' स्थायी या अपरिवर्तनीय रही, व ''नियंत्रण/क्षमता'' पक्ष ही परिवर्तनीय रहे, आज के भूमंडलीकृत राज्य में दोनों पक्ष ही परिवर्तनीय (variables) हो गए हैं। अत: जैसा कि कुछ समीक्षकों का तर्क है, हो सकता है संप्रभुता में मौलिक परिवर्तन हो रहे हों, किन्तु तो यह अप्रासंगिक हो रही है तथा न इसकी सत्ता को आघात पहुँचाया जा रहा है।

तो फिर इस (मौलिक) परिवर्तन के क्या संकेत हैं। उनको नई पहचान में पाया जा सकता है, या फिर कम प्रादेशिकता (less territorialised) या कभी-कभी सम्पूर्ण भूमिहीनता (de-territorialised) की परिस्थितियों में पाया जा सकता है। क्योंकि इसके ऐतिहासिक विकास के अधिकांश भाग में, राष्ट्र-राज्य ने अपनी प्रादेशिकता अथवा मूल कर्त्तव्यों-आर्थिक, राजनीतिक अथवा सुरक्षा के बीच निकट के सम्बंध स्थापित किए। अब वे सम्बंध (वह कड़ी) कम दुबले (less tenuous) हो गए हैं। इसके विपरीत, शीत युद्धोत्तर समय में, अपनी संप्रभुता का उपयोग करके, राज्य की वैधता, किसी निश्चित प्रदेश के साथ सम्बंधों से नहीं, किन्तु अपने नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों को सुनिश्चित करवाने के साथ अधिक सम्बद्ध हो गई हैं।

संप्रभु राज्य अब, आंतरिक व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में, नया रूप ग्रहण कर रहा है—ऐसा वह अपनी कुछ पारम्परिक क्षमताओं में कमी करके कर रहा है। आज का संप्रभु राज्य कुछ क्षमताओं को त्याग कर, कुछ नई क्षमताओं (सामर्थ्य) को प्राप्त कर रहा है। जहाँ यह अपने कुछ कर्त्तव्यों को अन्तर्राष्ट्रीय व पारराष्ट्रीय संस्थाओं को हस्तांतरण कर रहा है, वहीं दूसरी ओर यह इन संस्थाओं के प्रभावी क्रियान्वयन पर निगरानी की नई सत्ता व नए अधिकार प्राप्त कर रहा है। इसके फलस्वरूप संप्रभुता की विषयवस्तु अथवा उसकी औपचारिक धारणा में, भूमण्डलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया के परिवेश में, कुछ आमूल परिवर्तन अवश्य हो रहे हैं। इन नए आधारों पर कार्य करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के नए सिद्धान्त को विकसित करना संभव हो सकता है। यह नया सिद्धान्त भूमण्डलीकरण की समीक्षा और विवेचन के लिए स्वयं में समाहित कर सकता है।

विशेष

यह सही है कि समकालीन विश्व में शायद ही कोई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्षेत्र होगा जो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से अछूता हो। भूमण्डलीकरण विभिन्न सभाओं के भिन्न-भिन्न सहज गुणों के आदान-प्रदान के रूप में कोई नई दृश्यवरण नहीं है, बल्कि एक चालू प्रक्रिया है। भूमण्डलीकरण की वर्तमान

प्रक्रिया को जो पहले की प्रक्रियाओं से भिन्न और अलग बनाता है वह है इन अदल बदल प्रक्रियाओं की निरंतरता अथवा घनत्व में तीव्र वृद्धि। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तथा संवद्ध पहलुओं की वर्तमान गति के विषय में अधिक जानना आवश्यक है। इस खण्ड में हम भूमण्डलीकरण प्रक्रिया तथा विकास की अवधारणा पर उसके प्रभाव का अध्ययन कर सकेंगे। प्रस्तुत इकाई में भूमण्डलीकरण की अवधारणा तथा अभिलक्षणों व उसके विभिन्न आयामों पर चर्चा की गई है। इकाई के प्रथम भाग में भूमण्डलीकरण की नितान्त संकल्पना तथा इस संकल्पना को विभिन्न विद्वानों ने किस प्रकार परिभाषित किया है इस पर चर्चा की जाएगी। उसके उपरान्त इसमें भूमण्डलीकरण के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयामों पर अधिक विस्तार से चर्चा है। हर पहलू को सामान्य स्थिति के साथ-साथ भारतीय स्थिति के संबंध में भी विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

भूमण्डलीकरण का सरल अर्थ

नितान्त सरल शब्दों में भूमण्डलीकरण को बढ़ती भूमंडलीय अन्तर्सम्बद्धता के रूप में चित्रित किया जा सकता है। यह कोई परिणाम नहीं अपितु एक प्रक्रिया है, जो विश्व के भिन्न-भिन्न भागों बढ़ती अन्तर्संबद्धता की ओर झुकाव का इशारा करती है, न कि उनके परस्पर जुड़े होने की ओर। यह मुख्य रूप से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, प्रौद्योगिक सहजगुण का एक विनिमय है जो समाजों के बीच उस वक्त होता है जब वे एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं। यद्यपि यह विनिमय अतिपूर्वकाल से चल रहा है, इस प्रक्रिया को सर्वप्रथम ''भूमण्डलीकरण'' 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आस-पास कहा गया परन्तु इस विषय पर काफी साहित्य सत्तर के दशकांत तथा अस्सी के दशक से ही दृष्टिगत होने लगा था।

भूमण्डलीकरण का उल्लेख विश्व बाज़ार में आधुनिकीकरण की अवधारणा के रूप में मार्क्स तथा सेन्ट साइमन की वृत्तियों में भी मिलता है (केबल 1999)। कुछ विद्वानों का कहना है कि भूमण्डलीकरण की यह प्रक्रिया मानव जाति के उत्पन्न होने के समय से ही चल रही है तथा इसने सभी संस्कृतियों, दूरस्थ व पृथक को भी, हालांकि घटती बढ़ती मात्रा में, प्रभावित किया (ग्रिफ़िन 2004)। वर्तमान भूमण्डलीकरण उस प्रक्रिया से भिन्न है जिसे अतीत में मुख्यत: विनिमय की मात्रा तथा अन्तर्संबद्धता के रूप में देखा जा सकता था। आज हर चीज़ पूर्वकाल की तुलना में काफ़ी ज्यादा तेज़ी से होती है भूमण्डलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया जिसका वर्णन लोकप्रिय रूप से राष्ट्रों के बीच व्यापार निवेश हेतु अवरोधों के श्रमिक निरावरण के रूप में किया जाता है, 20वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में शुरु हुई। इसका लक्ष्य आर्थिक तथा सामाजिक विकास के वृहत्तर उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए प्रतिस्पर्धात्मकता के माध्यम से आर्थिक कुशलता लाना बताया जा सकता है। यह मानव जीवन के सभी पहलुओं को छूता है; चाहे वह आर्थिक हो, सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो, राजनीतिक हो अथवा पर्यावरण संबंधी।

वर्तमान भूमण्डलीकरण की सर्वाधिक सामान्य परिभाषा विश्व अर्थव्यवस्था से विभिन्न देशों के तेज़ी से जुड़ने का संकेत देती है। यह अधिकतर पूँजी उत्पादों तथा सूचना की एक अधिक अवध गति के परिणामस्वरूप जन्म लेता है, जो कि न सिर्फ अर्थव्यवस्था को परन्तु जैसा कि पहले भी कहा गया राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा पर्यावरण संबंधी रणक्षेत्रों को भी प्रभावित करता है। अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र आदि अनेक शास्त्र विधाएँ भूमण्डलीकरण की संकल्पना का विस्तृत वर्णन तथा परिभाषा करने के लिए विभिन्न मानदण्ड अपनाती हैं। एन्टॅनी गिडन, एक समाजशास्त्री ने भूमण्डलीकरण को विश्वव्यापी सामाजिक संबंधों के तीव्रीकरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके माध्यम से अधिक दूर के स्थान आपस में इस प्रकार जुड़ जाते हैं कि एक स्थान में होने वाली घटनाएँ मीलों दूर किसी अलग स्थान पर होने वाली प्रक्रिया से प्रभावित होती हैं तथा ये एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं (गिडन 2000)। डेविड हैन्डरसन (1999), एक अर्थशास्त्री, भूमण्डलीकरण को एक ऐसे दृष्टांत के रूप में लेते हैं जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय रूप से जुड़े हुए बाज़ार दो शर्तें पूरी करते हैं—(i) माल, सेवाओं, श्रम तथा पूँजी का निर्वाध संचलन निवेशों और उत्पादनों के लिहाज से एक सकल बाज़ार के रूप में सामने आता है, और (ii) विदेशी निवेशकों के साथ-साथ विदेशों में कार्यरत स्वदेशवासियों को भी पूर्ण राष्ट्रीय सम्मान दिया जाता है, जिससे आर्थिक रूप से

उन्हें विदेशी नहीं कहा जाता है। मेघनाद देसाई (2004) के अनुसार भूमण्डलीकरण दुनिया भर में भिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्थाओं का बढ़ना परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध तथा एकीकरण है।

किनाइची ओमी की उक्ति ''सीमाहीन संसार'' क्रांतिक प्रगति अथवा आधुनिकता के साथ-साथ परंपरागत राष्ट्र राज्य के दबावों से परे जीवन का भाव भी दर्शाती है, जो कि भूमण्डलीकरण विषयक अधिकांश लेखन को अनुप्राणित करती है (ओमी 1990)। तथा (1992) के अनुसार भूमण्डलीकरण अनिवार्दत: अन्तर्राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय, अपतरीय तथा भूमंडीय कार्यकलापों के तालमेल की ओर संकेत करता है और इसमें घरेलू से भूमंडीय की ओर व्यापक प्रगति शामिल होती है। मैल्कम वॉटर्स (1995) को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में लेते हैं जिसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं पर भूगोल के अवरोध पीछे हट जाते हैं व जिसमें लोग उत्तरोत्तर इस बात से भिज्ञ हो जाते हैं कि ये अवरोध दूर हो रहे हैं। उसके अनुसार भूमण्डलीकरण का महज अर्थ है वृहत्तर सुसंबद्धता तथा सीमाओं को तोड़ना। शोल्ते (1999) भी भूमण्डलीकरण को एक विसीमान्तीकरण प्रक्रिया अथवा भूमंडलीय संबंधों को अधिराष्ट्रीय मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार भूमण्डलीकरण का अनिवार्यत: अर्थ है मानव कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय व वाणिज्य, शासन प्रणाली एवम् वर्तमान कालीन नई संचार प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप गैर सरकारी, गुटबाज़ी (Lobbying) (गैलिगन व अन्य 2001) पीटर्स (2001)। वर्तमानकालीन भूमण्डलीकरण को त्वरित भूमण्डलीकरण कहते हैं। वर्तमान त्वरित भूमण्डलीकरण आपस में गुत्थी की प्रवृत्तियों का मिला जुला एक रूप है। उनके अनुसार वर्तमान त्वरति भूमण्डलीकरण एक पैकेज के रूप में प्रस्तुत होता है। जिसके साथ ही जुड़े होते हैं—(i) सूचनाबद्धीकरण अर्थात् सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकियों की भूमिका (ii) लचीलापन अपितु लचीले उत्पादन के लिए उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तन तथा (iii) राज्यों व क्षेत्रीयकरण का पुनर्विन्यास वह भूमण्डलीकरण की एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।

- विश्व के विभिन्न भागों की बढ़ती अन्तर्सबद्धता; उसे जागरुकता के रूप में देखते हैं
- बढ़ती अन्तर्सम्बद्धता को मान्यता भूमण्डलीकरण व्यक्तिपरकता के रूप में; तथा उसे परियोजना के रूप में भी देखते हैं (देखें बॉक्स 21.1)।
- भूमण्डलीकरण के विशिष्ट स्वरूपों का अनुसमर्थन व अनुशीलन अथवा भूमण्डलीकरण को एक विशिष्ट दिशा में संचालित तथा परिचालित करने का प्रयास करते हैं।

परियोजनाओं के रूप में भूमण्डलीकरण

भूमण्डलीकरण परियोजनाएँ	अभिकर्त्ता
	रणनीतिक विश्ववाद सुपर पॉवर पॉलिटिक्स, नाटो
संघबद्ध विश्ववाद	अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
	बहुराष्ट्रीय बैंक
	परराष्ट्रीय उद्यम
आर्थिक एव वित्तीय विश्व प्रबंधन	अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान
	विश्व व्यापार संगठन, जी-7
विकासात्मक विश्ववाद	विश्व बैंक संयुक्त राष्ट्र एजेन्सियाँ
	(यू० एन० डी० पी० इत्यादि)
परिस्थितिकीय विश्ववाद	यू० एन० सी० ई० डी०, विश्व पर्यावरण सुविधा
संचार माध्यम विश्ववाद	मीडिया इण्ड० सी० एन० एन०
नारी अधिकारवादी विश्ववाद	भगिनीत्व विश्वव्यापी है (नैरोबी, बीज़िंग, बैरो अधिवेशन)
श्रम विश्ववाद	आई० एल० ओ, मज़दूर संघ अन्तर्राष्ट्रीयवाद
इस्लामिक विश्ववाद	उल्लमा राजनीति

कैथोलिक विश्ववाद	बेरिकन (उदाहरणार्थ लूमन, 2000)
अखिलचर्ची विश्ववाद	अन्तधार्मिक बातचीत जैसा की विश्व चर्च परिषद में होता है
उपभोक्ता विश्ववाद (दैनिक विश्ववाद)	मैक डोनाल्डीकरण
प्रति विश्ववाद	स्थानीयवाद, नव संरक्षण वाद, नियोजन

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भूमण्डलीकरण एक बहुमुखी, बहुआयामी व वितक्षण दृश्यधरना है जिसका समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संबंधों की एक समग्र शृंखला पर अपना संभावित प्रभाव होता है। आइए, अब यह समझने का प्रयास करते हैं कि आखिर कौन-सी बात भूमण्डलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया को अतीत की प्रक्रिया से अलग पहचान देती है।

● वर्तमान भूमण्डलीकरण की विशेषताएँ

द्वितीय विश्वयुद्ध से ही अनेक देशों द्वारा एक आर्थिक बाज़ारोन्मुखी दृष्टिकोण का सुविवेचित रूप से अपनाया जाना तथा आर्थिक गतिविधियों का बढ़ा अन्तर्राष्ट्रीयकरण देखा जा सकता है। यह प्रवृत्ति अस्सी के दशक के आरंभ में महत्वपूर्ण रूप से बढ़ गई जब उद्योगीकृत देश, जैसे अमेरिका तथा इंग्लैंड ने आर्थिक कार्यकलापों के अधिक बाज़ार समन्वयन की ओर रुख किया। समाजवादी देशों द्वारा अपना अवस्थान्तर गमन पूँजीवाद की ओर करते हुए यह प्रवृत्ति नब्बे के दशक के आरंभ में अपनाई गई। इस अवधि में दुनिया भर में विकास के एक अलग मार्ग के रूप में निर्यातोन्मुखी विकास रणनीति तथा व्यापार उदारीकरण (इसके विषय में हम इस इकाई के परवर्ती भाग के अलावा इस खण्ड की आगामी इकाईयों में भी पढ़ेंगे) का विश्वव्यापी अंगीकरण देखा गया, जो कि या तो अपनी इच्छा से हुआ या फिर विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा बाध्य किए जाने से (पायकज एवं फ़ौरें 2002)। इससे भूमण्डलीकरण की गति काफ़ी हद तक बढ़ गई।

परिणामत: पूर्व दिनों के मुकाबले गत कुछ दशकों में विश्व उत्पादन में तीव्रतर वृद्धि हुई है। विश्व व्यापार विश्व उत्पादन की तुलना में महत्वपूर्ण रूप वहीं अधिक तेज़ी से बढ़ा है तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ अधिक उदार व अधिक गहन रूप से समेकित हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुकाबले वह भी तेज़ी से बढ़ा है। विचारों, प्रौद्योगिकियों तथा सांस्कृतिक सहज गुणों का आदान-प्रदान अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी से हो रहा है। समसामयिक भूमण्डलीकरण ने माल तथा सेवाओं के आदान-प्रदान को पहले से अधिक मात्रा में बढ़ाया एवं इसने पहले से कही अधिक किस्मों की चीज़ों के विनिमय की ओर प्रवृत्त किया। अनेक वस्तुएँ तथा सेवाएँ कभी व्यापार के दायरे में नहीं आती थीं अब वे विश्व व्यापार में नियमित प्रवेश पाती हैं। उदाहरण के लिए एक जापानी वास्तुकार फ्रांस में भवन निर्माण की अभिकल्पना कर सकता है; विपणन सेवाएँ भारत से अमेरिका तथा इंग्लैण्ड प्रेषित की जा सकती हैं, आदि। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकियों (ICTs) की उन्नति ने भौगोलिक दूरी को महत्वपूर्ण रूप से घटा दिया है। इण्टरनैट अथवा मोबाइल फोन जैसी प्रौद्योगिकियों ने लोगों के लिए तत्काल विश्व के किसी भी कोने में बातचीत करना संभव बना दिया है। इसने ज्ञान समाज (इसके विषय में अधिक हम खण्ड VII में पढ़ेंगे) की संवृद्धि तथा विकास को तेज़ कर दिया है।

विश्वव्यापी रूप से लोगों के काम की तलाश में प्रवसन तथा देशान्तरण की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। भूमण्डलीकरण के ताज़ा दौर में विश्व संगठनों की आपेक्षिक शक्ति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवम् विश्व बैंक के साथ-साथ **विश्व व्यापार संगठन (WTO)** एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जो विश्व व्यापार नियंत्रित करता है—भी अधिक शक्तिशाली हो गए हैं। दूसरी ओर, विश्व संस्थाएँ जिन्होंने अधिक मानव केंद्रित हितों पर ध्यान केंद्रित किया है, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) की स्थिति पृष्ठभूमि में चली गई तथा कमजोर हो गई। यह परिवर्तन विश्व स्तरीय परिवर्तन के कारण हुआ। (क्वाक् एवं ईस्कन, 2001)। अधिक शक्तिशाली संस्थाओं (IMF, WTO, विश्व बैंक)। ने अर्थव्यवस्थाओं में बाज़ारों के बढ़े प्रयोग तथा कम सरकारी हस्तक्षेप की ओर

अग्रसर किया है जिससे राष्ट्रीय सरकारों का नियंत्रण कम होने से व्यापार व पूँजी निवेश का मुक्त प्रवाह हो। विश्व संस्थाओं के शक्ति में यह बदलाव मानव जीवन के हर पहलू में प्रवर होता है।

भूमण्डलीकरण की चालू प्रक्रिया राष्ट्रीय नीतियों के वैश्वीकरण तथा राष्ट्रीय सरकारों की नीति निर्माण कार्ययोजनाओं में भी परिणत हुई है। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्रौद्योगिकीय क्षेत्रों समेत राष्ट्रीय नीतियाँ जो कि अब तक किसी देश स्थित राज्यों व लोगों के अधिकार क्षेत्र में होती थीं। उत्तरोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों तथा बड़े निजी निगमों के प्रभाव में आती जा रही हैं। इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बढ़ते दबाव के चलते राष्ट्रीय सरकारों को अपनी अर्थव्यवस्थाएँ पुनर्गठित करनी पड़ी जो कि मुक्त व्यापार में अधिक भारी प्रयास व सामाजिक क्षेत्र में कम व्यय की अपेक्षा करती है। उन्हें करों में वृद्धि करनी पड़ी अथवा फिर शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा, सफाई व्यवस्था, आवासीय परिदान, ईंधन सार्वजनिक वितरण प्रणालियों व परिवहन आदि सामाजिक क्षेत्रों पर खर्चों को घटाकर सरकारी व्यय को कम करना पड़ा था। राष्ट्रीय सरकारों को जन उपभोग की अनिवार्य वस्तुओं व जिन्सों पर प्रयोज्य लागू मूल्य प्रणाली को सभारत करना पड़ा था। भूमण्डलीकरण से जुड़ी बहिरंगताओं का भी पर्यावरण पर एक विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा, विश्व बुराइयों की एक नई श्रृंखला में जन्म लिया है, उदाहरण—भूतायन, ओज़ोन परत का अवक्षय आदि।

भारत में भूमण्डलीकरण प्रक्रिया को अतिरिक्त प्रेरणा उस वक्त मिली जब उससे अपनी अर्थव्यवस्था को एक बड़े संकट के चलते नब्बे के दशकारंभ में खोल दिया; यह संकट एक विदेशी मुद्रा संबंधी निर्णायक घटना के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को देय ऋणों का न चुका पाने की सीमा पर ला खड़ा किया। भारत ने एक नई आर्थिक नीति अपनाई जिसमें भूमण्डलीकरण उदारीकरण तथा निजीकरण संबंधी मूल सिद्धांत शामिल थे। भारत सरकार द्वारा अपनाई गई इन नवोदारवादी नीतियों के दो मुख्य घटक रहे हैं— भारत के निजी क्षेत्र का उदारीकरण व सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार। भूमण्डलीकरण ने आयात शुल्क तथा निर्यात प्रतिबंधों में कमी लाकर, विदेशी निवेशों को बढ़ावा देकर व विदेशी प्रौद्योगिकी तथा कौशलों के मुक्त प्रवाह की अनुमति देकर आदि उपायों से भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया गया। (बग्गी व अन्य 2001)।

बाह्य व्यापार से प्रतिबंधों को हटाने से वस्तुओं के संचलन पर कुछ आन्तरिक प्रतिबंध भी हट गई। इसके साथ ही वर्तमान सरकारी लाइसेंसिंग प्रणाली (लोकप्रिय रूप से जिसे लाइसेंस परमिट राज कहा जाता है) में भी काफ़ी ढील मिली। खासकर निजी प्रतिष्ठानों के साथ-साथ अनेक उत्पादों से प्रतिबंध हटा लिया गया। लाइसेंस परमिट राज अब बीते कल की बात हो गई। विदेश व्यापार महानिदेशक की भूमिका समाप्त प्राय: हो गयी है तथा विदेशी माल एवम् सेवाओं के मुक्त प्राय प्रवाह को अनुमति मिल गयी है। उर्वरक व कृषि को दिए जाने वाले परिदान बहुत ही कम तथा समाप्त ही कर देने पड़े। एक ज़ोरदार गिरावट गरीबी उन्मूलन योजनाओं तथा स्वास्थ्य व शिक्षा हेतु आबंटन में देखी गई। साथ ही न सिर्फ विश्वश्व्यापी रूप से उत्पादन का समेकन हुआ है। अपितु आन्तरिक रूप से देश के भीतर भी ऐसा ही हुआ। सार्वजनिक रूप से स्वत्वप्राप्त कम्पनियों का, राज्य अथवा समुदाय नियंत्रित संसाधनों का, अब तक आरक्षित रहे क्षेत्रों जैसे बैंकिंग व बीमा आदि का तेज़ी से निजीकरण होता देखा गया है (अधिक विस्तृत जानकारी के लिए इकाई 16 देखें)। श्रम संरक्षण का विनिमय हुआ है जिसने संविदा श्रमिकों की व्यापक संख्या में वृद्धि तथा उप-अनुबंधन की ओर प्रवृत्त किया है (सावविला एवं सिंहा, 2002)।

● भूमण्डलीकरण के आयाम

आर्थिक आयाम

यह मानव जीवन के सभी पहलुओं पर अपनी प्रभाव डालती है, भूमण्डलीकरण का आर्थिक आयाम दूसरों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण और दूरगामी है। आर्थिक भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर के सबसे महत्वपूर्ण आयाम हैं—राष्ट्रीय आर्थिक अवरोधों का दूर होना; व्यापारिक, वित्तीय तथा उत्पादन संबंधी गतिविधियों का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार, पारदर्शीय निगमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की बढ़ती शक्ति। यहाँ

इस पाठ के अंश में भूमण्डलीकरण के आर्थिक आयामों पर चर्चा उदारीकरण तथा निजीकरण के लिहाज से की जायेगी, साथ ही अन्य परिप्रेक्ष्य होंगे। व्यापार व सेवाओं का मुक्त प्रवाह, जिसमें शामिल हैं विश्व व्यापार संगठन का उद्गम तथा क्रियाशीलता, बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का पतन; विदेशी सीधा निवेश, जिसमें शामिल हैं वित्तीय बाज़ार का वैश्वीकरण, पारदर्शीय समेकित उत्पादन तथा बहुराष्ट्रीय एवं पारदर्शीय कम्पनियों की क्रियाशीलता; निवेश में उदारीकरण; विश्व अर्थव्यवस्था का विकास; अधिसंरचनात्मक विकास; सूचना तथा संचार प्रौद्योगिक्रियों (ICTs) का विकास; सेवाओं की बर्हिसूत्रण (outsourcing) व व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPs) है।

उदारीकरण

सामान्यतया उदारीकरण का अर्थ होता है प्रतिबंधों में छूट प्राय: सामाजिक तथा आर्थिक नीति के क्षेत्रों में। प्राय: ही यह शब्द आर्थिक उदारीकरण का अर्थ प्रदान करने के लिए प्रयोग किया जाता है, विशेष रूप से व्यापार उदारीकरण अथवा पूँजी बाज़ार उदारीकरण; इन नीतियों का उल्लेख प्राय: नव–उदारवाद के रूप में किया जाता है। भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर के साथ ही उत्पन्न नीति परिवेश में एक बड़ी नीति है आर्थिक नीति का उदारीकरण, शामिल था बाज़ारों का खुलना तथा माल व सेवाओं के उत्पादन पर स्वामित्व अथवा नियंत्रण के लिहाज से राष्ट्रीय सरकारों की घटती भूमिका है। यह ''उदारीकरण क्रांति'' उन अनेक कार्यकलापों की वैद्यता के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करती है जो कि आधुनिक (1914 के बाद) विश्व में राष्ट्र राज्य सरकारें किया करती थीं, जैसे राष्ट्रीकृत उद्योगों को चलाना, व्यापार विनिमय अथवा मूल्य निर्धारण तथा वांछित आधारभूत ढांचे एवं सार्वजनिक सेवाओं पर एकाधिकार (स्ट्रेंज, 1996)।

पश्चिमी देशों में नव–उदारवादियों द्वारा समर्थित मुक्त बाज़ार आर्थिक नीतियों, जिन्हें अस्सी के दशक में ब्रिटेन में मार्गरिट थैचर द्वारा व अमेरिका में रोनाल्ड रीगन द्वारा व्यवहार में लाया गया था, शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं (IGIs) की औपचारिक नीति बन गई जिन्होंने दुनिया भर के देशों को वित्तीय सहायता तथा ऋणों के अनुदान के लिए शर्तों के रूप में व्यापार व निवेश के क्षेत्रों में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के विनियमन तथा उदारीकरण पर ज़ोर देना शुरु कर दिया था। क्योंकि समकालीन विश्व में आर्थिक शक्तियों का कार्य व्यापार राष्ट्रीय सरकारों के नियंत्रण से परे होता था, नव उदारवादियों का आह्वान राज्य व जन–समाज के बीच संबंधों के बुनियादी पुनर्गठन के लिए है जो कि आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में राज्य के साथ अव्यक्त रहे जिन पर बाज़ार शक्तियों की मुक्त गतिविधि का नियंत्रण, होगा। (बनर्जी, 2000)। उन्होंने मुक्त व्यापार का समर्थन दिया, जिसका आधुनिक प्रचलित अर्थ है आयात शुल्कों, निर्यात उदारता, घरेलू उत्पादन रियायतों, व्यापार कोटा तथा आयात लाइसेंसों जैसे प्रतिबंधों के बिना किया जाने वाला व्यापार तथा वाणिज्य। मुक्त व्यापार हेतु बुनियादी तर्क ''तुलनात्मक लाभ'' के आर्थिक सिद्धांत पर आधारित हैं जिसका अर्थ है हर क्षेत्र को इस बात पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए कि वह सबसे सस्ता व कुशलतापूर्वक क्या उत्पन्न कर सकता है, और उसे अपने उत्पादों का विनिमय उनसे करना चाहिए जो आर्थिक रूप से इन्हें उत्पन्न करने में कम सक्षम हों।

भारत में भूमण्डलीकरण की प्रति ने उस वक्त जोर पकड़ा जब तत्कालीन केन्द्र सरकार (नरसिंहा राव सरकार) ने जून 1991 में आर्थिक उदारीकरण पर अभिलक्षित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के आदेश पर सुधारों का पैकेज लागू किया था। भारत में उदारीकरण योजना की जड़ें दरअसल सत्तर के दशक के अंत में जनता सरकार की पहल में तथा इंदिरा गांधी द्वारा लागू अस्सी के दशक के आरंभ में औद्योगिक नीति सुधारों में व अंतत: अस्सी के दशक के मध्य में राजीव गांधी सरकार द्वारा चलाई गई नई आर्थिक नीति में तलाशी जा सकती है। किन्तु ये शुरुआती पहलकारियाँ व उनका क्रियान्वयन 1991 में नरसिंहा राव की पहलकारी के मुकाबले धीमा ही रहा, जो कि अधिक महत्त्वाकांक्षी तथा अर्थव्यवस्था को राज्य हस्तक्षेप से मुक्त करने पर अभिलक्षित थी।

राव सरकार द्वारा लागू किए गए सुधारों में शामिल थे; रुपये के अवमूल्यन पर अंकुश लगाते अल्पावाही स्थिरीकरण उपाय, सरकारी खर्च पर रोक (उर्वरकों एवं पैट्रोलियम पर रियायत घटाकर) वित्तीय घाटा कम करने हेतु एक योजना व भारतीय बाज़ारों हेतु विदेशी पूँजी के प्रवाह प्रतिबंधों का हटाया जाना था। मध्यम व

दीर्घ अवधि के संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम में शामिल थे। उपायों की एक श्रृंखला जो कि व्यापार के उदारीकरण तथा उद्योग के विनिमयन पर अभिलक्षित थी, साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र की परिधि सीमित करने पर थी जिसमें शामिल थे; लाभ कमाने वाले व्यापार समवायों की इक्विटियों अथवा साधारण हिस्सों (नियत ब्याजरहित) में विनिमेश और घाटे में चल रहे व्यापार समवायों के लिए परिदानों की समाप्ति, वित्तीय क्षेत्र कर प्रणालियों संबंधी सुधार अथवा विदेशी पूँजी प्रवाहों को सरल बनाने के उपाय (बायर्स 1998)।

भारत सरकार की उदारीकरण नीति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

- आर्थिक शासन प्रबंध में राज्य की भूमिका में आयी गिरावट
- कुछ आर्थिक क्षेत्रों से राजयों का हाथ खींचना तथा उसके स्थान पर निजी क्षेत्र का आना
- बुनियादी व मुख्य उद्योगों, बैंकिग, बीमा तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों में सरकारी/सार्वजनिक क्षेत्रों का अवनति पर होना
- शिक्षा आवास व स्वास्थ्य जैसी जन समाज सेवाओं के प्रावधान में राज्य की भूमिका का घटना
- निजी क्षेत्र की व्यायवतर भागीदारी के माध्यम से भावी विकास तथा तदनुसार वस्तु विनिमय हेतु बाज़ार पर अधिक निर्भरता।

निजीकरण

अस्सी के दशक में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के साथ ही इंग्लैण्ड और अमेरिका के नव-उदारवादियों ने उद्योगों व सेवाओं के निजीकरण की भी वकालत की ताकि उद्यमों को विश्व अर्थव्यवस्था की चुनौतियों का सामना करने हेतु अधिक प्रतिस्पर्धा व कुशल बनाया जा सके। इंग्लैंड में अस्सी के दशक तक 80 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण किया जा चुका था। (मण्डल 1993)। निजीकरण का काफ़ी हद तक अर्थ था सार्वजनिक स्वत्व वाली परिसम्पत्तियों को चरणबद्ध रूप से निजी स्वामित्वों को बेच डालना। निजीकरण निम्नलिखित तकनीकों में से किसी एक या सभी को अपनाकर किया जा सकता है।

- शेयरों को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करना—पब्लिक लिमिटेड कम्पनी के सभी तथा कुछ शेयरों को सार्वजनिक बिक्री के लिए रखा जाना।
- शेयरों की निजी बिक्री—राज्य स्वत्वाधिकार वाले उद्यम के सभी तथा कुछ शेयरों को निजी व्यक्ति व क्रेता समूह को बेचा जाता है।
- राज्य स्वत्वाधिकार वाले उद्यम में नया निजी निवेश—निजी शेयर निर्गमन को निजी क्षेत्र तथा जनता द्वारा आर्थिक सहायता दिया जाना।
- निजी क्षेत्र का सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश—निजी समूहों को सार्वजनिक क्षेत्र हेतु आरक्षित क्षेत्रों में जाने की अनुमति, जैसे भारत में विद्युत व दूर संचार क्षेत्र।
- परिचालन तथा संपोषण के लिए सेवाओं अथवा उपयोगी वस्तुओं का अनुबंध निजी परिचालकों व ठेकेदारों से किया जाना, जबकि स्वत्वाधिकार सरकार के पास ही रहता है। जैसे जलापूर्ति, अपजल उपचार आदि।
- सरकारी व राज्य उद्यानों की परिसम्पत्तियों की बिक्री निजी बिक्री के रूप में न कि शेयरों के रूप में।
- कम्पनियों की गौण इकाइयों का पुनर्गठन तथा विखंडीकरण।
- प्रबन्धन/कर्मचारी बाई आउट—इसमें प्रबंधन व कर्मचारी वर्ग संपूर्ण खरीद कर नियंत्रण ब्याज उपार्जित करता है जिसमें कि सरकार द्वारा दिए गए ऋण पर शेयर खरीदे जाते हैं।

अर्थव्यवस्था के निजीकरण का लक्ष्य लेकर भारत सरकार ने नब्बे के दशक में विभिन्न कदम उठाये। उद्योगों के विनियमन हेतु लाइसेंस राज की समाप्ति, एकाधिकार तथा नियामक व्यापार पद्धति (MRTP) विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (FERA) जैसे कानूनों को खत्म करना, आदिवासी भारतीयों के लिए शत

प्रतिशत साधारण शेयरों को मंजूरी, अनुमोदन समितियों को गत्यानुकूल बनाना, सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों (PSUs) में विनिवेश व सहयोगात्मक वैज्ञानिक व्यवस्था लाने के लिए औद्योगिक अथवा वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड की इकाइयों का संदर्भ जैसी पहलकारियों का अभिप्राय भारतीय अर्थव्यवस्था का अधिकाधिक निजीकरण ही था।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) व वित्त बाज़ारों का वैश्वीकरण

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का अर्थ है उत्पादन की हिस्सेदारी के साथ प्रतिफलित किसी विदेशी पक्षकार द्वारा उत्पादन में निवेशित धन। उदारीकरण के तीनों महत्वपूर्ण पहलुओं—वित्त, व्यापार व निवेश—में वित्तीय/आर्थिक उदारीकरण सर्वाधिक सुनिर्दिष्ट है। इन भूमण्डलीकरण के युग में आर्थिक वैश्वीकरण उदारीकरण देखा गया है। आर्थिक वैश्वीकरण तथा वित्तीय उदारीकरण पूँजी के संचालन पर ही केंद्रित हैं जिसका कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश एक मुख्य रूप है।

अस्सी के दशकारंभ से ही विदेशी प्रत्यक्ष/सीधा निवेश प्रवाह विश्व उत्पादन तथा व्यापार व फिर घरेलू निर्धारित निवेश के मुकाबले काफ़ी तेज़ी से बढ़ता रहा है। नब्बे के दशक में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश में बहुत अधिक वृद्धि हुई। अस्सी के दशक के अंत में इस निवेश की शुरुआती लहर प्राय: पूरी तरह विकसित देशों में ही थी। (कुल 80 प्रतिशत से अधिक) तथा ये मुख्य रूप से पाँच शीर्ष विकसित देश थे (दो तिहाई से भी अधिक), नब्बे के दशक में विकासशील देश भी काफ़ी विदेश सीधा निवेश आकर्षित करने लगे व इस निवेश की प्रमाणिय भौगोलिक विस्तार देखा गया है। नब्बे के दशक के आरंभ में विदेशी सीधा निवेश का विकासशील देशों की ओर प्रवाह आपेक्षिक रूप से बढ़ा है जिसका औसत 1991-95 में कुल 32 प्रतिशत रहा जबकि 1981-90 में यह मात्र 17 प्रतिशत था। इसका कारण था नब्बे के दशक के अधिकांश विकासशील देशों में विदेशी निवेश का उदारीकरण (खोर 2001)। प्रत्यक्ष निवेश के लिए निजी पूँजी प्रवाह और विकासशील देशों के लिए निवेश सूची लागत 1990 में 25 अरब डॉलर से बढ़कर 1997 में 150 अरब डॉलर हो गयी (पारिख 1999) तथा इसके साथ ही इस अवधि में इस निवेश के माध्यम से विश्व बाज़ारों के अंतर्राष्ट्रीय संभेदन वाले जगत् में गुणात्मक व यात्रात्मक परिवर्तन भी देखे गए हैं। यूरोपीय संघ के राष्ट्रत्रय, जापान तथा उत्तर अमेरिका के भीतर निवेश प्रवाहों द्वारा अभिलक्षित अस्सी के दशक का विदेशी सीधा निवेश प्रस्फुटन नब्बे के दशक में गैर ओ ई सी डी अर्थात आर्थिक सहयोग व विकास संगठन देशों में भी पहुँच गया। इन प्रवाहों का श्रेय पाने वाले थे—एशियाई देश (चीन, सिंगापुर, मलेशिया, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया) लैटिन अमेरिकी देश विशेष रूप से (मैक्सिको, चिली, अर्जेन्टाइना और ब्राज़ील) तथा पूर्वी यूरोपीय देश। इस काल में विश्व स्तर पर वृहद नैगम संधियों की वृद्धि भी हुई। विदेशी सीधा निवेश मुख्य रूप से बाज़ार प्रेरित ही रहे तथा वे सेवा क्षेत्र पर छाये रहे।

तथापि विदेशी सीधा निवेश का प्रवाह विकासशील देशों तक में एक समान नहीं था। इस निवेश का काफ़ी हिस्सा केवल कुछ ही विकासशील देशों पर केंद्रित रहा। अल्पतम विकसित देश विशेष रूप से अपनी नीतियों को उदारीकृत करने के बावजूद केवल थोड़ा-सा ही विदेशी सीधा निवेश प्राप्त कर पा रहे थे। इन निजी पूँजी प्रवाहों के कुछ नकारात्मक प्रभाव भी पड़े। वित्त बाज़ारों तथा प्रणालियों तथा वित्त प्रवाहों की विशाल राशियों के बीच अन्तर्सम्बद्धता की वजह से इस व्यवस्था की भंगुरता व भेदता के विषय में एक व्यापक तथा बढ़ती चिन्ता दिखाई पड़ती थी। कुछ महत्वपूर्ण हिस्सों में व स्वयं सामान्य प्रणाली में ही एक बिगाड़ पैदा हो जाने का खतरा था क्योंकि विश्व के एक हिस्से में तथा व्यवस्था में ही किसी दोष के उत्पन्न हो जाने से व्यापक अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ सकते थे। ये चिन्ताएँ पूर्व एशियाई वित्त संकट द्वारा उजागर की गई जो कि 1997 के उत्तरार्ध में शुरु हुआ व हाल में उग्रतम वित्तीय हलचल तथा आर्थिक मंदी को जन्म देता हुआ, रूस, ब्राज़ील तथा अन्य देशों में भी फैल गया।

इसके बावजूद नब्बे के दशक में विश्वभर में एक सर्वसम्मति शनै:-शनै: उभरी कि विदेशी पूँजी को यदि उचित रूप से प्रयोग किया जाए तो यह आर्थिक विकास में सार्थक रूप से योगदान दे सकती है। भारत के साथ भी यही बात थी। भारत में विदेशी सीधा निवेश स्वीकृतियों का सबसे बड़ा भाग वांछित आधारभूत ढाँचे व मुख्य

क्षेत्रों में रहा है, जैसे बिजली, दूरसंचार, ऊर्जा अनुसंधान अथवा रासायनिक व धातु उद्योग। भारत ने विदेशी सीधा निवेश स्वीकृत करने में एक केस दर केस दृष्टिकोण अपनाया। भारत में विदेशी सीधा निवेश अनेक मोर्चों पर अन्य देशों के सापेक्ष भारत के मूल्यांकन पर निर्भर करता है। मुख्य तर्काधार हैं—राजनीतिक स्थिरता तथा सुधारों के विश्वसनीयता, अधि संरचना की स्थिति खासकर विद्युत परिवहन व संचार राष्ट्रीय नीति व्यवस्था सरकारी नीतियों के कार्यान्वयन में गति तथा पारदर्शिता, श्रम बाज़ार दशाएँ व बौद्धिक संपदा अधिकार विषय (रे 2000)। भारत में विदेशी सीधा निवेश की अनुमति निम्न प्रकार के निवेशों के तहत दी जाती है।

- वित्तीय सहयोग के माध्यम से
- संयुक्त व्यवसायों व तकनीकी सहयोग के माध्यम से
- यूरो इश्यूज के मार्फ़त पूँजी बाज़ार के माध्यम से
- निजी नियोजनों एवं विशेष आबंटन के माध्यम से।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश कोई एक तरफ प्रक्रिया नहीं है। मुक्त बाज़ार व्यवस्था में भारतीय कंपनियाँ भी विदेशों में संयुक्त व्यवसायों के माध्यम से विश्वव्यापी होती जा रही हैं। वर्ष 2001-02 में भारत का निर्यात 3257.2 करोड़ तक चला गया था। अनेक भारतीय कंपनियों ने अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर सम्मानित खिलाड़ियों का रूप ले लिया। कृषि उत्पाद, समुदाय उत्पाद, अनाज, तिलहन, चाय तथा कॉफी कुछ प्रमुख उत्पाद हैं जो भारत निर्यात करता रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नियामक निकाय–विश्व व्यापार संगठन (WTO)

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF)—अन्तर्राष्ट्रीय परिसमापकता (liquidity) में मददगार एक विश्व-निकाय; तथा विश्व बैंक—एक कार्यक्षेत्रीय परिधय संस्थान (देखें बॉक्स 20.1) की तर्ज़ पर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन स्थापित करने का प्रस्ताव कर विश्व व्यापार को नियमित करने के लिए दुनिया भर के अनेक देशों द्वारा कदम उठाए गए। जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन अनेक कारणों से मूर्तरूप नहीं ले सका तो दुनिया भर के 23 राष्ट्र व्यापार-वार्ताएँ जारी रखने पर सहमत हो गए जो कि अन्ततोगत्वा सीमा शुल्क तथा व्यापार विषयक आम सहमति (GATT) में सम्मिलित कर ली गई जो फिर औपचारिक रूप से अक्टूबर 1947 में अस्तित्व में आया। इसने द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत काल में व्यापार की भूमिका बढ़ा दी। इसी के साथ कुछ तो स्वायत्त नीतियों व कुछ 'गैट' के तहत बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के सिलसिले के कारण विकासशील तथा विकसित दोनों ही देशों में सीमा शुल्क अवरोध धीरे-धीरे दूर हो गए। गैट समझौतों के आठवें दौर में जिसे लोकप्रिय रूप से 'उरुग्वे दौर' कहते हैं, अनुबंधकारी पक्षकार बहुपक्षीय व्यापार समझौतों को लागू करने के लिए विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के लिए सहमत हो गए।

ब्रैटन वुडन संस्थाएँ

ब्रैटन वुड्ज़ संस्थाएँ हैं विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का जन्म द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में हुआ। इनकी स्थापना जुलाई 1944 में ब्रैटन वुड्ज़ न्यू हैम्पशाइर, अमेरिका में 43 देशों की एक सभा में हुई। ये मुख्य विशेषज्ञों की एक तिकड़ी के विचारों पर आधारित थीं—अमेरिकी राजस्व विभाग सचिव हैनरी मॉगैन्थू, उनके मुख्य आर्थिक सलाहकार हैरी डैक्सटर व्हाइट और ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स। ये व्यापार एवं आर्थिक सम्बन्धों के क्षेत्र में सहमतिजन्य निर्णयन् एवं सहयोग की अवधारणाओं पर आधारित एक युद्धोपरांत आर्थिक व्यवस्था लाना चाहते थे। सहबद्ध देशों, विशेषत: अमेरिका और ब्रिटेन के नेताओं द्वारा यह महसूस किया गया कि पूर्वकालीन विश्व आर्थिक मंदी और व्यापार संघर्षों के अस्थिरकारी प्रभावों से बचने के लिए एक बहुपक्षीय ढांचा तैयार किए जाने की आवश्यकता है। अब उद्देश्य था युद्धोपरांत छिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्था के पुनर्निमाण में मदद करना और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना। मूल ब्रैटन वुड्ज़ समझौते में एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन हेतु योजनाएँ भी शामिल थीं परन्तु ये 1995 में विश्व व्यापार संगठन के विरचन तक प्रसुप्तावस्था में हीं रहीं।

विश्व व्यापार संगठन जो 'गैट' के स्थान पर 1 जनवरी 1995 को अस्तित्व में आया, राष्ट्रों के बीच व्यापार के विश्वव्यापी नियमों को तय करता एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। 'गैट' एक द्विपक्षीय समझौता था,

जबकि विश्व व्यापार संगठन एक संगठनात्मक व्यवस्था है जिसका अर्थ है संगठन का कोई भी निर्णय सभी सदस्य राष्ट्रों पर प्रयोज्य होगा। इस संगठन का कथित उद्देश्य है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में नियम तय करने तथा लागू करने संबंधी एक विश्व निर्णयन प्राधार प्रदान करना था इसका सचिवालय जेनेवा में स्थित है। इसका मुख्य कार्य था कि यह सुनिश्चित करना कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निर्विघ्न पूर्वानुमेय रूप से तथा यथासंभव स्वतंत्र रूप से चलता रहे। वर्ष 2005 में विश्व व्यापार संगठन की सदस्य संख्या 148 देश हो गई जो विश्व व्यापार के 97 प्रतिशत का योगदान करते हैं व अधिकाधिक देश इस संगठन के सदस्य बनने को बाध्य किए जाते हैं। निर्णय विश्व व्यापार संगठन के सारे सदस्य वर्ग द्वारा लिए जाते हैं और समझौतों को हर एक सदस्य राष्ट्र की संसद द्वारा अभिपुष्ट किया जाना होता है। संगठन का शीर्षस्तरीय निर्णयन निकाय है 'मन्त्रीय सभा' जिसकी बैठक दो वर्षों में कम-से-कम एक बार अवश्य होती है। पंचम विश्व व्यापार संगठन मंत्रीय सम्मेलन सितम्बर 2003 में केनन मैक्सिको में हुआ था।

विश्व व्यापार संगठन के मुख्य कार्य हैं—

- व्यापार समझौतों को लागू करना;
- व्यापार समझौतों के लिए एक मंच कायम करना;
- व्यापार विवादों को निपटाना;
- राष्ट्रीय व्यापार नीतियों का विवेचन करना;
- विकासशील देशों के लिए तकनीकी सहायता तथा प्रशिक्षण उपलब्ध कराना;
- अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना।

विश्व व्यापार संगठन विश्व व्यापार को नियंत्रित करने में एक महत्त्वपूर्ण अभिकर्ता के रूप में उभरा है। यह एक विश्व व्यापार नियामक निकाय रखने की वजह से अधिक महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि नब्बे के दशक में व्यापार उदारीकरण क्रमश: बढ़ता गया। विश्व सकल घरेलू उत्पाद में विश्व निर्यातों का भाग 1950 में लगभग 6 प्रतिशत से 1973 में 12 प्रतिशत तथा 1992 में 16 प्रतिशत तक बढ़ गया (नवंबर 1997)। विश्व व्यापार संगठन समझौते मुख्य रूप से माल, सेवाओं, बौद्धिक संपदा, विवाद संमजन व नीति सर्वेक्षण में होते हैं। माल में होने वाले व्यापार समझौतों में सभी पहलू शामिल होते हैं। जैसे निम्न सीमा शुल्क दरें तथा अन्य व्यापार अवरोध साथ ही विशिष्ट क्षेत्र जैसे कृषि अथवा बुना कपड़ा व विशिष्ट मुद्दे जैसे राज्य व्यापार, उत्पाद मानक परिदान व कूड़ा करकट जमा करने के खिलाफ कार्यवाई। सेवाक्षेत्र में शामिल हैं—बैंक, बीमा कंपनियाँ दूर संचार पर्यटन संचालक, होटल श्रृंखलाएँ तथा परिवहन कंपनियाँ। ये सब अब पहले से अधिक निर्वाध व निष्पक्ष रूप से व्यापार करते हैं। बौद्धिक संपदा समझौते का अर्थ है विचारों व रचनात्मकता में व्यापार तथा निवेश हेतु नियम प्रस्तुत करना। विश्व व्यापार संगठन प्रणाली देशों को प्रोत्साहित करती है कि वे अपने मतभेद सलाह मशवरे से ही निबटाएँ। देश अपने विवादों को संगठन के समक्ष भी लाते हैं यदि उन्हें लगता है कि समझौतों के तहत उनके अधिकारों का अति क्रमण हो रहा है। संगठन का व्यापार नीति सर्वेक्षण तंत्र हर एक देश की राष्ट्रीय नीतियों में पारदर्शिता बढ़ाने का प्रस्ताव करता है (अधिक विस्तृत जानकारी के लिए देखें इकाई 23)।

विश्व व्यापार संगठन नियमों की एक श्रृंखला प्रस्तुत करता है जो कि ''व्यापार संबंधी निवेश उपायों'' (TRIMs) का निषेध करने हेतु अभिकल्पित है, जिसमें वे अनेक तरीके शामिल हैं जिनसे राष्ट्रीय सरकारें उद्योगों तथा व्यापार समवायों के विकास में सहायतार्थ उद्योग अथवा निवेश नीतियाँ बनाने का प्रयास कर सकती हैं। ''व्यापार संबंधी बौद्धिक संपदा'' के संबंध संगठन के नियम प्रतिलिप्याधिकार अथवा बौद्धिक संपदा अधिकारों के क्षेत्र में अभूतपूर्व संरक्षण प्रदान करते हैं।

संगठन के साथ राष्ट्रीय सरकारों के वर्तमान समझौतों में सदस्य राज्यों के विकास व नीतियों से अपेक्षा की जाती है कि उन्हें परिवर्तित कर उसी की विचारधारा में लाया जाये। अननुपालन का परिणाम व्यापार दंडों में परिलक्षित हो सकता है जो कि विवाद समाधान प्रणाली के माध्यम से किसी देश के निर्यातों के विरुद्ध लगाये

जाते हैं। तदनुसार विश्व व्यापार संगठन को यह प्रणाली एक सशक्त बाध्यवरण तंत्र प्रदान करती है। इस प्रकार राष्ट्रीय सरकारों को संगठन के विस्तार क्षेत्र में रहकर ही मुद्दों की व्यापक श्रृंखला में आत्म नियंत्रणों व दायित्वों का पालन करना पड़ता है। संगठन की कार्यपरकता बाज़ार के सशक्तिकरण तथा राज्य हेतु अल्पायाम भूमिका व तीव्र उदारीकरण को बढ़ावा देती है।

भारत 'गैट' तथा उसके परवर्ती विश्व व्यापार का एक संस्थापक सदस्य है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रबंधन में लिप्त एक उत्तरोत्तर नियम आधारित व्यवस्था में भारत की भागीदारी से दावा किया जाता है कि अधिक स्थिरता व पूर्वानुमेयता सुनिश्चित हुई है, जो कि अधिक व्यापार तथा समृद्धि की ओर ले जा सकती है। संगठन के सदस्य के रूप में भारत स्वत: ही सभी संगठन राष्ट्रों हेतु अपने निर्यातों के लिए सर्वाधिक अनुकूल राष्ट्र व राष्ट्रीय व्यवहार का लाभ उठाता है (विस्तृत विवरण के लिए देखें इकाई 23)। भारत ने वर्ष 2005 में संगठन मानव बौद्धिक संपदा नियमों को लागू करने के लिए आवश्यक वैधानिक परिवर्तन किए, हालाँकि यह शुरुआत में विरोध दर्शाने के बाद ही हुआ।

बहुराष्ट्रीय एवं परराष्ट्रीय कंपनियाँ और उनकी कार्यपरकता

अर्थव्यवस्थाओं व वित्त बाज़ारों के विनियमन ने राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर वित्तीय लेन देनों में तेज़ बढ़ोतरी की ओर अग्रसर किया था भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय अभिकर्त्ताओं की एक नई श्रृंखला सामने लेकर आयी है—बहुराष्ट्रीय नियम (MNCs)। इन निगमों का उल्लेख प्राय: निगम दैत्यों के रूप में किया जाता है। ऐसे कुछ निगमों की वार्षिक व्यापार मात्रा तो कुछ देशों के संयुक्त सकल घरेलू उत्पाद के बराबर ही है (1994)। इन संस्थाओं की विभिन्न देशों में एक साथ आर्थिक गतिविधि होती है। नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने दुनियाभर में बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों को तेज़ कर दिया था।

यह प्रक्रिया 20वीं शताब्दी की ओर अग्रसर होते हुए अधिक तेज़ हो गई, जिसका परिणाम हुआ परादेशीय निगमों द्वारा आर्थिक संसाधनों व सत्ता का वृहत्तर संकेन्द्रक तथा एकाधिकारता, एक प्रक्रिया जिसे मार्टिन खोर (2001) परराष्ट्रीयकरण (transnationalisation) की संज्ञा देते हैं। यहाँ कम-से-कम परराष्ट्रीय निगम विश्व आर्थिक संसाधनों, उत्पादन व बाज़ार शेयरों का एक वृहत्तर तथा तेज़ी से बढ़ते हिस्से पर अख्तियार करते जा रहे हैं। जहाँ एक बहुराष्ट्रीय कंपनी एक ही उत्पाद के बाज़ार पर अधिपत्य कायम किया करती थी, एक बड़ी परराष्ट्रीय कंपनी अब प्रतीकात्मक ढंग से एकाधिक उत्पादों, सेवाओं व क्षेत्रों में उत्पादन तथा व्यापार करती हैं। विलीनीकरणों व अधिग्रहणों के माध्यम से ये अल्प से अल्पतर परराष्ट्रीय परादेशीय निगम (TNCs) अब विश्व बाज़ार का वृहद से वृहत्तर हिस्से पर नियंत्रण रखते हैं, चाहे वह उपभोक्ता वस्तुएँ हों, विनिर्माण कार्य हों अन्यथा फिर सेवाएँ।

बहुराष्ट्रीय अथवा परराष्ट्रीय कंपनियाँ

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ कार्य प्रणालियों की प्रकृति पर निर्भर करते हुए जिन्हें परराष्ट्रीय निगम भी कहा जाता है, आधुनिक वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अभिलक्षण हैं। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को एक ऐसी कंपनी के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो अनेक देशों में काम करती है और उसकी उत्पादन व सेवा सुविधाएँ उसके अपने मूल देश से बाहर होती हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इतिहास—वर्ष 1600 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी की स्थापना के साथ आरंभ हुआ कहा जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से ही ऐसी कंप्नियों की तेज़ी हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनुभागों के अनुसार, अपने मुख्यालय देश से बाहर प्रत्यक्ष निवेशों वाली 5000 कंपनियाँ कार्यरत हैं। उनमें से 100 सबसे बड़ी कंपनियाँ सीमा पर परिसम्पत्तियों के लगभग 40 प्रतिशत का लेखा रखती हैं संभव है कि वे विश्व व्यापार के लगभग एक चौथाई का लेखा रखती है। अधिकांश व्यापार अन्त:कंपनी व्यापार होता है, यानी एक ही कंपनी की विभिन्न शाखाओं के बीच होता है। इस बात के अनेक कारण हैं कि क्यों कंपनियाँ समुद्र पार व्यापार में निवेश कर बहुराष्ट्रीय बनने का निर्णय ले लेती हैं। उसमें उत्पादन सुविधाओं को बाज़ार तथा कच्चे माल के स्रोत के नज़दीक ही रखने की इच्छा निहित हो सकती है ताकि परिवहन लागतों को कम किया जा सके। यदि किसी देश में आयातित माल

पर ऊँचे सीमा शुल्क लगते हैं तो उसी देश में कारखाना लगा दिए जाने से उस बाज़ार हेतु सीमा शुल्क मुक्त सुगमता प्राप्त कर लेने के रूप में देखा जा सकता है।

यद्यपि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ सभी व्यापार समकायों की ही भाँति, मुख्य रूप से बनाने की इच्छा से ही प्रेरित होती हैं, विकासशील देशों में उनके द्वारा उत्पादन सुविधाओं की स्थापना ऐसे देशों के लोगों के लिए अनेक तरीकों से लाभकारी भी हो सकती है अथवा हानिकारक भी। यह लाभकारी हो सकती है। उदाहरण के लिए (क) रोज़गार/नौकरियों का सृजन, (ख) उन्नत प्रौद्योगिकी प्रक्रिया का सूत्रपात करने तथा उसके द्वारा श्रम संबंधी व पर्यावरण संबंधी उच्च मानक स्थापित करने (ग) करों का भुगतान कर राजस्व प्रदान करने, आपके लिहाज से। यह इन तरीकों से हानिकारक हो सकती है—(क) मेज़बान सरकारों की नीतियों को प्रभावित करके, (ख) अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए असुरक्षित तथा शोषणकारी श्रम दशाएँ प्रदान करके (ग) अपने लाभ का मेज़बान राष्ट्र में पुनर्निवेश करने की बजाय स्वदेश भेज देने से, (घ) छोटे पैमाने की कंप्नियों को कारोबार से बाहर कर देने से (ङ) करों की चोरी करके, (च) मानवाधिकार का उल्लंघन करने तथा पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने से, आदि।

उदारीकरण, निजीकरण तथा अन्य व्यापार से जुड़े पहलुओं के अलावा कुछ अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण भी हैं जो भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के प्रभाव को प्रकट करते हैं आइए, उनमें से कुछ पर चर्चा करें।

अधिसंरचना विकास

भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर ने दुनिया भर के देशों को वांछित आधारभूत ढाँचा तथा अधिरचना के तीव्रतर व बेहतर विकास का आश्वासन दिया कि आयात तथा निर्यात पर निर्भर उद्योगों के कष्ट कम होंगे व विश्व-बाज़ार में अधिक स्पर्द्धेय हो सकेंगे। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय रूप से स्पर्द्धेय बनने के लिए भारत को पत्तन सुविधाएँ विकसित करने की आवश्यकता थी। नब्बे के दशक मध्य तक भारतीय बंदरगाहों की कुल निर्वहन क्षमता 19 करोड़ टन व्यापार वार्षिक ही थी, जो कि सिंगापुर जैसे शहर के किसी भी बंदरगाह की तुलना में काफ़ी कम था। साथ ही, माल डिब्बों की उठाई धराई दरें भी अन्तर्राष्ट्रीय दरों के मुकाबले काफ़ी कम थीं (गॉर्डन 1997)। यह दर्शाता है कि भारत को विदेश व्यापार अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए सड़क निर्माण में, पत्तन सुविधाएँ विकसित करने व विद्युत तथा दूर संचार क्षेत्र में व्यापक निवेश की आवश्यकता थी। नब्बे के दशक मध्य में भारत सरकार ने अधिरचना विकास में आगामी एक दशक में कुल 200 अरब डॉलर खर्च किए जाने का विचार बना लिया था। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकार ने निजी क्षेत्र से तथा विदेशी निवेशकों से धन इकट्ठा किया व इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने अपने विद्युत दूरसंचार तथा परिवहन क्षेत्रों को विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए खोल दिया।

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICTs) का विस्तार और सूचना युग का सूत्रपात

समकालीन समाज के प्रभावशाली पहलुओं में एक है अपने महत्वपूर्ण निहितार्थों के साथ इलैक्ट्रॉनिक गतिविधियों के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग हेतु सूचना प्रौद्योगिकी का तेज़ी से विकास। यदि हम विश्व अर्थव्यवस्था की प्रगति का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि 19वीं शताब्दी से ही विश्व-अर्थव्यवस्था का इतिहास अग्रणी वाणिज्य व उद्योग क्षेत्र में एक नियमित अग्रमन कर रहा है (मॉदल्स्बी एवं थॉम्प्सन, 1996)। उन्नीसवीं शती-मध्य के बाद से अग्रणी क्षेत्र रहे विद्युत शक्ति रासायन तथा इस्पात। 1914 के बाद शुरु होने वाले उद्योग थे टेलिफोन, रेडियो व फिर टेलीविज़न समेत इलैक्ट्रॉनिक्स अथवा तेल एवं रबड़ के साथ स्वचालित वाहन। सत्तर के दशक से विश्व अर्थव्यवस्था में नेतृत्व उद्योगों की एक नई शृंखला की ओर चला गया है तथा जो कम्प्यूटरों टेलीविजन, डिजीटल टेलिफोन तथा अन्य संचार साधनों से जुड़ी है, जिसे समष्टिक रूप में सूचना उद्योग कहा जा सकता है। इनमें प्रमुख हैं—कम्प्यूटर उद्योग जिसमें वृहद, हार्ड व सॉफ्टवेयर क्षेत्रों समेत अनेक उपविभाग शामिल हैं; सैल्युलर, वायरलैस अथवा केबल जैसे नए क्षेत्रों वाले दूर संचार माध्यमों में तब्दील पुनर्जीवित टेलीफ़ोन उद्योग; व अपने विषयवस्तु प्रदाताओं तथा वितरकों के साथ समस्त बहुमुखी सदावर्धमान संचार माध्यम। द थर्ड वेव (1980) में ऑल्विन टॉफ्लर आर्थिक श्रम विकास की तीन अवधियों का वर्णन करते हैं—कृषि लहर जो 8000 ई० पू० से 18वीं शती मध्य तक रही, औद्योगिक लहर जो 20वीं शती अंत

तक रही व सूचना लहर जो साठ के दशक में शुरु हुई तथा आने वाले कई दशकों तक चलेगी। उनके अनुसार प्रथम लहर शारीरिक श्रम से प्रेरित थी, दूसरी लहर मशीन व श्रमिक प्रेरित एवं तीसरी लहर सूचना प्रौद्योगिक तथा ज्ञान कर्मियों द्वारा प्रेरित है।

वर्तमान परिवर्तन गति, सूचना संप्रेषण हेतु क्षमता विस्तार व संचार माध्यमों का प्रचुरोद्भव आदि सबका स्वरूप अतीत के स्वरूपों से नितांत भिन्न है। प्रौद्योगिकी तथा सूचना के असाधारण प्रस्फुटन ने समय वे दूरी संबंधी दोहरी संकल्पनाओं को काफ़ी क्षीण कर दिया है। विशेष रूप से सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकी समकालीन मानव अस्तित्व के अन्य सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण शाखा-विस्तार के साथ हालाँकि उत्पादन की विश्व व्यवस्था में संभवत: सर्वाधिक प्रभावी शक्ति के रूप में उभरी है (काकोविज़, 1999)। उन्नत संचार ने सूचना संप्रेषण हेतु वास्तविक दूरी को घटा दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय टेलीफ़ोन तथा फैक्स यातायात व्यापार बहुत ही तत्कालिक सस्ता व व्यक्ति को सरलता से सुलभ हो गया है इंटरनेट संचार तथा सूचना की एक प्रमाणिक रूप से सर्वाधिक व्यवस्था प्रदान करता है। सैटेलाइट व केबल टी० वी० व अति उच्च आवृति रेडियो ने समाचार तथा मनोरंजन के क्षेत्र में विकल्पों की बाढ़ सी ला दी है। गत कुछ दशकों में सूचना प्रौद्योगिकी के तीव्र विस्तार ने दुनियाभर में सेवा की आउटसोर्सिंग में एक आश्चर्यजनक वृद्धि कर दी है।

तीसरी लहर के दौरान सूचना संग्रहण, संप्रेषण, भण्डारण तथा पुनर्प्रापण की प्रक्रिया समृद्धि व गुणात्मक रूप से भिन्न जीवन शैली की कुन्जी बन गयी। प्राय: किसी भी क्षेत्र में सफलता सूचना प्रौद्योगिकी के बिना असंभव बन गयी है। कृषि विनिर्माण शिक्षा पुलिस कार्य औषधि मनोरंजन बैंकिंग आदि कोई भी क्षेत्र हो सूचना प्रौद्योगिकी प्रतीयमानत: उस हर चीज़ को बदल डालने को तैयार है जो कि मनुष्य उन्नत समाजों में करता है (लायन 1988)। दूर संचार माध्यमों की मदद से कम्प्यूटर कार्य की शुरुआत को सूचना व संचार प्रौद्योगिकी के नवयुग का आरंभकाल माना जाता है। डेनियल बैल (1976) सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तृत प्रसार की भविष्यवाणी करते हैं तथा नयी दूर संचार अधिरचना की स्थापना के फलस्वरूप बड़े सामाजिक परिवर्तनों का भविष्यदर्शन भी करते हैं, जिसे वह सूचना समाज कहते हैं। बैल का कहना है सूचना समाज में सूचना प्रौद्योगिकी श्रम काल को घटा देती है तथा उत्पादन श्रमिक भी कम कर देती है व वास्तव में राष्ट्रीय उत्पाद में योजित मूल के स्रोत स्वरूप श्रम का स्थान ले लेती है। यहाँ ज्ञान तथा सूचना ही अर्थव्यवस्था के मुख्य प्रवर्त्यों के रूप में श्रम अथवा पूँजी के स्थान पर नज़र आते हैं। पीटर ड्रकर (1988) के अनुसार सूचना समाज पूँजीवादीत्तर समाज है जिसमें पूँजीपतियों व सर्वहारा वर्ग के स्थान पर ज्ञानकर्मी तथा सेवाकर्मी आ गए हैं। इस समाज की आर्थिक चुनौती है ज्ञान कर्म व ज्ञान कर्मी की उत्पादनशीलता।

सेवाओं का बहिर्सूत्रण

उत्तरोत्तर वैश्वीकृत होते संसार में सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकियाँ व्यापार जगत की ताकत बन गयी व दुनियाभर में सूचना प्रौद्योगिकी समर्पित सेवाओं (IYRD) की तीव्र वृद्धि नज़र आने लगी। यह क्षेत्र सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग का एक प्रमुख हिस्सा बन गया। व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण (BPO) उक्त सेवाओं से जुड़े उद्योग का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। बहिर्सूत्रण की आवश्यकता विभिन्न क्षेत्रों में पड़ती है जैसे वित्त, स्वास्थ्य, लेखाकर्म कंपनियों का मानव संसाधन आदि। ''बहिर्सूत्रण'' (outsourcing) एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से एक कंपनी अपने काम का कुछ हिस्सा दूसरी कंपनी को दे देती है, साथ ही उसे बहिर्सूत्रण करने वाली कंपनी की ओर से वांछनियताओं अथवा विनिर्देशों के संबंध में सख्त मार्गनिर्देशों के तहत व्यापार प्रक्रिया की अभिकल्पना व कार्यान्विति करने हेतु उत्तरदायी भी बना दिया जाता है। इस प्रकार व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण गतिविधियों की एक श्रृंखला शुरु करता है तथा कार्यवाही किए जाने की पूरी विधि को पुनर्नियोजित करने का दायित्व उठाता है यह प्रक्रिया बहिर्सूत्रण कराने वाली कंपनी व सेवादाता कंपनी दोनों के लिए लाभकारी होती है क्योंकि यह बहिर्सूत्रक को खर्चे कम करने में, व्यापार के मुख्येतर क्षेत्रों में गुणवत्ता सुधारने में अथवा अपनी विशेषज्ञा व क्षमता को अधिक-से-अधिक इस्तेमाल करने में मदद करती है।

व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण सेवाओं में शामिल हैं—

(क) ग्राहक सेवा संक्रिया, जिसमें कॉल सेण्टर आते हैं।

(ख) पृष्ठ कार्यालय कार्यवाहियाँ/बैंकिंग/राजस्व/लेखाकर्म/डेटा कन्वर्ज़न/मानव संसाधन आदि—बैंक व विमानन जैसी शीर्षस्थानीय संस्थाओं को बड़े पैमाने पर डेटा प्रोसैसिंग तथा डेटाबेस आधारित निर्णय क्षमताओं की आवश्यकता होती है। अपरिष्कृत आँकड़े अथवा कागज़ी दस्तावेज़ सुदूर स्थानों (सूचना प्रौद्योगिकी सक्षम गंतव्यों) पर भेजे जाते हैं। जहाँ आकड़ों का प्रवेश (Data Entry) और आवश्यक समाधान कार्य किए जाते हैं।

(ग) प्रतिलिप्यांतरण सेवाएँ—चिकित्सा संबंधी प्रतिलिप्यांतरण में शामिल होता है श्रव्य आरूप तथा डॉक्टरों व अन्य स्वास्थ्यरक्षा व्यवसायियों द्वारा श्रुति लिखित से चिकित्सीय अभिलेखों की एक हार्ड कॉपी तथा इलैक्ट्रॉनिक आरूप में प्रतिलिपि करना।

(घ) अन्तर्वस्तु विकसन/चालन (Animation), आदि।

(ङ) डेटा अनुसंधान, बाज़ार सर्वेक्षण, परामर्शन, प्रबंधन आदि।

भारत में व्यापार–प्रक्रिया बहिर्सूत्रण अवसर (BPO)

व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण उद्योग दक्षता तथा लागत सार्थकता की नीति को केन्द्र में रखकर स्थापित है। वर्तमान काल में कंपनियाँ उत्तरोत्तर विशेषज्ञ साझेदारों हेतु चुनिंदा व्यापार कार्यों अथवा संबद्ध सूचना प्रौद्योगिकी कार्यव्यापारों का बहिर्सूत्रण करती जा रही हैं। भारत की प्रचुर कुशल जनशक्ति ने उसे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए एक लक्ष्य स्थल बना दिया है कि वे यहाँ अपने आर्थिक लेन देनों का पृष्ठांत यहीं करें। अंग्रेजी भाषी जनता सस्ती जनशक्ति व अच्छी किस्म की सेवा, आदि गुणों के सहारे ये कंपनियाँ उत्तरोत्तर भारत को ही अपने कार्यव्यापारों का बहिर्सूत्रण कार्य सौंप रही हैं। भारत को अहर्ताओं, क्षमताओं कार्य गुणवत्ता, भाषायी क्षमताओं तथा कार्य नीतियों आदि के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त है तथा तदनुसार अन्य के अतिरिक्त सिंगापुर, हांगकांग, चीन, फिलीपीन्स मैक्सिको, आयरलैण्ड आस्ट्रेलिया व हॉलैण्ड जैसे प्रतिस्पर्द्धियों से आगे है। भारतीय कंपनियों के पास उत्कृष्ट लक्ष्यों के निर्धारण, मापन और विवेचन हेतु अद्‌भुत क्षमताएँ तथा प्रणालियाँ हैं।

प्रौद्योगिकी समर्थित सेवाओं (ITES) के विशिष्ट वर्गों में भारतीय केन्द्रों ने उच्चतर उत्पादकता स्तर प्राप्त किया है; उदाहरण के लिए, उनकी अपने पश्चिमी देशों के प्रतिपक्षियों की तुलना में, पृष्ठवायलियी प्रोसेसिंग हेतु लेन–देन प्रति घंटा संख्या अधिक है। साथ ही, भारत निरंतर सेवा व स्थानीय समय भेदों को मिटाकर फेटा समय कम करने का प्रस्ताव रखने में भी सक्षम है। भारत की अद्वितीय भौगोलिक दशाएँ ही यह संभव बनाती हैं (http://www.indiainfoline.com)।

वर्ष 1994 में दूरसंचार क्षेत्र के खुलने से सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उदरीकृत निजी भागीदारी से प्रोत्साहन मिला। इसने भारत में व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण उद्योग को फलने फूलने में मदद की। भारत में अनेक राज्य सरकारें अब सूचना प्रौद्योगिकी समर्पित सेवाएँ शुरू करने के लिए प्रोत्साहन तथा वांछित आधारभूत ढांचा प्रदान करती हैं। वर्ष 1999 की नई दूरसंचार नीति दूरसंचार उद्योग में अधिक से अधिक परिवर्तन लेकर आयी, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय दूरभाष सेवाओं पर राज्य एकाधिकार को भी समाप्त किया। इसने फलत: सूचना प्रौद्योगिकी समर्पित सेवाओं व व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण से जुड़े उद्योग के लिए स्वर्ण काल का उद्‌घोष किया तथा भारत में आबद्ध। अनाबद्ध कॉल सैन्टरों व आँकड़ा प्रक्रमण केन्द्रों की शानदार बढ़ोतरी की ओर अग्रसर किया था। सूचना प्रौद्योगिकी समर्पित सेवा उद्योग जिसका व्यापार प्रक्रिया बहिर्सूत्रण एक बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा है। प्रत्याशित रूप से भारत में एक 17 अरब डॉलर उद्योग है तथा सन् 2008 तक 11 लाख से भी अधिक नौकरियों को जन्म देगा। गत वित्त वर्ष के दौरान यह 73 प्रतिशत बढ़ा है तथा इसने रु० 7100 करोड़ का राजस्व दिलाया है (NASSCOM)।

व्यापार संबंधित बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPS)

एक बड़ी समस्या जो 19वीं शताब्दी के अधिकांश भाग, तीव्र प्रौद्योगिकी प्रगति काल के दौरान निवेशकों के सामने मुँह बाए खड़ी रहीं, वो थी एकस्वाधिकार संरक्षण को नियंत्रित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विनियमों का अभाव। जबकि विभिन्न देश नितान्त प्रभावी एकस्वाधिकार कानून और नियम रखते थे परन्तु वे एक–दूसरे से भिन्न हुआ करते थे। निवेशकों को अनेक देशों में एक साथ एकस्वाधिकारों के लिए आवेदन देना पड़ता था

जिससे एक देश में एक स्वाधिकार हेतु आवेदन उसे अन्य सभी देशों में एकस्वाधिकार अनुग्रह के अयोग्य न बना दें, क्योंकि उसकी मौलिकता नष्ट हो चुकी होती थी (अब्राहम, 2001)। पेटैन्ट अर्थात एकस्वाधिकार का अर्थ है किसी उत्पाद के आविष्कर्त्ता/निवेशक के हित की रक्षार्थ राज्य द्वारा प्रदत्त सम्मति अथवा औपचारिक समझौता।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार एकस्वाधिकार इस रूप में परिभाषित है—निवेशकों तथा अन्य लोगों को सरकार द्वारा प्रदत्त एक वैधानिक विशेषाधिकार, जो अपने अधिकार एक निर्धारित वर्षावधि के लिए आविष्कर्त्ता से प्राप्त करते हैं ताकि अन्य लोगों को एक एकस्वकृत उत्पाद के विनिर्माण प्राप्त व बिक्री से या फिर किसी एकस्वकृत विधि तथा प्रक्रिया को प्रयोग किए जाने से रोका जा सके (बक्शी 1992)। पहले से ही विद्यमान एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि-औद्योगिक संपदा संरक्षार्थ पेरिस समझौता 1883—के माध्यम से भूमण्डलीकरण की बढ़ी रफ़्तार व उच्च रूप से प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में बहुराष्ट्रीय निगमों/परादेशीय कंपनियों ने अपने उत्पादों के लिए तथा सुरक्षा की मांग की। परिणामत: गैट के उरुग्वे दौर के एक भाग स्वरूप व्यापार संबंधित बौद्धिक संपदा अधिकार (TRIPs) समझौते पर बातचीत की गई तथा यह उसी दिन से प्रभाव में आ गया जब विश्व व्यापार संगठन बना, यथा 1 जनवरी 1995।

विश्व व्यापार संगठन समझौते पर हस्ताक्षर करते ही भारत व्यापार संबंधित बौद्धिक संपदा अधिकार नियमों का पालन करने को बाध्य हो गया था। तब तक वह भारतीय एकस्वाधिकार अधिकार अधिनियम 1970 के तहत ही काम करता था जो कि केवल प्रक्रिया एकस्वाधिकारों की ही अनुमति देता था। एक ही उत्पाद उदाहरण के लिए कोई औषधि, अनेक वैकल्पिक प्रक्रियाओं द्वारा तैयार की जा सकती है, प्रत्येक वाकियों से कुछ विभिन्न होगी। इसमें भारतीय कंपनियों को भारतीय कानून के तहत एकस्वाधिकारों का उल्लंघन किए बिना एक किंचित भिन्न प्रक्रिया अपनाते हुए अन्य देशों में भी एकस्वकृत, कोई भी एकस्वकृत उत्पाद बनाने की अनुमति दे दी। विश्व व्यापार संगठन नियमों के तहत यह कानून अधिक समय तक लागू रहना संभव नहीं था क्योंकि एक सदस्य के रूप में भारत को एकस्वाधिकार कानून को संशोधित करना ही था जिससे उत्पाद व प्रक्रिया दोनों के लिए एकस्वाधिकार की अनुमति मिल जाए। यद्यपि भारत जैसे विकासशील देशों को, जिसके पास उत्पाद एकस्वाधिकार नहीं था, जनवरी 2005 तक का समय दिया गया था कि अपने एकस्वाधिकार कानून को संशोधित कर लें। यह संशोधित एकस्वाधिकार कानून भारत की संसद में 22 मार्च 2005 को पारित हो गया था।

भूमण्डलीकरण के सामाजिक आयाम

इस बात का ज़ोरदार खण्डन किया जाता है कि भूमण्डलीकरण की वर्तमान गति केवल आर्थिक मोरचे पर ही असरकारी है। भूमण्डलीकरण प्रक्रिया की शाखा प्रशाखाएँ मानव जीवन के सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यक्षेत्रों में भी सीधे व्यक्त होती हैं। निष्कर्षत:, भूमण्डलीकरण की दृश्यधरना संबंधी सामाजिक व सांस्कृतिक आयामों को समझना उसके प्रति एक युक्तियुक्त तथा सुविचरित प्रतिक्रिया को जन्म देने के लिए अनिवार्य है। भूमण्डलीकरण का सामाजिक आयाम लोगों के जीवन तथा कार्य पर, उनके परिवारों व उनके समाजों पर वैश्वीकरण के प्रभाव की ओर संकेत करता है। रोज़गार, कार्यदशाओं, आय तथा सामाजिक संरक्षण पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव विषयक चिन्तयविषय और मुद्दे प्राय: उठाये जाते हैं। कार्य जगत के अलावा, सामाजिक आयाम में आते हैं—परिवारों व समुदायों की सुरक्षा, संस्कृति तथा पहचान, सम्मिलित व बहिष्करित तथा संबद्धता का भाव। इस पाठांश में, आइए, भूमण्डलीकरण के कुछ सामाजिक आयामों को देखें।

सामाजिक क्षेत्र से राष्ट्रीय सरकार का प्रत्याहार

अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का परिणाम हुआ कि आर्थिक शासन में राज्य की भूमिका में आम गिरावट आई। सरकार की आर्थिक भूमिका में यह गिरावट सार्वजनिक व्यय में कमी में प्रकट हुई। सार्वजनिक व्यय में भारत का कुल सरकारी खर्च साठ के दशक में 11.0 प्रतिशत वार्षिक की दर से, सत्तर के दशक में 7.1 प्रतिशत की दर से, अस्सी के दशक में 6.46 प्रतिशत की दर से बढ़ा लेकिन नब्बे के दशक में घटकर यह मात्र 4.7 प्रतिशत वार्षिक ही रह गया। सरकार तथा सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका में गिरावट के परिणाम व उसके

स्थान पर निजी क्षेत्र के आ जाने का अर्थ होता है लोगों को रोज़गार पूँजी तथा सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, आवास व स्वास्थ्य सेवाओं की सुलभता काफ़ी कम हो जाना। आर्थिक गतिविधियों को सार्वजनिक क्षेत्र से लेकर निजी क्षेत्र के हाथों में सौंप दिए जाने समेत राष्ट्रीय सरकार की संरचनात्मक समायोजन नीतियाँ व राज्य आर्थिक नियोजन से दूर होते हुए तथा आर्थिक निर्णय बाज़ार पर छोड़ते हुए, जनता के लिए सामाजिक सुरक्षा के प्रत्याहार में पारित होंगी। प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता बढ़ाने के लिए वेतन चिट्ठा हाशिया खर्च कम करने के लिहाज से सामाजिक लाभों को घटाया जाना ''सामाजिक क्षेपण'' (social dumping) की ओर प्रवृत्त करता है जिसका अर्थ है कि वह प्रक्रिया जो निम्न वेतनों तथा निकृष्ट सामाजिक दशाओं के माध्यम से उत्पादन लागत घटा देती है।

भारत में सकल घरेलू उत्पाद के एक भाग स्वरूप सामाजिक व्यय नब्बे के दशक में बंधा हुआ था व ग्रामीण विकास से एक निश्चित अवस्थान्तर गमन देखा गया था (देव एवं मूजी, 2002)। स्वास्थ्य व्यय का भाग अप्रवहमान रहा था तथा शिक्षा का भाग गिरता जा रहा था। हमारी सरकार पेंशनों परिदानों आदि पर व्यय कम कर वर्तमान व्यय की मात्रा को व घटाने का प्रयास कर रही है।

सामाजिक क्षेपण (Social dumping)

औद्योगिक देश प्राय: अल्पविकसित देशों की सरकारों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे अपने निजी उद्योगों हेतु एक प्रतिस्पर्धात्मक लागत लाभ कमाने के लिए एक अविकसित कल्याणकारी राज्य कायम करने के लिहाज से सामाजिक क्षेपण को अपनाते हैं। विशेषरूप से वे कहते हैं कि ये अल्प विकसित देश सामाजिक उपांत लाभों, क्षति/हानियों से सुरक्षा, पेंशन योजनाओं, सह निर्णयक अधिकारों इत्यादि के लिहाज से उपयुक्त सामाजिक मानकों हेतु विधान की जानबूझकर उपेक्षा करते हैं। सामाजिक क्षेपण से जन्म लेने वाली प्रतियमानत: अनुचित प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए, वे सामाजिक दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य की मांग करते हैं और कभी-कभी वे सामंजस्य लाने के लिए प्रतिशोधात्मक व्यापार प्रतिबंधों की वकालत भी करते हैं। उदाहरण के लिए बाल श्रमिकों द्वारा बनाए जाने वाले, भारत से निर्यात होने वाले कालमों पर रोक। परन्तु कभी-कभी विकसित देश, अपने उद्योगों के हितों की रक्षार्थ अल्प-विकसित देशों से निर्यात को रोकने की युक्ति स्वरूप भी करते हैं क्योंकि वहाँ मज़दूर अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं और इसी कारण उत्पादन लागत भी कम होती है, जो कि अल्प विकसित देशों को अपेक्षाकृत कम मूल्य वाले उत्पादों के साथ विकसित देशों में बाज़ार पर छा जाने में सक्षम करता है।

श्रम सुधार और ह्रासमान श्रम कल्याण

राज्य उद्यमों का विनियमन तथा निजीकरण उन विकासशील देशों हेतु सहायता पैकेज़ से जुड़ी प्रतिबद्धताओं के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं द्वारा लागू संरचनात्मक संमजन कार्यक्रमों के व आर्थिक उदारीकरण के तीव्रीकरण हेतु मुख्य घटक रहे हैं। श्रम बाज़ार विनियमन संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण रहा है। सुव्यक्ति विनियमन देखने में आया है जिसके द्वारा औपचारिक नियमों को हटाया जा रहा है या फिर अधिक उपायों से उनका परित्याग किया जा रहा है, अथवा अव्यक्ति विनियमन भी जिसके द्वारा शेष नियमों को अपर्याप्त कार्यान्वयन तथा अतिक्रमण द्वारा कम प्रभावी बना दिया गया है। इस प्रकार का विनियमन इस धारणा पर आधारित रहा है कि सार्वजनिक क्षेत्र वेतन तथा रोज़गार नीतियों, न्यूनतम वेतन निर्धारण व रोज़गार सुरक्षा नियमों आदि उपायों के माध्यम से श्रम बाज़ार में अत्याधिक सरकारी हस्तक्षेप समंजन के मार्ग में गंभीर अवरोध है व उसको इसी वजह से हटाया जाना चाहिए तथा उसमें ढील दी जानी चाहिए। दुनियाभर की सरकारों ने बाध्य होकर श्रम मानकों को सरल बनाया है, कर नियमों में किंचित परिवर्तन किया है व व्यापक रूप से सुरक्षा मानकों में ढील दी है अथवा उन्हें अनदेखा किया है ताकि अधिकाधिक विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को आकर्षित किया जा सके। इससे श्रम मानक उत्तरोत्तर गिरते चले गए। परा देशीय कंपनियों व बहुराष्ट्रीय निगमों जैसी बड़ी निगम कंपनियों ने अपने उत्पादन के लिए शिकमी ठेका की एक विक्रेता प्रणाली चलाई है। ये कंपनियाँ ठेकेदारों के माध्यम से अपना काम श्रमिकों को सौंप देती हैं जो बदले में

कंपनी को उत्पादन की सुपुर्दगी करते हैं। इसका परिणाम होता है श्रमिकों की रोजगार संबंधी असुरक्षा तथा श्रम कल्याण का विकृत रूप, क्योंकि उनके कल्याण के लिए कोई नियंत्रण प्रणाली नहीं होती थी।

भूमण्डलीकरण का वर्तमान दौर कार्यबल के अस्थायीकरण तथा अनौपचारिकरण में भी पारित हो रहा है जिससे श्रमिकों के वेतन कम हो रहे हैं व रोज़गार सुरक्षा में कमी आ रही है, जबकि इससे कुछ कार्यबल हेतु रोज़गार अवसर भी पैदा हुए हैं। अनौपचारिक क्षेत्र में विकास का अर्थ है कि परम्परागत रोज़गार संबंधित लाभ तथा संरक्षण विधितंत्र इस क्षेत्र में नियोजित लोगों को उपलब्ध नहीं होंगे। वर्धित मशीनी करण और नई प्रौद्योगिकी का प्रयोग अधिक कुशल श्रमिकों की अपेक्षा रखते हैं तथा अकुशल श्रमिकों को हटा देते हैं। नई प्रौद्योगिकियाँ व तेज़ी से बदलता बाज़ार भूमण्डलीकरण के पश्चिमी अभिलक्षण—विद्यमान कौशलों को पुराना तथा अप्रचित कर देने की प्रवृत्ति भी रखते हैं, साथ ही उन्नत नए कौशलों अथवा बहु-कौशल संपन्नता की अपेक्षा। यह नए बाज़ार भी खोलता है जहाँ कर्मचारी वर्ग प्रचलित तथा पारंपरिक कौशलों को अपनाकर पहुँचा जा सकता है।

अर्थव्यवस्था के उदारीकरण ने कुछ क्षेत्रों में नए रोज़गार को उत्पन्न किए बगैर ही रोज़गार समाप्त कर दिया है। बाज़ार के खुलने से व व्यापार के मुक्त प्रवाह तथा कम सीमाशुल्कों से भारतीय श्रमिकों के रोज़गार अवसर घटाते विदेशी माल को प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए, बिहार के हज़ारों रेशम कताई-बटाई वालों का रोज़गार तब पूरी तरह छिन गया जब बुनकर व उपभोक्ता चीन-कोरिया से आयात होने वाले सिल्क के सस्ता तथा चमकदार होने के कारण उसी का धागा पसंद करने लगे।

श्रम का स्त्रीकरण

उदार आर्थिक नीतियाँ अपनाने वाले देश में श्रमशक्ति के रूप में महिलाओं की बड़ी संख्या में पदार्पण हुआ है। भूमण्डलीकरण के प्रसंग में उद्योगीकरण उतना ही नारी प्रेरित है जितना कि वह निर्यात-प्रेरित (संयुक्त राष्ट्रसंघ 1999)। वर्ष 1996 में 20-54 आयु वर्ग की महिलाओं की समग्र आर्थिक गतिविधि दर 70 प्रतिशत तक पहुँच गई। महिलाओं का सर्वाधिक समावेशन निर्यातोन्मुखी उद्योग क्षेत्र में देखा गया है। यह बात विशेषरूप से निर्यात संसाधन क्षेत्रों तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों में देखी जाती है व उन श्रम साधित उद्योगों में भी जो सस्ते श्रमिकों की तलाश में विकासशील देशों में पुनर्स्थापित हैं (हिलेरी 1999)। निवेशकों ने हल्के उद्योगों में महिलाओं के लिए वरीयता दर्शायी है, जैसे परिधान, जूता तथा खिलौना निर्माण, आँकड़ा प्रक्रमण (Data Processing), अर्ध चालक संयोजन उद्योग जिनमें अकुशल, अर्धकुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इसके बावजूद इसने किसी भी प्रकार महिलाओं के लिए कोई बेहतर स्थिति सुनिश्चित नहीं की थी। अनौपचारिक क्षेत्र जहाँ महिलाएँ भूमण्डलीकरण के चलते बड़ी संख्या में समावेशित कर ली गई हैं। बहुत ही खराब श्रम दशाएँ प्रस्तुत करते हैं। ऐसे उद्योग जहाँ महिलाएँ अधिकांश रूप में लगी थीं बेहद श्रम-साबित सेवोन्मुखी तथा अविंर्चन भुगतान वाले साबित हुए। अनेक देशों में निर्यात संसाधन क्षेत्रों में लगे श्रमिकों को संघीकरण व सामूहिक सौदेबाज़ी असंभव प्राप्त ही लगते हैं। भारत में कॉल सेन्टरों में कार्यरत महिलाएँ कुल कार्यबल का अनुमानत: 40 प्रतिशत हैं।

दरिद्रता

अर्थव्यवस्थाओं का खुलना मुख्य रूप से एक ऐसे कार्यतंत्र के रूप में देखा गया है जहाँ व्यापार ''एक विकास यंत्र'' तथा 'ग्रोथ इंजन' के रूप में काम करेगा व विकास परिणाम गरीब ''टपक-टपक-कर'' पहुँचेंगे। अन्यथा परिणाम मिले जुले रहे हैं जहाँ परंपरागत व्यापार सिद्धांत प्रदर्शनों के प्रतिकूल अनेक देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं में बढ़ती असमानताएँ देख रहे हैं (वर्धन 2003)। व्यापार के अन्तर्राष्ट्रीयकरण ने श्रम बाज़ार में गहरे परिवर्तन लाकर उत्पारन के वैश्वीकरण हेतु मार्ग प्रशस्त किया है। जैसे बढ़ती वेतन विषमता, कार्य की बढ़ती संविदात्मकता, कार्य का कुशलता आधारित विभाजन आदि। भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण नीतियाँ दुनियाभर में निम्न स्तर के अधिकाधिक लोगों के दरिद्रण में फलित हुई हैं। खाद्य के क्षेत्र में उद्योगीकरण व अनुवांशिक अभियांत्रिकी अथवा कृषि के क्षेत्र में व्यापार के वैश्वीकरण ने संसार के कृषि आधारित देशों में गरीबी बढ़ा दी है। असामान्य औद्योगिक कृषि के वैश्वीकरण ने मुद्रा अवमूल्यन उत्पादन लागत वृद्धि तथा

जिन्समूल्यों के पतन के मिले जुले प्रभाव से, जो कि सब अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की ही देन है। विकासशील तथा अल्पविकसित देशों के किसानों की आय पर प्रतिकूल असर पड़ा है।

भारत में प्रथम पीढ़ी सुधारों में औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर ध्यान केंद्रित किया गया तथा कृषि व ग्रामीण क्षेत्र को उपेक्षित छोड़ दिया गया। शहरी क्षेत्र में बड़े महानगर ही उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण से सर्वाधिक तत्काल प्रभावित हुए हैं। जहाँ भू प्रयोग व कार्य प्रतिमानों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सुधारों के आरंभ में किए दावे कि वे रोज़गार वृद्धि में सहायक होंगे सुधारो उपरांत काल के आँकड़ों का अध्ययन करने के बाद सत्य प्रतीत नहीं होते हैं (चड्डा एवं साहू 2002; सुन्दरम 2001)।

आर्थिक उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण का ग्रामीण के साथ-साथ शहरी गरीबी पर भी सीधा प्रभाव पड़ा। बैंकिंग के क्षेत्र में सुधारों के चलते ग्रामीण ऋण जो कि गरीबों के लिए गरीबी से परिहार हेतु एक मुख्य कारक है जिसके संस्थागत व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन ग्रामीण गरीब वर्ग के हितों के खिलाफ हो रहे हैं। अमान्य विकास प्रक्रियाएँ भी गरीबों की दरिद्रता की ओर अग्रसर करती है। सामाजिक क्षेत्र व्यय में गिरावट तथा सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में सामाजिक क्षेत्र व्यय में गतिहीनता भी गरीबों के हितों के विरुद्ध गए। शहरी क्षेत्रों में बड़े पैमाने के निवेश, विदेशी व भारतीय दोनों, ने शहरी भूमियों के अधिग्रहण की ओर प्रवृत्त किया जिसने परिमाणत: गरीबों को प्रभावित किया, खासतौर पर मलिन बस्तियों में रहने वालो, फेरी वालो, आश्रयहीनों, सड़कों गलियों में रहने वालों को, क्योंकि उन्हें शहर की परिधियों पर धकेल दिया गया था। जिनको कि अल्प लाभ रोज़गार तथा निकृष्ट जीवन दशाओं वाली विकृति से पहचाना जाता था।

अमान्य विकास प्रक्रिया

मान्य विकास को ऐसी तरक्की के रूप में परिभाषित किया जाता है जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भावी पीढ़ियों की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करें। इस परिभाषा के तहत विकास मात्र आर्थिक विकास तक ही सीमित नहीं है जबकि उसमें पर्यावरण रक्षा व हर व्यक्ति के लिए जीवन के मानकों तथा गुणवत्ता को सुधारने एवं उन्नत बनाने के लिए उद्देश्य को लेकर धन तथा संसाधनों का समान वितरण का भी समावेश किया गया है। भूमण्डलीकरण के दौर में दुनियाभर में अपनाई गई विकास प्रक्रियाओं को बाज़ार प्रतिस्पर्धा के एक उच्च स्तर द्वारा पहचाना जाता है जो कि प्राय: अमान्य विकास प्रक्रियाओं को अपनाती प्रतीत हुई होती हैं।

उदाहरण के लिए, भारत में देशी बीज़ों के स्थान पर आयतित संकर बीज़ों तथा नकदी फसलों का परिणाम हुआ भूजल का नल कूपों के माध्यम से अधिकाधिक दोहन, क्योंकि इनकी फसलों को अधिक पानी की आवश्यकता होती है। भूजल के अत्याधिक दोहन का परिणाम अकालों व गरीबी की अग्रसर करते ह्रासमान भूजल स्तर के रूप में सामने आया। उच्च उत्पादन संकट बीज कीट/कृतन्वों के आक्रमण के प्रति अधिक संवेदनशील है जिसका परिणाम होता है कीटनाशकों का अधिक प्रयोग रासायन आधारित उर्वरकों, विशेषत: रियायत प्राप्त उर्वर अंधाधुंध प्रयोग ने नाइट्रोजन व पोटाशियम जैसे अनिवार्य खनिज तत्वों के बीच असंतुलन पैदा कर दिया है। कृषि उत्पादन के चालू प्रतिमान तथा लोगों के बीच उसकी मान्यता के कारण भूमि, जल व पर्यावरण के अपवय संबंधी बढ़ती कार्यान्विति दिखाई पड़ती हैं (चंद 1999) मछली पालन के क्षेत्र में भारत सरकार की निर्यातोमुखी नीति ने महाजाल से मछली पकड़ने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों तथा परादेशीय कंपनियों को अनन्य आर्थिक क्षेत्र (Exclusive Economic Zone) के अंतर्गत समुद्र में जाने की अनुमति दे दी। इसके परिणामस्वरूप समुद्री परितंत्र एवं परंपरागत मछुआरा समुदाय की आजीविका का अंधाधुंध विनाश देखने में आया।

केरल, भारत में प्लाचीमाडा, कोका-कोला कंपनी का उदाहरण

अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भारत में ठंडा पेय के 90 कारखाने हैं जिसमें कोका कोला के 52 और पेप्सी के 38। वे इन्हें बोतल भराई समंच बताते हैं; दरअसल ये पंपिंग स्टेशन हैं जिनमें से प्रत्येक भूमि से 15 लाख लिटर जल प्रतिदिन दोहन करता है। एक लिटर कोक तैयार करने के लिए नौ लिटर स्वच्छ जल लगता है। इन मृद पेयों को बनाने में प्रयुक्त प्रक्रियाएँ सहज ही हानि पहुँचा रही हैं। भूजल का दोहन गरीब लोगों को

स्वच्छ जल सुलभता हेतु उनके मौलिक अधिकार से वंचित करता है। ये कारखाने विषैला अपशिष्ट उगलते हैं जो स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के प्रति खतरा उत्पन्न करता है और, ये उत्पाद स्वयं भी हानिकारक होते हैं। भारतीय संसद ने ठंडे पेय में कीटनाशी अवशेषों की विद्यमानता का पता लगाने के लिए एक संयुक्त समिति गठित की है।

मार्च 2000 में कोका कोला ने दक्षिणी राज्य केरल के पलक्कड़ जिला स्थित गाँव प्लाचीमाड़ा में एक संयंत्र लगाया जो कि प्रतिदिन कोका कोला, फैन्टा, स्प्राइट, लिम्का, थम्स अप, चिल्ली सोडा एवं माज़ा की 12 लाख बोतलें भरने पर अभिलक्षित था। स्थानीय पंचायत द्वारा जारी सशर्त लाइसेंस में उसे मोटरयुक्त पंप के प्रयोग की अनुमति थी, परन्तु कंपनी ने छः से भी अधिक कुएँ खोद डाले और लाखों लिटर शुद्ध जल खींचने के लिए अवैध रूप से उच्च शक्ति के विद्युत चालित पंप भी लगा लिए। जल स्तर भूसतह से 45 मी० से गिरकर 150 मीटर नीचे तक चला गया।

कोका कोला ने फिर उस किंचित जल को प्रदूषित किया जो वह समुदाय से चुरा नहीं पाया था। उसने अपने परिसर से बाहर अवशिष्ट फेंकना शुरु कर दिया। बरसात के मौसम में यह धान के खेतों, नहरों और कुओं तक फैल गया, जिससे गंभीर स्वास्थ्य संकट पैदा हो गया। कंपनी ने इस प्रक्रिया को रोक दिया और गंदा पानी सूखे गड्ढों में गिराना शुरू कर दिया जो कि कार्यस्थल पर ही ठोस अपशिष्ट निपटान के लिए खोदे गए थे। इससे जल संसाधन दूषित हो गए। चूँकि जल आपूर्ति व्यवस्था बिगड़ गई थी, स्थानीय आदिवासी महिलाओं को पेय जल लाने के लिए लगभग 5 किमी० चलकर जाना पड़ता था। इन महिलाओं ने भू जल रिक्तीकरण के खिलाफ़ कारखाने के गेट पर एक धरना आयोजित किया।

कोका कोला की करतूतों के कारण 260 कुएँ, जो कि पेय जल एवं सिंचाई की आवश्यकतापूर्ति के लिहाज से अधिकारियों द्वारा खुदवाए गए थे—सूख गए हैं। केरल का यह भाग 'चावल का कटोरा' कहा जाता है। परन्तु कृषि उत्पादन अचानक गिर गया है। और बुरी खबर है कि कोका कोला अपने कारखाने से निकले विषैले अपशिष्ट को ग्रामवासियों को मुफ्त खाद के रूप में बाँटता रहा है। विश्लेषण दर्शाते हैं किसी कीचड़ में कैडमियम और सीसा भरपूर मात्रा में होता है, जो कि दोनों कैंसर पैदा करते हैं।

वर्ष 2003 में ज़िला चिकित्सा अधिकारी ने प्लाचीमाड़ा के लोगों को बताया कि उनका पानी इतना प्रदूषित है कि वह पीने के लायक नहीं है। आदिवासी महिलाएँ ही थीं जिन्होंने अपने धरने के माध्यम से सबसे पहले कोका कोला की जल डकैती की निंदा की। उनकी पहल में भाइचारे से जुड़ी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्तियों की झलक दिखाई दी। फरवरी 2004 में केरल सरकार ने अन्ततोगत्वा आदेश दिया कि कोका कोला संयंत्र को बंद कर दिया जाए।

प्रवसन और शहरीकरण

प्रवसन तथा देशान्तरण कोई नया दृश्य व घटना नहीं है। लोगों ने सदा ही बेहतर आर्थिक अवसरों की तलाश में अपने घरों को छोड़ा है, अपने गृह प्रवेश के भीतर भी, बाहर भी। किन्तु आर्थिक भूमण्डलीकरण की वर्तमान गति ने विश्व प्रवजन में एक नयी जान फूंक दी है जिससे व्यापक निर्मूलन व एक अभूतपूर्व स्तर पर मानव उद्वासन दिखाई पड़ने लगा है। आकलित आँकड़ों के अनुसार, वर्तमान जगत में 6 में से लगभग 1 व्यक्ति तथा एक अरब से भी अधिक लोग, प्रवासी कर्मिकों के रूप में राष्ट्रीय सीमाएँ लाँघते हैं (मूसा 1999)। अनेक लोगों के लिए प्रवसन न सिर्फ एक विकल्प है जबकि एक आर्थिक आवश्यकता भी है, मुख्य रूप से राष्ट्रों के बीच व ग्रामीण तथा शहरी केन्द्रों के बीच असमान विकास के कारण।

शहरीकरण आवाजाही के लिए एक मुख्य प्रेरक शक्ति है क्योंकि शहरी क्षेत्र ग्रामीण लोगों के लिए अनेक आर्थिक अवसर प्रस्तुत करते हैं। शहरी श्रम बाज़ार बहुत ही कम माल मत्ते तथा हुनर व कला कौशलों की बुनियाद पर तत्काल रोज़गार शुरू करने/बदलने, आय तथा पूँजी को विविध उद्यमों में लगाने अथवा आगे बढ़ने के अवसर प्रदान करता है। हालाँकि दुनियाभर में शहरीकरण की दर में काफी भिन्नताएँ हैं। शहरीकरण की दर बढ़ाने में एक निर्धारक कारक के रूप में आर्थिक दबाव का स्वरूप प्रभावी होता है, न कि आर्थिक दबाव की दर (दशिंडकर एवं ऐन्डरसन 2004)। विनिर्माण उद्योग के विस्तार पर आधारित आर्थिक विकास,

जो कि वर्तमान भूमण्डलीकरण की एक पहचान बन चुका है, शहरीकरण की ऊँची दरों से संबद्ध होने की प्रवृत्ति रखता है जबकि कृषि विस्तार पर आधारित आर्थिक विकास प्रतिवर्ती से। जबकि यह निश्चित रूप से कहना जल्दबाज़ी होगी कि विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से हुए समझौते किस प्रकार भूमंडलीकरण को प्रभावित करेंगे, ऐसा पूर्वानुमान है कि यदि आर्थिक विकास का स्वरूप विनिर्माण की ओर अग्रसर है तो शहरीकरण की दर उससे अधिक होगी जितनी कृषि आधारित विकास के सहारे होती (स्टीवन व अन्य 2004)। इस बात की संभावना इसलिए है कि चीन जैसे देश जिनका तुलनात्मक लाभ मुख्य श्रम साधित विनिर्मित उत्पादों में ही निहित होता है। ग्रामीण शहरी प्रवजन की बढ़ोतरी देखेंगे। अस्थायी भी तथा दीर्घावधि भी। प्रेरक शक्ति होगी श्रम साधित निर्यातों का विस्तार, जो कि शहरी क्षेत्रों में श्रमिक वर्ग की माँग बढ़ाएगा तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के बीच वेतन भेद भी बढ़ाएगा। दक्षिण एशिया दूसरी ओर कृषि उत्पाद सूचना प्रौद्योगिकी जैसी हुनर सम्पन्न सेवाओं के निर्यात पर अधिक जोर देने की प्रवृत्ति रखता है, जो कि दोनों शहरीकृत क्षेत्रों में, श्रमिकों हेतु इतनी माँग पैदा नहीं कर सकते हैं। साथ ही, सस्ते निर्यात—उदारीकरण उपायों व निम्न आयात शुल्कों का परिणाम है—स्थानीय कृषि उत्पादन प्रणालियों पर खतरा उत्पन्न कर सकता है, जिसमें परिणामस्वरूप एक सीमित कौशल आधार वाले निरक्षर लोग काम की तलाश में शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन कर सकते हैं। इस बात के प्रमाण भी हैं कि भारत के लोग खेती बाड़ी क्षेत्र से परे जा रहे हैं। कारण बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार जहाँ रियायतों की कटौती तथा खाद्यान्नों के अन्तर ज़िला कारोबार की समाप्ति ने छोटे किसानों को व्यवसाय से बाहर कर दिया है। ऐसे मामलों में उनके सामने विकल्प यही बचता है कि ऐसे स्थानों पर चले जाएँ जहाँ बेहतर आर्थिक अवसर हों।

देशी ज्ञान का व्यवसायीकरण

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया देश के मूल निवासियों के कार्यक्षेत्रों, निवास स्थानों तथा संसाधनों पर हमला करती है जो कि उनकी जीवनशैली के विध्वंस की ओर प्रवृत्त कर सकती है। बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान देशी ज्ञान तक पहुँच बना लेते हैं व उसे अपनी धन वृद्धि तथा लाभ प्राप्ति के लिए एकाधिकार बना लेते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि देश के मूल निवासियों व शेष मानव जाति को उस ज्ञान को पाने के लिए पैसा चुकाना पड़ेगा जो कि तदनुसार व्यापारीकृत हो चुका होगा।

हयूमन जेनोम डाइवर्सिटी प्रोग्राम के तत्वाधान में, अमेरिका स्थित दवाई की कंपनियाँ स्वयं देशी लोगों का ही एकाधिकार प्राप्त कर रही हैं। वे बीज, औषिधियों व परंपरागत ज्ञान प्रणालियों तथा मानव जीनोमों को एकाधिकार में ला रहे हैं। यहाँ तक कि मानवता की जीवनाधार व्यवस्थाएँ जैसे—भूमि, जल, वन्यजीवन, जलीय जीवन, खनिज संसाधन भी दुनियाभर में विशाल बहुजन समाज के जीवन अथवा आजीविकाओं की कीमत पर वर्तमान भूमण्डलीकरण प्रक्रिया में उपभोक्ता वस्तु बन गए हैं। इसका परिणाम पर्यावरण विनाश, सामाजिक उद्‌वासन, सांस्कृतिक व जैविक विविधता का विलोपन आदि के रूप में सामने आ सकता है। साथ ही व्यापार तथा निवेश समझौतों द्वारा लागू प्राकृतिक संसाधनों के केन्द्रीभूत प्रबंधन में अंतर पीढ़ीय व अन्तरा पीढ़ीय सातव्य को कोई स्थान नहीं है।

(ज) धन संकेन्द्रण में बढ़ती असमानता

भूमण्डलीकरण बहुत ही असमान प्रक्रिया है जिसमें लाभ हानियों का असमान वितरण होता है तथा भूमण्डलीकरण की चालू प्रक्रिया में निवेश संसाधन उत्तरोत्तर वृद्धि तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी कुछ ही देशों में केंद्रित रहते हैं, जैसे उत्तर अमेरिका, यूरोप, जापान व पूर्व एशियाई देश जो कि विश्व के नव उद्योगीकृत देश हैं। अधिकांश विकासशील देश इस प्रक्रिया से बहिष्कृत हैं तथा सीमित तरीकों से भाग ले रहे हैं जो कि प्राय: उनके हितों के प्रति हानिकारक होते हैं; उदाहरण के लिए निर्यात उदारीकरण उनके घरेलू उत्पादकों को नुकसान पहुँचा सकता है व वित्तीय उदारीकरण अस्थिरता पैदा कर सकता है। (नप्पर 1997)।

भूमण्डलीकरण विभिन्न तथा श्रेणियों के देशों को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करता है। जबकि उत्तरोत्तर विकास तथा विस्तार पूरी तरह से भाग ले रहे देशों में दिखाई पड़ता है, काम चलाऊ व घटती-बढ़ती वृद्धि नए वैश्वीकृत ढाँचे में ठीक बैठने के प्रयास में लगे कुछ देशों में देखी जाती है और उपेक्षा व गिरावट ऐसे देशों में

देखा जाता है जो विकट समस्याओं से निकलने में अक्षम हैं जैसे वस्तु मूल्य व ऋण। वर्तमान भूमण्डलीकरण प्रक्रिया का विषम तथा असमान स्वरूप विश्व के अमीर व गरीब लोगों के बीच, विकसित तथा विकासशील देशों के बीच व लाभ-हानियों के वितरण में देशों के बीच विशाल भिन्नताओं में व्यक्त होता है। देशों के बीच ध्रुवीकरण के साथ ही उसके भीतर वर्धमान आय असमानता का भी जन्म हुआ है। भारत में 1993 व 2000 के बीच ग्रामीण क्षेत्रों की बजाय शहरी क्षेत्रों के बीच बढ़ते भेद का पता चलता है (डैटॅन एवं द्रेज़ 2002)।

भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक आयाम

भूमण्डलीकरण का हमारी सभी संस्कृतियों व हमारे रहने के तरीकों पर एक गहरा प्रभाव पड़ा है। हम जो खाते हैं तथा जिस तरीके से हम अपना खाना पकाते हैं, हम जो पहनते हैं व वह सामग्री जिससे हमारे वस्त्रादि बनते हैं, सत्रांत जो हम सुनते हैं पुस्तकें जो हम पढ़ते हैं यहाँ तक की भाषा जो हम दूसरों से बातचीत में प्रयोग करते हैं तथा इसने प्रभावित किया है। भूमण्डलीकरण ने कुछ भाषाओं को विलुप्त (मृत भाषा) तथा अप्रचलित कर दिया है जैसे— लैटिन। साथ ही, आज लोग पहले के मुकाबले कहीं अधिक द्विभाषी व बहुभाषी हैं अंग्रेज़ी हालाँकि विविध रूपों में (यथा ब्रिटिश इंग्लिश अमेरिकन इंग्लिश, इण्डियन इंग्लिश) लोक भाषा बन गई है तथा दुनिया में अंग्रेजी बोलने वालों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। सांस्कृतिक एकरूपता व सांस्कृतिक अनेकरूपता के बीच का तनाव आज भी विश्वव्यापी आदान-प्रदान की मुख्य समस्या है (अप्पादुरई ए० 2003)।

जबकि मैक लुआन जैसे विद्वान विश्व एकीकरण तथा विश्व ग्राम जो कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जन्म ले सकता है व फलस्वरूप सीमाएँ लाँघकर सांस्कृतिक एकीकरण की बात करते हैं तो सांस्कृतिक उपेक्षा तथा सांस्कृतिक बहिष्करण संबंधी आशंकाएँ भी सामने आती हैं। वस्तुओं, विचारों व लोगों तथा पूँजी का विश्वव्यापी प्रवाह अनेक तरीकों से राष्ट्रीय संस्कृति पर एक खतरे के रूप में देखा जा सकता है (मानव विकास रिपोर्ट 2004)। इस भाग में, आइए भूमण्डलीकरण के कुछ सांस्कृतिक आयामों पर नजर डालते हैं।

(क) सांस्कृतिक हस्तक्षेप की तीव्र गति

सांस्कृतिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक गतिवाद सदा ही अन्य संस्कृतियों के साथ एक परस्पर क्रिया का परिणाम रहा है। हालाँकि व्यक्तिगत तौर पर संस्कृतियों में सजातीयता पर जोर रहा है किंतु संस्कृतियों की दीवार अक्सर टूटती रहती है। मिलन की प्रक्रिया से संस्कृति में विविधता आती है और इसमें लगातार परिवर्तन होता रहता है। सांस्कृतिक गतिवाद एक तालमेल की प्रक्रिया का परिणाम है साथ ही सांस्कृतिक सहजगुणों को गृहति करने व अनुकूल बनाने की प्रक्रिया का भी अथवा प्राय: में सहजगुण जो गृहीत व अनुकूलित किए जाते हैं। उन संस्कृतियों से आते हैं जो अनुरूप, दूरस्थ तथा अन्य देशीय होती हैं।

ऐतिहासिक रूप से, सांस्कृतिक गतिवाद वहाँ सर्वाधिक रहा है जहाँ व्यापार एवं लेन-देन सामान्यतया प्रचुर एवं पाक्षिक रहा है। राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय संस्कृतियाँ निरपवाद रूप से अन्य संस्कृतियों से विभिन्न घटकों के आत्मसातीकरण का परिणाम होती है, घटकों का एक संयोजन जो कि सांस्कृतिक हस्तक्षेप का ही परिणाम होता है।

बन्दरगाह तथा नदी तट ऐतिहासिक रूप से संस्कृति व सभ्यता के केन्द्र रहे हैं। आज उच्च प्रौद्योगिकी संचार युग में, जिसमें सूचना अथवा संचार प्रौद्योगिकियों ने संचार को अतीत की तुलना में अधिक सरल द्रुत व सस्ता बना दिया है, अधिकाधिक सांस्कृतिक अन्तर्वेशन हो रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भूमण्डलीकरण के गतिवर्धन ने सांस्कृतिक परिवर्तन की गति को बढ़ा दिया है।

सांस्कृतिक हस्तक्षेप वस्तु विनिमय के माध्यम से आज इतना व्यापक है कि मौलिक तथा आयातित गुणों के बीच भेद करना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य ही है। इस्तनबुल में 'तुर्किश कॉफी' पीते एक व्यक्ति पर विचार करें। कॉफी इथोपिया में पैदा हुई चीनी भारत में व न्यूग्रिबी में, पॉर्सियन कप चीन में, रेस्तरां में मेज़ पर बिछा कपड़ा सूत से बना है जो कि मध्य अमेरिका में पालित एक पौधे से उत्पन्न होता है और रेस्तरां स्वयं एक फ्रांसीसी आविष्कार है। इसी प्रकार, बीमारियाँ जो विश्व के एक भाग में पैदा हुई, विश्व के अन्य भागों को भी निर्यात हो जाती हैं। उदाहरण के लिए अफ्रीका से निर्यातित एच आई वी/एड्स विश्व के शेष भाग में पहुँचा।

सार्वभौमिक संगीत का अन्तर्वेशन विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के बीच परंपरागत संगीत के उपान्तीकरण में पारित हुआ है। आज पॉप संगीत तथा उसके स्थानीय रूप सभी सामाजिक परिवेशों में शादियों से लेकर धार्मिक तीज़ त्योहारों तथा जन्मदिन समारोहों में सुना जा सकता है।

(ख) संस्कृति का वैश्वीकरण

व्यापार समझौतों ने मानव समाज के संघबद्ध आक्रमण व नियंत्रण के समक्ष सभी अवरोधों तथा प्रतिरोधों को समाप्त कर दिया है। दूर संचार साधनों के उदारीकरण के सहारे समष्टि संस्कृति दुनिया भर राज करने को तैयार है। आज सारा संसार एक ही टी वी कार्यक्रमों, फिल्मों, समाचार, संगीत, जीवनशैली व मनोरंजन से तारबद्ध हो जुड़ गया है। सैटेलाइट केबल फोन वॉकमैन, वीसीडी, डीवीडी तथा खुदरा बिक्री महायंत्र व मनोरंजन प्रौद्योगिकी के चमत्कार अथ२वा आश्चर्यजनक वस्तुएँ संस्कृति के जन विपणन व उपभोक्ता संस्कृति के विस्तार को बढ़ावा दे रही हैं। इससे एक एकरूपता विश्व संस्कृति का जन्म हो सकता है। संचार उद्योग के उदाहरण में लाभ तथा प्रतिस्पर्धा की तर्कसंगति ने संचार निगमों को संचार माध्यमों व अंतरिक्ष बाज़ारों को विस्तीर्ण करने अथवा राष्ट्रीय समुदायों की प्राचीन सीमाओं व सीमान्तों को समाप्त करने हेतु प्रेरित किया है।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की उन्नति व बाज़ारों के सुधार के साथ ही पृथ्वी एक विश्व ग्राम में बदल गयी है। यह उपभोक्तावाद में वृद्धि के चलते विश्व जनसंस्कृति के उद्‌गमन में भी पारित हुआ है। यह स्थानीय सांस्कृतिक विकसित से परिहार कर दुनियाभर में प्रचलित जीवनशैलियों में बढ़ती समानताओं को रूप भी ले सकता है।

वर्तमान विश्व संचार प्रौद्योगिकियाँ संस्कृति के वैश्वीकरण की ओर प्रवृत करती हैं जो कि समुदाय व पारंपरिक संस्थानों के अर्थ तथा जीवन के मूल्यों को मुक्त रूप से क्षति पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिए भारत में इसने कहानी सुनाने की परंपरा समाप्त कर दी है जिसके माध्यम से वृद्धजन अपने अनुभव, संस्कृति, परंपराएँ मौखिक इतिहास तथा जीवनदृष्टि बच्चों तक पहुँचाते थे जिन्हें कि स्थान व अपने उद्‌गम का बोध होता था (मैण्डर 1996)। इसी प्रकार कंप्यूटर मानव संक्रियाओं हेतु अनुकल्प बन गए।

हमारी अपनी संस्कृति योजनाबद्ध रूप से विनियोजित तथा पण्यीकृत की जा रही है। प्रसंग से उखड़े व अपनी जड़ों से कटे लोक व जनजातीय पर्वों का इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के सहारे संवेष्टन (packaging) तथा विपणन (marketing) किया जा रहा है। (पाणिकर 1995)।

(ग) संकर संस्कृति का विकास

सिक्के के दो पहलुओं की तरह कई बार भूमण्डलीकरण कभी तो सबको साथ लेकर चलता है तथा कभी असमानता व अलगाव पर बल देता है। यह बात सांस्कृतिक प्रभाव के विषय में भी सत्य है जिस प्रकार भूमण्डलीकरण एक मात्र विश्व संस्कृति तथा एक एकरूपता संस्कृति की ओर प्रवृत्त कर सकता है, यह नए कम परिवर्तनों, नए संयोजनों, नए विकल्पों एवं नई संस्कृतियों की ओर भी प्रवृत्त कर सकता है (ग्रिफिन, 2004)। इस प्रकार विश्वव्यापी सम्मिलन व संक्रियाएँ आविष्कार कुशल नए सांस्कृतिक स्वरूपों को जन्म दे सकती है। इस अर्थ में एक तीसरी संस्कृति व संकर संस्कृति जन्म लेती है जिसकी पहचान है सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में निरन्तरताओं अथवा परम्पराओं के साथ सह-अस्तित्व में सामाजिक नवप्रवर्तन एवं परिवर्तन।

(घ) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान

भूमण्डलीकरण सक्रिय सांस्कृतिक अभियान चलाए जाने को भी बढ़ावा देता है ताकि स्थानीय पहचानों की रक्षा की जा सके। राष्ट्र विश्व सांस्कृतिक एकीकरण के अस्वीकार करते हैं तथा लोग स्थानीय इतिहासों, पहचानों व परंपराओं के प्रति निष्ठावान रहते हैं। उदाहरण के लिए यूरोपीय देशों ने अमेरिकीकरण के खतरे के विरुद्ध अभियान चलाया है तथा यूरोपीय संस्कृतियों की विविधता भिन्नता की रक्षा की है।

छात्र क्रियाकलाप

1. भूमण्डलीकरण की अंतरतम विशेषताएँ बताइए।

2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त व भूमण्डलीकरण पर प्रकाश डालिए।

3. वर्तमान भूमण्डलीकरण की विशेषताओं पर चर्चा कीजिए।

4. भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक आयाम पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध विषय पर लिखे अधिकांश आधुनिक विश्लेषणों में ''भूमण्डलीकरण'' शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। कुछ विद्वान तो ऐसा कहने लगे हैं कि भूमण्डलीकरण (वैश्वीकरण) के संदर्भ के बिना समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों का अध्ययन ही निरर्थक है।

भूमण्डलीकरण की अनेकों परिभाषाएँ दी गई हैं। उनमें असीमित प्रकरणों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है—उनमें कुछ इसे ऐसी बहुमुखी घटना कहते हैं जो कि मानव अनुभव के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों को प्रभावित करती है। दूसरी ओर ऐसा प्रकरण भी है जो भूमण्डलीकरण को केवल आर्थिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति मानता है।

भूमण्डलीकरण के तत्त्व क्या हैं इस सम्बंध में विभिन्न बोध (perceptions) ऐसे विवाद के जनक कहे जा सकते हैं कि इस प्रक्रिया से क्या लाभ हुए हैं, व क्या हानियाँ। एक सुझाव यह है कि भूमण्डलीकरण ने दो विभिन्न क्षेत्रों-राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय के मध्य के अंतर को कम कर दिया है। यह अंतर पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय विषय का आधार अथवा मौलिक तर्क है। उपरोक्त सुझाव को कुछ लोग तो स्वीकार करते हैं, अन्य उसे गलत बताते हैं। जो भूमण्डलीकरण का स्वागत करते हैं उनके अनुसार, यह विश्व शांति, मानव सुरक्षा व आर्थिक सम्पन्नता को प्रोत्साहन देगा। अन्य विद्वान इस दावे का खंडन करते हुए, तर्क देते हैं कि भूमंडलकरण लोकतंत्र, मानव स्वतंत्रता व पहचान के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

कुछ ऐसे समीक्षक हैं जो भूमण्डलीकरण के साथ घटी घटनाओं का स्वागत करते हैं, वे उन विचारों को रद्द करते हैं जो इस प्रक्रिया के वांछनीय व अवांछनीय परिणामों में अंतर करते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के लिए राष्ट्र-राज्य अनिवार्य है। राष्ट्र-राज्य के महत्व पर बल देते हुए वे यह तर्क, या सुझाव, देते हैं कि विश्व स्तर की समस्याओं को सुलझाने के लिए, सभी राष्ट्र-राज्यों को एक दूसरे के साथ सहयोग करके कार्य करना चाहिए। उनका यह भी विश्वास है कि भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप एक ऐसे विश्व समाज का उदय होगा जिसमें भागीदार होंगे राष्ट्र-संघ व ग़ैर-सरकारी संगठन (NGOs)। इस समाज को अन्तर्राष्ट्रीय संधियों तथा समझौतों के समर्थन से मिलाकर रखा जाएगा।

भूमण्डलीकरण के अर्थ तथा आयामों पर विविध विचारों के बावजूद, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध की एक अवधारणा के रूप में इसकी समीक्षा करने के लिए कुछ व्यवस्थित विकास करना होगा। ऐसा करने से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध के सिद्धान्त तथा भूमण्डलीकरण के पारस्परिक सम्बंध अधिक स्पष्ट होकर आसानी से बोध योग्य हो सकेंगे। ऐसा करने के लिए न केवल राज्य की संप्रभुता को पुन: परिभाषित करना होगा, किन्तु उस आधार पर, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध में भूमण्डलीकरण के अध्ययन को विश्लेषणात्मक बनाने के लिए नवीन संरचना भी करनी होगी।

● अभ्यास प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण के समर्थकों व आलोचकों के परस्पर विरोधी तर्कों की व्याख्या कीजिए।
2. भूमण्डलीकरण के आर्थिक आयामों को स्पष्ट कीजिए।
3. भूमण्डलीकरण का सरल अर्थ समझाइए।

●

इकाई-I

3

भारत में शहरीकरण और शहरी राजनीति

(URBANISATION AND URBAN POLITICS IN INDIA)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- शहरी और शहरवाद
- शहरीकरण की प्रक्रिया
- भारत में शहरीकरण
- शहरीकरण के सिद्धांत
- भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभाव
- शहरी राजनीति
- शहरीकरण की समस्याएँ
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- शहर और शहरवाद को
- भारत में शहरीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को
- शहरीकरण विषयक सिद्धांतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन को
- शहरी राजनीति को
- शहरीकरण के सामाजिक प्रभावों एवं समस्याओं को

● प्रस्तावना

निश्चय ही आपने ''शहरीकरण'' शब्द अवश्य सुना होगा व इसके अर्थ से भली-भाँति परिचित भी होंगे। शहरीकरण, वस्तुत: शहरी बन जाने, शहरों का स्थानांतरण हो जाने, कृषि से शहरों में आम अन्य पेशों, जैसे—व्यापार, विनिर्माण, उद्योग एवं प्रबंधन की ओर चले जाने, और व्यवहार प्रतिमान के अनुकूल परिवर्तनों संबंधी प्रक्रिया ही है। यह अंतर्संबंधों की उस संपूर्ण व्यवस्था में विस्तार की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई जनसमुदाय स्वयं को अपने वास-स्थान में कायम रखता है। शहरी जनसंख्या की वृद्धि की ओर प्रवृत्ति करते कस्बों व शहरों के आकार में वृद्धि ही शहरीकरण का सबसे महत्वपूर्ण आयाम है। शहरी केंद्र अनिवार्यत: प्रकृति में गैर-कृषिक भी होते हैं। प्राचीन काल में रोम या बगदाद जैसे बहुत-से शहर होते थे, परंतु जब से उद्योगीकरण व औद्योगिक उत्पादन तथा क्षेत्र-स्तरीय उत्पादन में वृद्धि हुई है, शहर अपूर्व रूप से बढ़े हैं और अब शहरीकरण हमारे वर्तमान जीवन का एक अभिन्न अंग बन चुका है।

● शहरी और शहरवाद

शहरी क्षेत्र से आप क्या समझते हैं? यह शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है—जनसांख्यिकीय एवं समाजशास्त्रीय। जनसांख्यिकीय रूप से, संकेंद्रण जनसंख्या के आकार तथा घनत्व पर और अधिकांश वयस्क पुरुषों की कार्य-प्रकृति पर होता है। समाजशास्त्रीय रूप से, संकेंद्रण विषय-जातीयता, निवैयक्तिकता, अंतनिर्भरता एवं जीवन की गुणवत्ता पर होता है। टॉनी (1957) ने सामाजिक संबंधों एवं मूल्यों के लिहाज से जैमेंशाफ्ट (gemeinschaft) अर्थात् ग्रामीण तथा जेसेलशाफ्ट (gesellschaft) अर्थात् शहरी के बीच भेद किया है। पूर्ववर्ती वह है जिसके अन्तर्गत सामाजिक बंधन नातेदारी एवं मित्रता के गहन व्यक्तिगत बंधनों पर आधारित होते हैं, और जोर परंपरा, मतैक्य एवं अनौपचारिकता पर रहता है, जबकि परवर्ती में, निवैयक्तिक एवं गौण संबंध मुख्य प्रधान होते हैं ओर लोगों के परस्पर कार्यकलाप औपचारिक, आनुबंधिक एवं उनके द्वारा किए जाने वाले विशेष कार्य या सेवा पर निर्भर रहते हैं। अन्य समाजशास्त्रियों जैसे मैक्स वेबर (1961) एवं जॉर्ज सिमल 1950 ने सघन जीवन दशाओं में परिवर्तन की तीव्रता तथा शहरी परिवेश में भी निर्वैयक्तिक अंतर्क्रिया पर बल दिया है।

भारत में, जनसांख्यिकीय एवं आर्थिक संसूचक कस्बा अथवा शहर जैसे विशिष्ट क्षेत्रों को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण हैं। ''कस्बे'' की जनगणना परिभाषा 1901-1951 की कार्यकाल में न्यूनाधिक एक ही रही लेकिन 1961 में एक नई परिभाषा चुनी गई। 1951 तक ''कस्बे'' में शामिल थे—

1. एक आवासित स्थान जिसकी कुल जनसंख्या 5000 व्यक्तियों से कम न हो।

2. प्रत्येक नगरपालिका, नगरनिगम एवं अधिसूचित क्षेत्र जिसका आकार कुछ भी हो सकता है; और

3. सभी सिविल लाइंस क्षेत्र जो कि कस्बे सीमाओं में शामिल न हों।

इस प्रकार, यह तय करने के लिए कि कोई स्थान विशेष कस्बा है अथवा नहीं, मुख्य मानंदथ था प्रशासनिक व्यवस्था न कि जनसंख्या का आकार। इसी परिभाषा के कारण वारतविकता में अनेक कस्बे अतिविकसित गाँवों से अधिक नहीं हो पाये थे।

1961 में ''कस्बे'' को पुनर्परिभाषित किया गया और अनेक आनुभविक परीक्षणों के आधार पर उनका निर्धारण किया गया, था, जैसे—

(क) जनसंख्या कम से कम 5000 हो

(ख) जनसंख्या घनत्व 1000 प्रति वर्ग मील से कम न हो

(ग) कामकाजी जनसमुदाय के तीन-चौथाई लोगों के व्यवसाय कृषि के अतिरिक्त हों; और

(घ) स्थान में कुछ विशेषताएँ एवं सुख-सुविधाएँ होनी चाहिए, जैसे नव स्थापित औद्योगिक क्षेत्र, वृहद् आवासीय बस्तियाँ, एवं पर्यटन के महत्व वाले स्थान व जन-सुविधाएँ हों। ''कस्बे'' की नई परिभाषा के परिणामस्वरूप ही 1951 व 1961 के बीच भारत में कस्बों की संख्या में कुछ कमी आई। 1961 के आधार को ही 1971, 1981 एवं 1991 की जनगणना में अपनाया गया।

समाजशास्त्री शहर की परिभाषा में जनसंख्या के आकार को अधिक महत्व नहीं दिया गया। क्योंकि न्यूनतम जनसंख्या मानक काफी भिन्न भी होते हैं। शहर किसी क्षेत्र की एक प्रशासनिक रूप में परिभाषित इकाई होती है जिसमें ''सामाजिक रूप से विषम जातीय व्यक्तियों का एक अपेक्षाकृत वृहद्, सघन एवं स्थायी आवास होता है'' (वर्थ 1938)। शहरी ऐसे विशेषीकृत, गैर-कृषिक कार्यकलापों की एक मुख्य श्रृंखला की ओर संकेत करता है जोकि शहरवासियों के अभिलक्षण तो होते हैं परंतु उनके लिए अनन्य नहीं। कराधान एवं पूँजी संचय व लेखन हेतु क्षमता तथा भविष्यवाणी विज्ञानों, कलात्मक अभिव्यक्ति व अत्यावश्यक वस्तुओं के

व्यापार के लिए उसके अनुप्रयोग आदि इस प्रकार के विशेषीकृत कार्यकलाप हैं जो एक सही मायनों में शहरी स्थान के उद्‌गमन की परिभाषा के लिए आवश्यक होते हैं (चिल्दे 1950)।

सन् 1971 की जनगणना ने एक नया शब्द का प्रयोग किया—शहरी संकुलन (Urban agglomeration)। काफी प्राधिक रूप से बड़ी रेलवे श्रमिक-बस्तियाँ, विश्वविद्यालय के मैदान, बंदरगाह क्षेत्र, सैनिक शिविर, आदि शहर या नगर की वैधानिक सीमाओं से बाहर होते हैं किंतु उनसे लगे रहते हैं। ऐसे क्षेत्र स्वयं नगरों के रूप में लिए जाने के योग्य नहीं होते परंतु यदि वे संलग्न नगर के साथ-साथ निरंतर वृहत्तर होते हें तो उन्हें शहरी माना जाना गलत न होगा। ऐसी बस्तियों को अधिवृद्धि (outgrowth) नाम दिया जाता है, और इनमें पूरा का पूरा गाँव, अथवा उसका कोई हिस्सा आ सकता है। दो या अधिक कस्बे/नगर भी परस्पर सटे हो सकते हैं। अपनी अधिवृद्धियों के साथ ऐसे नगरों को एक शहरी इकाई भी माना जा सकता है और ''शहरी संकुलन'' पुकारा जाता है।

शहरवाद

शहरवाद को विभिन्न विद्वानों के द्वारा सांस्कृतिक एवं सामाजिक अन्त:क्रिया के प्रतिमानों के रूप में परिभाषित किया गया है, जो कि अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्रों में वृहद् जनसमुदायों के संकेंद्रण से जन्म लेते हैं। यह एक जटिल श्रम-विभाजन, प्रौद्योगिकी के उच्च स्तरों, उच्च गतिशीलता, आर्थिक प्रकार्यों को पूरा करने में उसके सदस्यों की अन्योन्याश्रिता एवं सामाजिक संबंधों में निर्वेयक्तितता के लिहाज से समाज के एक संगठन को भी विशेष रूप से प्रस्तुत करता है (थिओडोर्सन 1969)।

लुई वर्द का मानना है कि जीवनशैली के रूप में शहरवाद को तीन अंतर्संबद्ध पहलुओं से आनुभाविक रूप से समझा जा सकता है—

एक भौतिक संरचना के रूप में, जिसके साथ एक जनसंख्या आधार, प्रौद्योगिकी और पारिस्थितिकीय व्यवस्था होती है।

सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में, जिसके साथ एक संरचना एवं संस्थाओं की श्रृंखला होती है (माध्यमिक सम्पर्क, नातेदारी बंधनों, आदि का कमजोर होना।)

प्रवृत्तियों, अवधारणाओं एवं व्यक्तित्व-समूह की एक श्रृंखला के रूप में (बढ़े व्यक्तिगत विघटन, आत्महत्या, अपराध, अपचार एवं भ्रष्टाचार)।

● शहरीकरण की प्रक्रिया

परिवर्तन की एक संरचनात्मक प्रक्रिया के रूप में शहरीकरण ज्यादातर औद्योगीकरण से जुड़ा है किंतु यह सदा ही शहरीकरण का परिणाम नहीं होता। शहरीकरण शहरों में वृहद् स्तरीय एवं लघुस्तरीय औद्योगिक एवं व्यापारिक, वित्तीय एवं प्रशासनिक प्रतिष्ठानों के संकेंद्रण; परिवहन एवं संचार में भी प्रौद्योगिकीय विकास; सांस्कृतिक एवं आमोद-प्रमोद क्रियाकलापों आदि की वजह से होता है। औद्योगिकरण पर शहरीकरण का आधिक्य जो शहरी क्षेत्रों में आने वाले सभी व्यक्तियों के लिए रोजगार प्रदान करना संभव बनाता है, विशेषत:, वह है जो कभी-कभी अतिशहरीकरण की ओर प्रवृत्त करता है। भारत में एक विशिष्ट दृश्यघटना देखी जाती है—कृषि से उद्योग की ओर जनसमुदाय के किसी महत्वपूर्ण स्थानांतरण के बगैर ही औद्योगिक विकास और कुल जनसंख्या के प्रति शहरी के अनुपात में बिना किसी खास वृद्धि के ही शहरी जनसंख्या की वृद्धि। जबकि अनुपात के लिहाज से, ग्रामीण से शहरी क्रियाकलापों की ओर अधिक स्थानांतरण बेशक न हो, परंतु ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जनसमुदाय का फिर भी काफी व्यापक प्रवसन होता है। इससे शहरी क्षेत्र पूरी तरह से भर जाते हैं, इस कदर जनसंख्या वृद्धि से संरचनात्मक सुविधाओं का भी अभाव जन्म ले लेता है।

शहरीकरण एक सांस्कृतिक एवं सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा लोग भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति अर्जित करते हैं, जिसमें शामिल है व्यवहारात्मक प्रतिमान, संगठन के स्वरूप, एवं विचार जो शहर में जन्मे, अर्थात् उसने भिन्न हैं। हालांकि सांस्कृतिक प्रभावों का प्रवाह दोनों दिशाओं में होता है—शहर की ओर भी और उससे दूर भी—इस बात पर काफी सहमति है कि गैर-शहरी लोगों पर शहर द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सांस्कृतिक प्रभाव प्रतिकूल न होकर संभवत: व्यापक अधिक हैं। इस आलोक में देखे जाने पर शहरीकरण विश्व के ''पश्चिमीकरण'' में भी परिणत हुआ है, जैसा कि टॉइन्बी कहते हैं।

प्रसरण (Diffusion) एवं परसंस्कृति-ग्रहण (Reculturation) के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या किए जाने पर शहरीकरण की अवधारणा को और सटीक एवं सार्थक बनाया जा सकता है। शहरीकरण अंत:समाज या अंतर-समाज प्रसरण के रूप में अभिव्यक्त हो सकता है, यथा, शहरी संस्कृति एक ही समाज के विभिन्न भागों में फैल सकती है अथवा यह सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघकर अन्य समाजों में भी फैल सकती है। इसमें लेन-देन दोनों ही शामिल होता है। प्रसरण के दूसरी ओर परसंस्कृति-ग्रहण है, यानी वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग भौतिक स्वत्व, व्यावहारिक प्रतिमान्, सामाजिक संगठन, ज्ञान-निकाय, एवं ऐसे समूहों के अर्थ अर्जित करते हैं जिनकी संस्कृति स्वयं से ही कई लिहाज से भिन्न होती है। शहरीकरण को एक जटिल प्रक्रिया के रूप में इसी आलोक में विशेषकर देखा जाता है (गिस्ट एवं फैवा: 1933)।

भारत में शहरीकरण का इतिहास अपने पूरे कार्यकाल में मुख्य रूप से कारगर चार प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है। यह हैं—

(क) एक सामाजिक-परिवर्तन प्रक्रिया के माध्यम से शहरवासियों के बीच तथा शहरीजन एवं ग्रामीणजन के बीच नए सामाजिक संबंधों का उदय;

(ख) राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तनों के साथ शहरों का उत्थान तथा पतन;

(ग) नई उत्पादन प्रक्रियाओं पर आधारित शहरों की वृद्धि, जोकि शहर के आर्थिक आधार को बदल डालती हैं; और

(घ) प्रवासियों के अंतर्वाह के साथ शहरों का भौतिक प्रसार, जोकि आजीविका के साधनों की तलाश में और एक नई जीवन-शैली अपनाने के लिहाज से वहाँ आते हैं।

उप-शहरीकरण एवं अधिशहरीकरण

उप-शहरीकरण (Sub-Urbanisation) किसी शहर के अधिशहरीकरण से पारस्परिक जुड़ा होता है। जब शहर जनसंख्या से अति संकुलित हो जाते हैं, जिससे कि उप-शहरीकरण जन्म लेता है। दिल्ली इसका विशिष्ट उदाहरण है। उप-शहरीकरण का अर्थ है—शहरों के इर्द-गिर्द ग्रामीण क्षेत्रों का शहरीकरण, जिसके मुख्य अभिलक्षण निम्नलिखित हैं—

भूमि के ''शहरी (गैर-कृषिक) प्रयोगों'' में तीव्र वृद्धि,

अपनी कस्बों सीमाओं में कस्बों के आसपास के क्षेत्रों का सम्मिलन, एवं

कस्बे एवं उसके आसपास के क्षेत्रों के बीच सभी प्रकार की गहन संचार व्यवस्था।

अति शहरीकरण (over urbanisation) किसी शहर अथवा उसके आसपास के ग्रामीण क्षेत्र में शहरीकरण के तत्वों संबंधी अभिवर्धित सोदाहरण प्रतिपादन की ओर संकेत करता है। यह शहरवादी विशेषताओं के अत्यधिक विकास में परिणत होता है। शहरी क्रियाकलापों एवं व्यवसायों के शृंखला-विस्तार, उद्योग जैसे गौण प्रकार्यों के अधिकतर अंतर्वहन, एक जटिल अधिकारीतंत्रीय प्रशासनिक तंत्र के वर्धमान एवं व्यापक विकास, जीवन के अभिवर्धित कृत्रिमीकरण एवं यंत्रीकरण तथा ग्रामीण क्षेत्र के आसपास शहरी तत्वों

का अंतवर्हन के कारण अति शहरीकरण धीरे-धीरे समुदाय के ग्रामीणवादी तथा परंपरावादी विशेषताओं का स्थान ले लेता है। मुम्बई एवं कोलकाता ऐसे ही शहरों के दो विशेष उदाहरण हैं।

शहरीकरण: एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया

विदेशी तथा संकर-सांस्कृतिक प्रभावों को स्वीकारे जाने संबंधी अपनी उच्चतर मात्रा के लिहाज, शहर सामाजिक मानवकृतियाँ हैं और देहात से अलग-अलग स्थित होते हैं। ये विविध नृजातीय, भाषायी एवं धार्मिक पृष्ठभूमियों वाले लोगों का एक ऐसा मिलन स्थल स्थान-गलन-पात्र (melting pot) कहलाते हैं जहाँ विभिन्न किस्म के लोग अथवा विचार धीरे-धीरे आपस में मिल जाते हैं। इस रोशनी में देखे जाने पर, शहरीकरण लोक, कृषक तथा सामंती ग्राम समाजों की एक समाजिक-सांस्कृतिक रूप-परिवर्तन प्रक्रिया है। भारत का 600 ईसापूर्व से ही शहरीकरण का एक सतत इतिहास रहा है। इस काल में तीन प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं ने भारतीय शहरी समाजों की प्रकृति को मुख्यत: रूपायित किया। ये हैं—अर्थीकरण, पारसीकरण तथा पश्चिमीकरण।

शहरीकरण के आर्थीकरण चरण में तीन प्रकार के शहरों का जन्म हुआ—

(क) राजधानी शहर, जहाँ क्षत्रियों की धर्मनिरपेक्ष सत्ता प्रभावी थी;

(ख) व्यापारिक शहर, जहाँ वैश्यों का अधिक प्रभाव था; और

(ग) पवित्र शहर, जो कि एक समय बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबियों के प्रभाव में रहे जोकि क्षत्रिय थे, और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के प्रभाव में।

दसवीं शताब्दी ईस्वी से मुस्लिम शासन के सूत्रपात के साथ ही भारत में शहरी केंद्रों ने एक पूरी तरह नया सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। शहर इस्लाम धर्मावलंबी बन गया; फारसी और फिर उर्दू राज-काज की भाषा बन गई तथा फारसी संस्कृति ही शहरी अभिजात वर्ग के व्यवहार पर अधिक हावी रही।

भारत में 150 वर्षीय ब्रिटिश शासन का प्रभाव, यानी, पश्चिमीकरण आज शहर के विभिन्न पहलुओं में स्पष्ट देखा जा सकता है—प्रशासन में, शिक्षा में, और शहर के लोगों की सामाजिक अन्त:क्रिया की भाषा तथा उनकी वेशभूषा एवं तौर-तरीकों में। शहरवाद का पश्चिमीकरण से स्पष्ट तादात्म्य है।

शहरीकरण: एक राजनीतिक-प्रशासनिक प्रक्रिया

अतीत में प्रशासनिक एवं राजनीतिक घटनाक्रम ने शहरीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यह क्रम आज भी प्रासंगिक है। लगभग पाँचवीं शती ईसापूर्व से 18वीं शती ईस्वी तक भारत में शहरी केंद्र राज्यों एवं साम्राज्यों के उत्थान-पतन के साथ ही उभरते, उतरते अर्थात् मिटते देखे गए। पाटिलीपुत्र, दिल्ली, मदुरै एवं गोलकुंडा, आदि सभी ऐसे ही उदाहरण हैं जो फले-फूले, बर्बाद हुए, और यदाकदा राजनीतिक परिदृश्य में परिवर्तनों के चलते फिर से आबाद भी हुए। प्रशासनिक या राजनीतिक कारक शहरी विकास के लिए मुख्यत: एक प्रारंभिक प्रेरणा का काम करते हैं; जिसको कि तदोपरांत व्यापारिक तथा औद्योगिक क्रियाकलापों की अभिवृद्धि से आगे बढ़ाया जाता है।

शहरीकरण: एक आर्थिक प्रक्रिया

आधुनिक युग में शहरीकरण अनिवार्यत: एक आर्थिक प्रक्रिया है। आज शहर उत्पादनवादी गतिविधियों का एक केंद्र-बिंदु समझा जा चुका है। यह स्वयं में विद्यमान आर्थिक क्रियाकलापों की शक्ति पर ही कायम रहता और फलता-फूलता है। शहर में आर्थिक क्रियाकलाप का स्तर व स्वभाव ही विकास कारक होते हैं, जो कि आगे चलकर शहरीकरण को जन्म देते हैं।

शहरीकरण: एक भौगोलिक प्रक्रिया

शहरी क्षेत्रों में रहने वाली किसी देश की कुल जनसंख्या के अनुपात को आमतौर पर शहरीकरण के एक स्तर मापदण्ड के रूप में दिखायी देता है। शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि अंशत: जनसंख्या में स्वाभाविक वृद्धि के कारण और अंशत: ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे कस्बों/नगरों से प्रवसन के फलस्वरूप होती है। शहरीकरण के स्तर में बढ़ोत्तरी केवल ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों की ओर लोगों के प्रवसन से ही संभव है। अत: प्रवसन अथवा लोगों के पास स्थान का परिवर्तन शहरीकरण का एक आधारभूत क्रियाकलाप है। यह इस अर्थ में अनिवार्यत: एक भौगोलिक प्रक्रिया है कि इसमें लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन शामिल होता है।

शहरीकरण प्रक्रिया के प्रति प्रासंगिक लोगों के स्थानिक आवागमन के तीन प्रमुख प्रकार हैं। ये हैं—

(क) लोगों का ग्रामीण क्षेत्रों से कस्बों तथा शहरों की ओर पलायन करना, जोकि समष्टि-शहरीकरण की ओर विशेषत: प्रवृत्त करता है।

(ख) लोगों का छोटे नगरों तथा शहरों से बड़े शहरों एवं राजधानियों की ओर पलायन करना, जोकि महानगरीकरण की ओर ले जाता है। यह अनिवार्यत: राष्ट्रीय एवं राज्यीय राजधानियों मं देश की प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों के केंद्रीकरण का परिणाम होता है। यह एक व्यवहार्य स्वतंत्र व्यवस्था में शहरों एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एवं शहरी केंद्रों के एकीकरण की उत्कट अन्त:क्रिया का परिणाम भी होता है।

(ग) उप-शहरीकरण प्रक्रिया की ओर प्रवृत्त करता महानगरीय जनसंख्या का परिधीय शहरी उपान्त ग्रामों में स्थानिक अतिप्रवाह। यह अनिवार्यत: महानगरीकरण की अधिवृद्धि है और यहाँ शहर से देहात की ओर लोगों का एक प्रति-प्रवाह दिखायी पड़ता है।

● भारत में शहरीकरण

इस पाठांश में हम भारत में शहरीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता लगाएँगे और देखेंगे कि शहरी स्थानों की वर्तमान अवस्था एवं शहरीकरण प्रक्रिया में इतिहास कितना असरकारी रहा। शहरीकरण एक बार में नहीं हो गया किंतु इतिहास में समय-समय पर होता रहा क्योंकि समाज विभिन्न कालों में शहरीकृत हुए। यह एक चालू प्रक्रिया है और कभी नहीं रूकी और अपने आरंभ से शायद ही कभी धीमी ही पड़ी हो।

भारत में स्थानिक तथा अस्थायी विच्छिन्नताओं के साथ शहरीकरण का एक लम्बा इतिहास रहा है। सिंधु घाटी में शहरीकरण का प्रथम चरण 2350 ईसापूर्व हड़प्पा सभ्यता से जुड़ा हुआ माना जाता है। मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा नामक दो शहर हड़प्पा संस्कृति में हुए शहरी विकास के चरमोत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह महान् शहरी सभ्यता 1500 ईसापूर्व समाप्त हो गई, संभवत: आर्यों के आगमन के पश्चात।

भारत में शहरीकरण का दूसरा दौर 600 ईसापूर्व शुरू हुआ था। इस दौर के स्थापत्यविद उत्तर में आर्य और दक्षिण में द्रविड़ थे। इस कालावधि पश्चात्, लगभग 2500 वर्षों तक, भारत में शहरीकरण का कमोबेश सतत इतिहास रहा। इस समय में प्रारंभिक ऐतिहासिक शहरों का बनना देखा गया और संख्या एवं आकार में शहरों की वृद्धि भी, खासकर मौर्य एवं मौर्योत्तर काल में।

मुगल काल भारत में शहरीकरण की एक दूसरी खास पहचान रहा है (पहली पहचान मौर्य काल में बनी), जबकि भारत के अनेक शहर स्थापित हुए।

ब्रिटिश शासन के शुरुआती दौर में भारतीय शहरकीरण के स्तर में गिरावट देखी गई। इस काल में शहरों के पतन के लिए उत्तरदायी मुख्य कारण रहे—

1. भारत की सम्पन्नता तथा आर्थिक विकास में अंग्रेजों की ओर से रुचि का अभाव और
2. इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात होना।

ब्रिटिश शासन के उत्तरार्ध में भारतीय शहरों ने अपना कुछ विगत महत्व फिर से प्राप्त कर लिया; इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने अनेक नए नगरों तथा शहरों को जन्म दिया, जोकि विद्यमान शहरों में नवीनतर शहरी स्वरूपों को सामने लाने के अतिरिक्त थी।

भारतीय शहरी व्यवस्था के स्थायी घटकों में निम्नलिखित तत्व भी शामिल थे—

1. सामरिक-राजनीतिक नगर, जो समाज में पूँजी-प्रवाह अंतर्संबद्ध और प्राय: पुनर्वितरण प्रणाली हेतु एक केंद्र की भूमिका निभाता था; तथा

2. मंदिर अथवा पूर्ण विकसित मंदिर नगर।

विभिन्न कालों एवं क्षेत्रों के बीच व्याप्त अधिकतर भिन्नताओं का विकसन इनसे जुड़ा था—(क) एक काफी केंद्रीकृत वंशानुक्रम की विद्यमानता का स्तर; (ख) दूरस्थ क्षेत्र वाले पृष्ठ प्रदेशों से जुड़े तटीय नगरों का तुलनात्मक महत्व; तथा (ग) अधिक राजनीतिक एवं व्यावसायिक नगरों से जुड़े मंदिर केंद्रों एवं तंत्रों का महत्व।

शहरीकरण पर ब्रिटिश प्रभाव के पहलू

डेढ़ सौ साल के अंग्रेजी शासन के दौरान भारत का शहरी परिदृश्य आमूलचूल परिवर्तन के दौर से गुजरा। अंग्रेजों का भारतीय शहरी परिदृश्य में योगदान मुख्य रूप से निम्न बिंदुओं में उल्लेखनीय किया जा सकता है—

1. तीन महानगरीय बंदरगाह शहरों का उदय (कोलकाता, मुम्बई एवं चेन्नई) जो विश्व के अग्रणी उपनिवेश-शहरों के रूप में सामने आए हैं।

2. हिल-स्टेशनों (शिमला, दार्जिलिंग, महाबलेश्वर आदि) तथा असम, केरल एवं अन्यत्र बागान बस्तियों का उदय हुआ है।

3. सिविल लाइन्स एवं छावनियों की प्रस्थापना। सिविल लाइन्स में प्रशासनिक कार्यालयों एवं न्यायालयों के साथ-साथ अधिकारी वर्ग के लिए आवासीय क्षेत्र भी होते थे, जबकि छावनियाँ, सर्वाधिक प्रायिक रूप से, सुरक्षा की दृष्टि से प्रमुख नगरों के निकट बनाई जाती थीं।

4. रेलवे एवं आधुनिक उद्योग की शुरुआत जिसने नए औद्योगिक नगरों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया, जैसे जमशेदपुर, आसनसोल, धनबाद, इत्यादि; तथा

5. शहरी सुख-सुविधाओं एवं शहरी प्रशासन में सुधार हुए।

ब्रिटिश काल में भारतीय शहर पश्चिमीकरण के केंद्र-बिंदु भी बन गए। विद्यालय तथा महाविद्यालय लड़के और लड़कियों को पश्चिमी विचारधारा एवं भाषाओं में प्रशिक्षित करते थे। एक नए पश्चिमोन्मुखी शहरी अभिजात वर्ग का उदय हुआ था जिसकी वेशभूषा, खानपान की आदतें तथा सामाजिक व्यवहार पश्चात्य मूल्यों एवं प्रवृत्तियों को ही प्रतिबिंबित करते थे। पश्चिमीकरण प्रक्रिया के साथ ही, शहरी अभिजात वर्ग का शहरी एवं ग्रामीण जनसामान्य वर्ग से एक सहगामी अन्यत्रभाव दिखायी पड़ा।

स्वातंत्रयोत्तर काल में शहरीकरण

इस समय में, भारत में एक बड़े स्तर पर तेजी से शहरीकरण देखा गया, जोकि पहले कभी नहीं दिखायी दिया था। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् भारत के शहरी परिदृश्य में निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन आए—

1. शरणार्थियों एवं उनकी बस्तियों का अंतर्वहन, मुख्यत: उत्तरी भारत के शहरी क्षेत्रों में हुआ था।

2. नए प्रशासनिक शहरों का बनना, जैसे चंडीगढ़, भुवनेश्वर एवं गांधीनगर।

3. प्रमुख शहरों के समीप नए औद्योगिक शहरों एवं नगर-क्षेत्रों का बनना।

4. एक-लाख एवं मिलयन शहरों का तेजी से विकसित होना।

5. छोटे नगरों का मंदन एवं विनाश।

6. गंदी बस्तियाँ (स्लम) एवं ग्रामीण-शहरी उपान्तों की तीव्र वृद्धि, तथा

7. नगर योजना का सूत्रपात एवं नागरिक सुख-सुविधाओं में आम सुधार निर्माण।

● शहरीकरण के सिद्धांत

शहर शहरी समाजशास्त्र के केंद्र-बिंदु का निर्माण भी करता है। अन्य कई समाजशास्त्रीय श्रेणियों की ही भाँति, शहर भी आवासों एवं दुकानों जैसी मूर्त वस्तुओं एवं अनेक प्रकार्यों के संकलन वाली एक अमूर्त कल्पना है। किसी स्थान को सक्षम प्राधिकरण द्वारा एक शोषण के माध्यम से कानूनन शहर बना दिया गया है। सोरोकिन एवं जिमरमन ऐसी आठ विशेषताएँ गिनाते हैं जिनमें शहरी जगत् ग्रामीण जगत् से भिन्न नजर आता है। ये निम्नलिखित हैं—

1. व्यवसाय, 2. पर्यावरण, 3. समुदाय का आकार, 4. जनसंख्या घनत्व, 5. विषमांगता, 6. सामाजिक विभेदन एवं स्तरीकरण, 7. गतिशीलता एवं 8. संक्रियाओं की प्रणाली।

शहरों का अध्ययन एक ऐसा विषय है जिसका अपने प्रसिद्ध द्वैदाशयों के साथ पूर्वकालीन श्रेष्ठ समाजशास्त्र में, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पहले ही किया जा चुका है, जैसे मेन (1931) कृत प्रस्थिति एवं अनुबंध के बीच भेद और क्रूरता, बर्बरता एवं सभ्यता के बीच मॉर्गन (1877) कृत भेद। इस पहलू को और आगे टॉनी (1957) द्वारा बढ़ाया गया, जिसने जेमेंशाफ्ट (Gemeinschaft) (1964) द्वारा, जिसने ''यांत्रिक'' एवं ''संघटित'' भाईचारे के बीच भेद किया। टॉनी एवं दुर्खीम का मानना था कि जेमेंशाफ्ट प्रकार का सामाजिक संगठन, अर्थात् यांत्रिक भाईचारा, पूरी तरह शहरों में ही विकसित हुआ, विशेष रूप से आधुनिक शहरों में।

1920-1940 के दशकों में शिकागो विश्वविद्यालय से अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विचार प्रस्तुत किये जोकि अनेक वर्षों तक शहरी समाजशास्त्र विषयक सिद्धांत तथा अनुसंधान हेतु मुख्य आधार बने रहे। शिकागो विद्यापीठ के दो सूत्र, जिन पर कि हम चर्चा करने जा रहे हैं, वर्थ द्वारा विकसित परिस्थितिकीय दृष्टिकोण एवं ''एक जीवनशैली स्वरूप शहरीकरण'' दृष्टिकोण है।

लुई वर्थ-शहरीकरण: एक जीवनशैली स्वरूप

वर्थ शहरवाद के अध्ययन करने वाले पुरोधाओं में एक थे, और शहरवाद एवं शहरीकरण संबंधी संकल्पनाओं में भेद करने हेतु सर्वप्रथम क्रमबद्ध प्रयास उन्हीं का था। उनका सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धांत एक शहरी वातावरण में मानव व्यवहार का अन्वेषण करता है। उन्होंने बताया कि शहरों को परिभाषित करने में प्रमुख गुण-दोषों के रूप में माने जाने वाले, बड़ा आकार, घनत्व एवं विषमांगता, विशिष्ट व्यवहार-प्रतिमानों एवं नैतिक प्रवृत्तियों के प्रति सहायक होते हैं (वर्थ 1938)। उनके अनुसार, ''शहर सामाजिक रूप से विषमांगी व्यक्तियों का एक अपेक्षाकृत वृहद्, सघन तथा स्थायी रुचि निवास-स्थान होता है।'' शहरवाद गुण-दोषों का वह समूह हैं जो शहरों में जीवन की विशेषतासूचक शैली को रूपायित करता है। एक जीवनशैली के रूप में शहरवाद को तीन अंतर्संबद्ध पहलुओं से आनुभविक रूप से सुलभ किया जा सकता है—1. एक भौतिक संरचना के रूप में, जिसमें कि एक जनसंख्या आधार, एक प्रौद्योगिकी तथा एक पारिस्थितिकीय व्यवस्था होती है; 2. सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में जिसमें एक विशेषतासूचक सामाजिक ढाँचा, एक सामाजकि संस्थाओं की श्रृंखला एवं एक सामाजिक संबंधों का एक विशिष्ट प्रतिमान शामिल होता है तथा 3. अभिवृत्तियों एवं विचारों की एक श्रृंखला एवं सामूहिक व्यवहार के विशिष्ट स्वरूपों में लिप्त एवं सामाजिक नियंत्रण की विशेषतासूचक कार्यप्रणालियों के अधीन एक व्यक्ति-समूह के रूप में।

लुई वर्थ ने शहरी समाज में प्रभावी दो प्रकार के बलों को दर्शाया है—पार्थक्य बल तथा कुठाली (melting pot) प्रभाव; जिसके अनेक एकरूपीकरण पहलू होते हैं, जैसे प्रशासन आदि की एकरूप व्यवस्था। तथापि, उनका कहना है कि शहरी समाज एक साधन-से-साध्य तर्क पर आधारित होता है, जोकि शोषणकारी होता है और जहाँ व्यक्ति गुमनामी के सहारे अलग-थलग पड़ जाता है। वर्थ का मानना है कि शहरों में जीवन की सघनता ने पड़ोस को जन्म दिया, जिनमें परंपरागत समुदायों के विशिष्ट अभिलक्षण होते हैं।

वर्थ का सिद्धांत इस मान्यता के लिहाज से महत्वपूर्ण है कि शहरवाद महज किसी समाज का भाग नहीं होता, वरन् वह व्यापक सामाजिक व्यवस्था को अभिव्यक्त तथा प्रभावित भी करता है। तथापि, वर्थ के अवलोकन अमेरिकी शहरों पर आधारित हैं, जोकि हर जगह शहरी केंद्रों के प्रति सामान्यीकृत हैं, जहाँ परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं।

पारिस्थितिक दृष्टिकोण

प्राकृतिक विज्ञानों में ''पारिस्थितिकी'' शब्द वनस्पति एवं जंतुओं के उस संबंध को समझने के लिए प्रयोग किया जाता रहता है जोकि वे अपने पर्यावरण से रखते हैं। इसी प्रकार, यह शब्द शहरीकरण की प्रक्रिया को समझने में किया जाता है। जैसा कि रॉबर्ट पार्क, अर्नेस्केट बर्गिस एवं आमो ओली जैसे विद्वानों द्वारा किया गया है। परिस्थितिक दृष्टिकोण के विद्वानों का मानना है कि शहर यादृच्छिक रूप से नहीं वरन् क्रमबद्ध रूप से और उन अभिलक्षणों की प्रतिक्रिया स्वरूप पनपते हैं जोकि उसके प्रति लाभकारी होते हैं—नदियों के किनारे, प्राकृतिक संसाधनों के पास व्यापार मार्गों के चौराहे पर, आदि। उन्हें लगता है कि प्रतिस्पर्धा, अतिक्रमण तथा अनुगमन प्रक्रिया के माध्यम से शहर ''प्राकृतिक क्षेत्रों'' में व्यवस्थित हो जाते हैं। शहरों में अवस्थापन, आवागमन एवं पुनर्वासन के प्रतिमान इसी प्रकार के सिद्धांतों का पालन करते हैं। ये विद्वान शहरों को विशिष्ट लक्षणों वाले क्षेत्रों के एक मानचित्र के रूप में दिखायी पड़ते हैं। बर्गिस उन्हें सकेंद्र क्षेत्रों के रूप में देखते हैं—केंद्रीय व्यापार जिला (जहाँ लेन-देन, फुटकर, व्यापार एवं उनसे संबंधित कार्यकलापों का संकेंदण होता है); तथा बाहरी उपान्त के पारगमन क्षेत्र के रूप में भी, जिन्हें वह अन्यत्रवासी क्षेत्र कहते हैं—अनुषांगिक नगर एवं उपनगर। अतिक्रमण एवं अनुगमन की प्रक्रिया इन्हीं हिस्सों में होती है।

इन सिद्धांतों के कुछ नियमों को भारत के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, खासकर उपनगरों की वृद्धि के संदर्भ में, जैसे कि दिल्ली के बाहरी उपान्त क्षेत्र में गुड़गाँव, या फिर मुम्बई में उपनगरों की वृद्धि, परंतु काफी हद तक यह सिद्धांत अमेरिकी शहरों पर आधारित है जोकि भिन्न विशेषताएँ रखते हैं। यह सिद्धांत भी शहरों में नियोजन तथा अभिकल्पन की भूमिका पर कम बल देता है।

शहरवाद एवं उत्पन्न पर्यावरण: हार्वे एवं कैसल

अपेक्षाकृत नवीन सिद्धांतियों जैसे डैविड हार्वे तथा मानुएल कैसल ने इस बात पर बल दिया है कि शहरवाद कोई स्वायत्त प्रक्रिया नहीं है, वरन् एक वृहत्तर राजनीतिक तथा आर्थिक प्रक्रियाओं एवं परिवर्तनों का हिस्सा मात्र है।

आधुनिक शहरवाद में, हार्वे बताते हैं, कि स्थान निरंतर पुनर्संरचित होता है। यह प्रक्रिया बड़े व्यापारिक समुदायों द्वारा निर्धारित की जाती है, जोकि यह निर्धारित करते हैं कि वे अपना व्यापार-केंद्र, कारखाने, आदि कहाँ खोलें तथा सरकारों द्वारा समर्थित-नीतियों नियंत्रणों व पहलकारियों द्वारा, जोकि किसी शहर के भूदृश्य को बदल सकती है।

हार्वे की भाँति कैसल भी इस बात पर जोर देते हैं कि किसी शहर का स्थानीय स्वरूप समाज की वृहत्तर प्रक्रिया से काफी गहनता से जुड़ा होता है। कैसल आगे विभिन्न समूहों के संघर्षों व कलहों का आयाम भी जोड़ते हैं जोकि शहरों को बनाते हैं। वह समलैंगिक समुदाय का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने सैन फ्रांसिस्को शहर

के संरचना को पुनर्गठित किया था। उनका मानना था। कि किसी शहर के स्वरूप को प्रभावित करने वाले केवल बड़े निगम, व्यापार व सरकार ही नहीं होते, अपितु शहरों में रहने वाले समुदाय तथा समूह भी होते हैं।

हार्वे व कैसल का शहरीकरण एवं शहरी स्थिति संबंधी विश्लेषण एक महत्वपूर्ण आयाम को जोड़ता है।

भारतीय समाजशास्त्री: राव एवं बोस

एम० एस० ए० राव (1970) शहरीकरण और शहरवाद का विश्लेषण भारतीय समाज के वृहत्तर सामाजिक संरचनाओं को दिमाग में रखते हुए प्रस्तुत हैं। उनके अनुसार, **''शहरवाद एक विषमांगी प्रक्रिया है और इस प्रकार अनेक प्रकार के शहरीकरण को जन्म देते शहरवादों के अनेक रूप हो सकते हैं। शहरों और गाँवों के बीच द्वैदाश्य गलत हैं क्योंकि दोनों के जाति एवं नातेदारी संबंधी समाज ही संरचना के अभिलक्षण होते हैं और दोनों एक ही सभ्यता के हिस्से होते हैं।''** इसके अतिरिक्त, शहरीकरण व पश्चिमीकरण तद्रूप नहीं हैं तथा उनमें अंतर अवश्य किया जाना चाहिए। शहरीकरण जाति व संयुक्त परिवार के परंपरागत संरचनाओं को ध्वस्त किए जाने की ओर प्रवृत्त नहीं करता है। शहरी वातावरण में परंपरागत व आधुनिक संरचना सहअस्तित्व रखते हैं क्योंकि वहाँ विभिन्न प्रकार के शहरवादों का अस्तित्व होता है जैसे उत्तर-औद्योगिक, पूर्व-औद्योगिक, पाश्चात्य, इतर-पाश्चात्य आदि। इसके अतिरिक्त, शहरीकरण को सामाजिक परिवर्तन के संबंध में भी देखा जाता है व उससे कोई वास्तविक सामाजिक कायांतरण भी नहीं जुड़ा होता है। तथापि, शहरीकरण के कारण सामाजिक संगठन व सम्मिलन के नए रूपों ने जन्म लिया है। इस प्रकार, राव के अनुसार, **''शहरीकरण एक जटिल बहुपक्षीय प्रक्रिया है जिसमें वैचारिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, जनसांख्यिकीय, तुलनात्मक, परंपरागत एवं समाजशास्त्रीय तत्व होते हैं।''** राव शहर को शहरीकरण व शहरी जीवनशैली के एक केंद्र के रूप में परिभाषित करते हैं। शहरीकरण एक द्विमार्गी प्रक्रिया है। भारत में शहरीकरण कोई एकरूप प्रक्रिया नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार के शहरवादों को जन्म देती विभिन्न धुरियों पर दिखाई देती है, यथा प्रशासनिक, राजनीतिक, व्यापारिक, आर्थिक व शैक्षिक। ये विभिन्न धुरियाँ विभिन्न प्रकार के संपर्कों को जन्म देती है जो कि शहर ग्रामवासियों के साथ रखता है व शहरीकरण के विशिष्ट प्रस्तावों की ओर प्रवृत्त करता दिखाई पड़ता है।

राव ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रकार की स्थितियों की पहचान करता है—एक औद्योगिक नगर के निकट गाँव, नगरों एवं शहरों में कार्यरत प्रवासियों की बड़ी संख्या वाले गाँव, तथा महानगरीय उपान्त पर बसे गाँव। राव का मानना है कि प्रवसन के अध्ययन के सहारे हम गाँवों एवं नगरों के बीच समानताओं, असमानताओं एवं सातत्य का अवलोकन कर सकते हैं। राव का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण शहरीकरण के अध्यन के लिए सर्वाधिक संपूर्ण दृष्टिकोण है क्योंकि वह उनकी उनके विभिन्न पहलुओं से जाँच करने का प्रयास करते हैं और इन पहलुओं को एक-दूसरे से और शहरवाद एवं शहरीकरण संबंधी एक समाजशास्त्रीय बोध से जोड़ते हैं।

आशिष बोस का जनसांख्यिकीय वर्गीकरण शहरीकरण को परिभाषित करने में गुणात्मक कारकों की बजाय विशेषकर जनाककी जैसे मात्रात्मक कारकों पर बल देते हैं। उनके अनुसार, शहरीकरण, जनांककीय अथवा जनसांख्यिकीय अर्थ में, एक समयावधि में कुल जनसंख्या (T) के अनुपात में शहरी जनसंख्या (U) की वृद्धि है। जितना इनका अनुपात (U/T) बढ़ता है उतना ही शहरीकरण भी होता है। शहरीकरण एक सतत प्रक्रिया है जो कि सामान्य औद्योगीकरण की सहवर्ती नहीं होती बल्कि आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में निहित समस्या कारक समूह की सहगामी होती है।

बोस भारत में शहरीकरण के विशेषतासूचक अभिलक्षणों की रूपरेखा प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने शहरीकरण की प्रतिशतता के लिहाज से एक दशक-वार विभेदीकरण प्रस्तुत किया। यहाँ शहरीकरण प्रवसन में

प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित भी होता है। वह प्रवसन के भगव (push-back) और उलटाव (turn-over) कारकों की पहचान करते हैं। उन्होंने शहरों की वृद्धि को प्रभावित करते चार परवर्तियों का उल्लेख किया है।

(क) कुल शहरी जनसंख्या और नए नगरों का अनुपात

(ख) कुल जनसंख्या और अवर्गीकृत नगरों का अनुपात

(ग) कुल जनसंख्या और ह्रासमान नगरों का अनुपात

(घ) कुल जनसंख्या और तीव्र गति से बढ़ते नगरों का अनुपात

इनको संयोजित किए जाने पर ही भारत में शहरीकरण प्रक्रिया का विश्लेषण करना संभव होगा। बोस ने नगरों और शहरों संबंधी संकल्पनाओं को पारस्परिक अदल-बदल कर प्रयोग किया।

● भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभाव

अधिकतर सामाजिक प्रक्रिया एवं संरचनाओं पर शहरीकरण के दूरगामी प्रभाव होते हैं। आइए, आगामी पाठांशों में इनमें से कुछ परिवर्तनों एवं प्रभावों पर नजर डालें—

परिवार एवं नातेदारी

शहरीकरण न सिर्फ पारिवारिक संरचना को ही उचित अंतर पारिवारिक संबंधों के साथ-साथ उन प्रकार्यों को भी प्रभावित करता है जो परिवार निष्पादित करता है। शहरीकरण के साथ ही समुदाय के बंधनों में शिथिलता आ जाती है तथा प्रवासी के सामने दो समस्याएँ आती हैं—पुराने संबंधों के स्थान पर नए संबंधों को रखने की ओर पीछे छोड़े गए संबंधों को बनाए रखने के लिए कोई संतोषजनक साधन खोजने की। आई० पी० देसाई, कपाड़िया एवं एलीन रॉस जैसे विद्वानों द्वारा कराए गए शहरी परिवारों संबंधी अनेक अनुभवजन्य अध्ययनों में बताया गया है कि शहरी संयुक्त परिवार के स्थान पर क्रमश: एकाकी परिवार आ रहे हैं, परिवार का आकार बहुत घट रहा है, और नातेदारी संबंध दो अथवा तीन पीढ़ियों तक ही सीमित रह गए हैं। गुजरात स्थित महुवा नगर में 423 परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में आई० पी० देसाई (1964) ने दर्शाया है कि यद्यपि शहरी परिवार की संरचना काफी बदल रही है, परिवारों में व्यक्तिवाद तथा स्वार्थ का भाव नहीं बढ़ रहा है। उन्होंने पाया कि 75 प्रतिशत परिवार आवासीय रूप से एकाकी थे किंतु कार्यात्मक रूप से एवं संपत्ति में संयुक्त थे, 21 प्रतिशत आवास एवं कार्यात्मकता के साथ-साथ संपत्ति में भी संयुक्त थे और 5 प्रतिशत परिवार ही सर्वथा एकाकी थे।

कपाड़िया (1959) ने गुजरात स्थित ग्रामीण एवं शहरी (नवसरी) क्षेत्रों में 1,162 परिवारों से संबंधित अध्ययन में जाना कि जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में, प्रत्येक दो एकाकी परिवारों की तुलना में तीन संयुक्त परिवार थे; शहरी क्षेत्रों में एकाकी परिवार संयुक्त परिवारों के मुकाबले 10 प्रतिशत अधिक हो गए थे।

एलीन रॉस (1962) ने बंगलौर में मध्यम एवं उच्च वर्गों से संबंध रखने वाले 157 हिंदू परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में पाया कि—

1. लगभग 60 प्रतिशत परिवार एकाकी हैं।

2. रुझान आजकल परंपरागत संयुक्त परिवार स्वरूप से हटकर एकाकी परिवार इकाई के स्वरूप में तब्दील होने की है।

3. लघु संयुक्त परिवार अब शहरी भारत में पारिवारिक जीवन का सर्वाधिक अभिलक्षक स्वरूप है।

4. दूर के नातेदारों से संबंध फीके पड़ रहे अथवा टूट रहे हैं।

यद्यपि अंत:पारिवारिक एवं अंतर्पारिवारिक संबंध परिवर्तित हो रहे हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि छोटे अब बड़ों का सम्मान नहीं करते, अथवा बच्चे अपने माता-पिता या भाई-बहनों का कहना नहीं मानते, या फिर

पत्नियाँ अपने पतियों की सत्ता को चुनौती देती हैं। एक खास बदलाव यह आया है कि ''पति-प्रधान'' परिवार के स्थान पर ''समतावादी परिवार'' आ रहा है जहाँ निर्णयन प्रक्रिया में पत्नी को समान भागीदारी निभाने दी जाती है। आई० पी० देसाई का मानना है कि ''नई और पुरानी पीढ़ियों के बीच तनावों के बावजूद भी अपने परिवारों के प्रति बच्चों का लगाव किंचित ही कम हो।''

सिलविया वटुक का मानना है कि पारिवारिक ''संयुक्तता'' का आदर्श अलग रहने के बावजूद अब भी कायम है। विस्तारित परिवार एक औपचारिक इकाई के रूप में काम करता है। और पैतृक विस्तारित परिवार के सदस्यों के साथ गहरे संबंध भी कायम रखे जाते हैं। साथ ही, उसी अथवा बिल्कुल निकटवर्ती मुहल्लों के भीतर द्विपक्षीय अथवा वैवाहिक रूप से संबद्ध परिवार-समूहों समेत वृहत्तर नातेदारी समूह होते हैं। शहरी क्षेत्रों में द्विपक्षीय नातेदारी की दिशा में एक प्रवृत्ति भी देखी जाती है। 1974-1976 में रायपुर संबंधी अपने अध्ययन में वटुक बताती हैं कि वैवाहिक बंधन के वैयक्तिकरण और देवर अधिकार विधवा उत्तराधिकार, विधवा पुनर्विवाह, विनिमय द्वारा विवाह, बहुविवाह आदि प्रथाओं के अपकर्ष की ओर रुझान भी बढ़ रहा है। शहरीकरण का प्रभाव व्यवहार अपेक्षाकृत संबंधी बढ़ते हुए समांगीकृत मूल्यों के शहरी प्रतिमान में भी देखा जाता है।

इस प्रकार, शहरी भारत में परिवार संरचना का क्रमिक हेर-फेर हो रहा है, जैसे परिवार का घटता आकार, परिवार के प्रकार्यों में कमी, दाम्पत्य संबंध पर जोर, आदि। नातेदारी शहरों में सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है और एक ओर संयुक्त परिवार एवं दूसरी ओर औद्योगिक एवं शहरी जीवन की वांछनीयताओं के बीच संरचनात्मक सामंजस्य देखा जाता है। चेन्नई में उल्लेखनीय व्यापार पुरोधाओं के उन्नीस परिवारों संबंधी अपने अध्ययन में मिल्टन सिंगर (1968) दावा करते हैं कि परंपरागत भारतीय संयुक्त परिवार का एक किंचित परिवर्तित रूप शहरी और औद्योगिक परिवेश से सामंजस्य रखता है।

आमतौर पर यह समझा जाता है कि जाति एक ग्रामीण दृश्य घटना है जबकि वर्ग शहरी है, चूँकि यह शहरीकरण से जुड़ी होती है, जाति स्वयं को वर्ग में बदल लेती है। परंतु उल्लेखनीय है कि जाति व्यवस्था शहरों में भी उतना ही अस्तित्व रखती है जितना कि गाँवों में, हालाँकि उनमें अर्थपूर्ण संगठनात्मक पूर्णत: भेद भी है।

जाति पहचान शहरीकरण, शिक्षा एवं एक अनुस्थापन विकसित होने के साथ ही धूमिल पड़ने लगती है, जोकि वैयक्तिक उपलब्धियों एवं आधुनिक प्रतिष्ठा प्रतीकों की दिशा में होता है। आन्द्रे बेटिली (1966) ने लिखा है कि पश्चिमी अभिजात वर्ग के बीच वर्ग-बंधन जाति-बंधन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

वर्तमान में उल्लेखनीय परिवर्तन है— उपजाति संलयन एवं जाति संलयन। कोलेंद (1984) ने तीन प्रकार के संलयनों की पहचान की है—(i) शहर में रोज़गार में रहते और नए पड़ोस में विभिन्न जातियों और विभिन्न-विभिन्न उपजातियों के लोग मिलते हैं; (ii) अन्तरोपजाति विवाह होते हैं जो उपजातियों के संलयन को बढ़ावा देते हैं; और (iii) लोकतांत्रिक राजनीति भी उपजातियों के संलयन को जन्म देती है।

श्रीनिवास (1962), घुरे (1962), गोरे (1970), डीसूजा (1974) व राव (1974) जैसे अनेक समाजशास्त्रियों के अध्ययनों में दर्शाया है कि जाति-व्यवस्था शहरी राजनीतिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में लगातार कायम रहती है और अपना प्रभाव छोड़ती रहती है, वैसे कुछ अन्य क्षेत्रों में इसका स्वरूप भी बदल चुका है। जाति-बंधुता शहरी क्षेत्रों में इतनी सशक्त नहीं है जितनी कि ग्रामीण क्षेत्रों में। शहरों में जाति पंचायतें बहुत कमजोर स्थिति में हैं। वहाँ कार्यस्थल और घरेलू स्थिति के बीच द्वैदाश्य होता है और जाति तथा वर्ग दोनों अवस्थाएँ सहअस्तित्व रखती हैं।

सत्ता-वितरण में परिवर्तन के लिहाज से हम पाते हैं कि ब्रिटिश-पूर्व भारत में उच्च जाति को उच्च वर्ग का विशेष दर्जा भी था। किंतु शिक्षा एवं नए प्रकार के व्यवसायों के साथ ही, जाति एवं वर्ग का यह सहसंबंध

अब सत्य नहीं रहा है। बेटली (1970) बताते हैं कि उच्च जाति का निहितार्थ हमेशा ही उच्च वर्ग नहीं होता है। यह द्वैदाश्य सर्वाधिक रूप से भारतीय शहरों में मुख्य रूप से पाया जाता है जहाँ नए रोजगार अवसर पैदा हुए हैं।

जाति संघ की स्थापना पुन: जाति-व्यवस्था की अत्यावश्यकता को उजागर भी करती है। जाति पहचान की सबसे सशक्त भूमिका समकालीन राजनीति में दिखाई पड़ती है, जोकि सत्ता आयाम को नियंत्रित करती है। जाति ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में एक ''वोट बैंक'' के रूप में काम करती है, और इसी वजह से वह शहरी क्षेत्रों में फिर से सिर उठा रही है। जाति संघों या संस्थाओं जैसे कर्मचारी संघों को संगठित करने हेतु एक आधार भी बन जाती है, जोकि ऐसे हितसमूहों के रूप में काम करती है जो उसके जाति-सदस्यों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करते हैं।

जातीय विचारधारा से जुड़े व्यवहार संबंधी कुछ पहलू अब शहरी संदर्भ में समाप्त हो रहे हैं। जातियों के बीच सहभोजिता अथवा परस्पर भोजन के नियमों का शहरों में किंचित ही अर्थ रह गया है। अंतर्जातीय एवं अंतर्क्षेत्रीय विवाहों की प्राधिकता बढ़ी है।

शहरी वास-स्थानों में पड़ोस संक्रिया अनौपचारिकता की उच्च अवस्था से पहचानी जाती है तथा जाति व नातेदारी इस प्रकार की भागीदारी के प्रमुख आधार ही होते हैं। आगरा में एक अछूत जाति, जाटवों, संबंधी लिंच (1967) का अध्ययन दर्शाता है कि जाटवों का एक सुसंबद्ध मौहल्ला (नगर का हलका) संगठन होता था जो कई लिहाज से ग्राम समुदाय की तरह होता था। अहमदाबाद शहर में दो जाति-हलकों संबंधी दोषी (1968) का अध्ययन भी परंपरागत सामुदायिक संगठन की ओर संकेत करता है।

महिलाएँ ग्रामीण-शहरी प्रवासियों का एक महत्वपूर्ण भाग होती हैं। वे विवाह के समय प्रवास करती हैं और उस वक्त भी जब वे गंतव्य स्थल पर संभाव्य कर्मी हों (राव)। जबकि मध्यवर्गीय महिलाएँ सफेद-पोश नौकरियों तथा व्यवसायों में लग जाती हैं, निम्न वर्गीय महिलाएँ अनौपचारिक क्षेत्र में काम तलाश लेती हैं। महिलाएँ उद्योग-श्रमिकों के रूप में औपचारिक क्षेत्र में भी पाई जाती हैं।

एक पितृप्रधान सामाजिक व्यवस्था में तीव्र औद्योगीकरण बलों के घातक आक्रमण ने लोगों को विशेष कौशल अर्जित कर श्रम-बाजार के लिए अर्हता प्राप्त कर लेने के लिहाज से स्थान परिवर्तन की ओर प्रवृत्त किया। महिलाएँ परंपरागत रूप से अनौपचारिक तथा पारिवारिक परिवेश की ओर पदावनत हो गईं।

परंतु शहरीकरण में वृद्धि हेतु महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक जीवन में अनेक सकारात्मक घटनाएँ घटित हुई। उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या में महिलाओं ने सफेद-पोश नौकरियाँ ली हैं और भिन्न-भिन्न व्यवसायों में गई हैं। ये व्यवसाय महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक प्रस्थिति में बढ़ोत्तरी करने में कारगर रहे हैं, जिसका परिणाम रहा—काम के बढ़े कष्टदाई घंटे, बढ़ी स्वायत्तता के साथ व्यावसायिक निष्ठा आदि। परंपरागत एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ वहीं रहते हुए भी, मूल्यों का अभाव एवं प्रतिमानों का संभ्रम अंतत: परिणाम हुए हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से प्रबुद्ध महिला को दोहरी भूमिकाएँ निभाने पर बाध्य किया जाता है—सामाजिक एवं व्यावसायिक भूमिकाएँ गोरे (1968), कपूर (1970), रॉस (1983)।

भारत के शहरों में, लड़कियों के बीच उच्च स्तरीय शिक्षा सार्थक रूप से छाटे पारिवारिक आकार से जुड़ी हुई है। यद्यपि नारी-शिक्षा में बढ़ोत्तरी हुई है और विवाहयोग्य आयु ने जन्मदर घटा दी है, यह भय दहेज योजित विवाहों के परंपरागत प्रतिमानों में कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं लाई है। मार्गेरिट कॉर्मैक (1961) ने 500 विश्वविद्यालयी छात्रों संबंधी अपने अध्ययन में पाया कि लड़कियाँ कॉलेज जाने को तैयार होती थीं और लड़कों से मिलती-जुलती थी परंतु वे चाहती थीं कि उनका विवाह उनके माता-पिता ही तय करें। महिलाएँ अवसर तो चाहती हैं परंतु पुरानी सुरक्षाएँ भी चाहती हैं।

शहरी महिलाओं की प्रस्थिति, चूँकि वे अपेक्षाकृत शिक्षित और उदारचित होती हें, ग्रामीण महिलाओं से ऊँची है। तथापि, श्रम-बाजार में महिलाएँ अब भी अलाभांवित दशा में ही हैं। डीसूजा (1963) ने उस मनोवैज्ञानिक, घरेलू तथा सामाजिक समस्याओं को उजागर किया है जिससे उन्हें विशेषकर जूझना होता है।

इस प्रकार, जबकि ग्रामीण महिलाएँ आर्थिक एवं सामाजिक दोनों रूप से पुरुषों पर भी निर्भर हैं, शहरी महिलाएँ तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र हैं तथा अधिक आजादी का उपभोग करती हैं।

शहरी केंद्रों की ओर प्रवसन के माध्यम से शहरीकरण एक विश्वव्यापी दृश्य घटना है। अनेक लोग शहरों की ओर पलायन इसलिए करते हैं कि वहाँ नोकरियाँ उपलब्ध होती हैं। प्रवासन ग्रामवासियों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करती एक सतत प्रक्रिया बन गया है। राव (1974) ने एक महानगरीय उपान्त गाँव (यादवपुर) में सामाजिक परिवर्तनों की जाँच की। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में शहरीकरण से जन्मी तीन प्रकार की दशाओं की विशेषकर पहचान की है—

1. गाँवों में, जहाँ से लोग बड़ी संख्या में दूरवर्ती शहरों में रोजगार की तलाश में गए हों, शहरी रोजगार एक सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है।

2. नगरों और शहरों में कार्यरत भारी संख्या में प्रवासियों वाले किसी औद्योगिक नगर के निकट स्थित गाँवों में आवास, खरीद-फरोख्त एवं सामाजिक व्यवस्था संबंधी समस्याएँ जन्म लेती हैं।

3. महानगरीय शहरों की वृद्धि आसपास के गाँवों पर एक तीसरे प्रकार के शहरी प्रभाव को बतलाती है। जैसे-जैसे शहर विस्तीर्ण होता है, कुछ गाँव शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण अंचलों का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार, ग्रामवासी शहर के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक गतिविधियों में सीधे भागीदारी निभाते हैं।

श्रीनिवास (1962) ने गाँवों पर औद्योगीकरण तथा शहरीकरण दोनों के सामान्य प्रभाव को उकेरा है। उन्होंने दर्शाया है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्र शहरी प्रभुत्व से प्रभावित हो रहे हैं। वह बताते हैं कि दक्षिण भारत में प्रवसन में एक जाति घटक शामिल था, क्योंकि ब्राह्मणों ने ही सबसे पहले अपने गाँवों को छोड़कर नगरों में जाना शुरू कर दिया था तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं आधुनिक व्यवसायों का लाभ उठाया। साथ ही, उन्होंने पैतृक जमीनें अपने पास ही रखीं, वे ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक तदानुक्रम में शीर्ष पर ही रहे। पुनः, शहरी क्षेत्रों में उनका सभी इतर-हस्तकृत पदों पर प्रायः एकाधिकार था।

होमस्ट्रॉम (1969) ने एक चुनाव के संदर्भ में बंगलौर कॉर्पोरेशन के भीतर एक ग्रामीण अंचल में नेताओं के राजनीतिक तंत्र का भी विश्लेषण किया। लखनऊ के निकट मोहाना गाँव संबंधी अपने अध्ययन में मजूमदार (1958) ने लिखा है कि ग्राम अर्थव्यवस्था शहरी बाजार से प्रभावित हो रही है, हालाँकि यह अप्रत्यक्ष तरीके से होता है। उत्तर-प्रदेश में एक गाँव संबंधी अपने अध्ययन में ईम्स (1954) ने उत्तर प्रदेश के एक गाँव के अपने अध्ययन में दर्शाया है कि अनेक उत्प्रवासी अपने परिवारों को पीछे छोड़ आए हैं, और नियमित रूप से उन्हें पैसा भेजते भी रहते हैं। इस प्रकार की ''अनार्दश अर्थव्यवस्था'' ने आश्रितों को अपने ऋणों को चुकाने, घर बनाने एवं अपने बच्चों को शिक्षा दिलवाने में सक्षम बनाया है।

आर० डी० लैम्बर्ट (1962) ग्राम्य जीवन पर शहरी समाज के प्रभाव से संबंधित अध्ययनों से जुड़ी अपनी विस्तृत समीक्षा में ग्रामीण जीवन पर शहरी प्रभुत्व के विभिन्न सोपानों की ओर संकेत करते हैं। सामाजिक परिवर्तन उन क्षेत्रों में अधिकतम होता है जहाँ शहरीकरण के कारण विस्थापन आकस्मिक तथा यथेष्ठ होता है।

इस प्रकार, प्रवसन शहरीकरण की वृद्धि में निहित एक मुख्य प्रक्रिया है। एक यांत्रिक प्रक्रिया होने के अलावा, यह आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों द्वारा नियंत्रित होती है। यह संस्कृति संपर्क शहरी क्षेत्रों में परस्पर क्रिया से जुड़ी प्रक्रियाओं एवं सामाजिक सामंजस्य के विभिन्न तरीकों की शुरुआत करता है। कृषि के

व्यापारीकरण के चलते प्रवसन ने एक विशेष महत्व पा लिया है; शहरीकरण, मलिन बस्तियाँ तथा सामजिक परिवर्तन के लिए इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं; मूल स्थान पर इसके उल्लेखनीय प्रत्युत्तर प्रभाव होते हैं क्योंकि प्रवासी विभिन्न प्रकारों तथा सोपानों को कायम रखते हैं, तदनुसार ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के बीच निरंतरता बढ़ती है। अनेक सांस्कृतिक विशेषताएँ एक-दूसरे से संलयित रहती हैं। साथ ही, नए विचार एवं विचारधाराएँ भी शहरों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर संलयित होती हैं, जिसका कारण है— रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र, आदि के माध्यम से संचार में उन्नति का होना।

● शहरी राजनीति

राव (1974) ने शहरी प्रसंग में राजनीतिक संस्थाओं, संगठनों एवं प्रक्रियाओं संबंधी अध्ययन में चार समस्या क्षेत्रों की पहचान की है—1. औपचारिक राजनीतिक संरचना, 2. अनौपचारिक राजनीतिक संगठन, 3. लघु नगर राजनीति, एवं 4. हिंसा।

औपचारिक राजनीतिक संरचना, नगर-निगम अथवा पालिका सरकार भी वहीं होती हैं जहाँ राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय राजनीतिक दल सत्ता-पदों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। ''मद्रास में जनवादी सरकार'' विषयक लॉयड रुडोल्फ (1961) का निबंध मद्रास नगरपालिका में सत्तार्थ संघर्ष का खाका खींचता है और डी० एम० के०, एक क्षेत्रीय राजनीतिक दल के निर्णायक प्रभुत्व को दर्शाता है। यह ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन और पार्टी द्वारा अर्जित जनवादी समर्थन के प्रसंग में दल के नेताओं द्वारा प्रयुक्त नियन्त्रण को भी प्रकाश में लाता है। यह अध्ययन शहरीकरण तथा बदलते सत्ता-संरचना के बीच संबंध को स्पष्ट दर्शाता है।

औपचारिक सत्ता-संरचनाओं के अलावा, अनौपचारिक राजनीतिक संगठन जातीय, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक समूहों, तथा व्यावसायिक वर्गों के माध्यम से काम भी करते हैं। इसी प्रकार बने संघों को उस सीमा तक राजनीतिक आयाम ले लेने की आवश्यकता होती है जहाँ तक कि वे दबाव समूहों के रूप में काम करते हैं, और कुछ मामलों में वे संगठित राजनीतिक दलों का हिस्सा भी बन जाते हैं। अस्पृश्यता की राजनीति (Politics of untouchability) संबंधी लिंच (1968) के अध्ययन में उन प्रक्रियाओं का वर्णन है जिनके द्वारा आगरा शहर में जाटव एक राजनीतिक रूप से व्यवहार्य वर्ग बन गया। उल्लेखनीय है कि वे शहर, राज्य एवं राष्ट्रीय स्तरों पर सत्ता-पद हेतु प्रतिस्पर्धा करने के लिए रिपब्लिकन पार्टी का हिस्सा बनते रहते हैं।

शहरी प्रसंग में राजनीति का एक तीसरा पहलू लघु-नगर राजनीति की ओर संकेत भी करता है, जहाँ अभिजात वर्ग, गुट अर्थात् नृजातीय समूह सत्ता-संरचना को समझने में राजनीतिक दलों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। नृजातीय समूह राजनीतिकृत हो जाते हैं और ''वोट बैंकों'' व अपने हितों को व्यक्त करते हित-समूहों के रूप में काम करते हैं, तथा शहरी जीवन के विभिन्न लाभों के लिए प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं। यह नृजातीय समूहों के बीच और प्रवासी नृजातीय समूहों एवं स्थानीय लोगों के बीच एक संघर्ष की स्थिति में परिणत होता है। मध्य प्रदेश स्थित देवास में नगर-निगम चुनावों संबंधी अपने अध्ययन में ए० सी० मेयर (1953) ने प्रभावशाली नेताओं के ताने-बानों और ''कार्यवाई समूहों'' का विश्लेषण किया। आर० जी० फॉक्स (1969) ने दर्शाया कि उत्तर-प्रदेश स्थित एक छोटे से नगर में राजनीति को एक मुस्लिम-बनिया संघर्ष अभिलक्षित करता है। वहाँ सत्ता मुस्लिम जमींदारों से उद्यमी बनियों (व्यापारियों) को हस्तांतरित हुई है।

शहरी राजनीति का एक अन्य महत्वपूर्ण अभिलक्षण है हिंसा, जो सांप्रदायिक संघर्ष, राजनीतिक अशांति, छात्रों की हड़ताल एवं क्षेत्रीय सेनाओं, जैसे मुम्बई में शिव सेना, से मुख्यत: जन्म लेती है। शहरी हिंसा की इन समस्याओं के अलावा, टाँगरी (1962) एवं कोठारी (1970) ने शहरीकरण के राजनीतिक निहितार्थों की ओर ध्यान खींचा है। विभिन्न संघर्ष पूर्व स्थितियाँ शहरीकरण में वृद्धि के कारण पैदा हो रही हैं, जैसे बेरोजगारी और मलिन बस्तियाँ जो राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाती हैं।

ओवन एम० लिंच (1980) ने बम्बई की एक मलिन बस्ती में आदि द्रविड़ों के बीच राजनीतिक लामबंदी तथा नृजातीयता का अध्ययन किया गया था जोकि दक्षिण भारत से आयी एक निचले दर्जे की जाति है और जो बम्बई से आए हैं। यहाँ विभिन्न राजनीतिक दल अपने वोट बटोरने के लिए प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं। एक दल उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर ''अछूतों'' के रूप में पहचान प्रदान किए जाने का आह्वान करता है तो दूसरा दल उन्हें अपने दक्षिण भारतीय मूल का होने को याद रखने की चुनौती देता है।

● शहरीकरण की समस्याएँ

भारत में शहरीकरण के प्रतिमानों को क्षेत्रीय तथा अंतर्राज्यीय विविधताओं, बड़े पैमाने पर ग्रामीण से शहरी प्रवसन, अपर्याप्त प्राथमिक सुविधाओं, मलिन बस्तियों की बढ़वार तथा इनसे जुड़ी अन्य समस्याओं द्वारा इंगित किया जाता है। भारत के विभिन्न भागों में सामने आने वाली शहरीकरण की कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नलिखित हैं।

आवास और मलिन बस्तियाँ

शहरी क्षेत्रों में आवास का बेहद अभाव होता है और काफी उपलब्ध वास-स्थान गुणात्मक रूप से घटिया दर्जे का होता है। यह समस्या उत्तरोत्तर बद से बदतर रूप लेती जा रही है, जिसके कारण यह हैं—जनसंख्या वृद्धि, शहरीकरण की तीव्र दर और आवासीय जनसमूहों में आनुपातिक रूप से अपर्याप्त वृद्धि। लाखों लोग इतना अधिक किराया देते हैं कि जो उनके बूते से बाहर होता है। हमारी लाभोन्मुखी अर्थव्यवस्था में निजी विकासक (डिवैलॅपर) और कॉलोनाइज़र गरीबों और निम्न मध्य वर्गीय लोगों के लिए शहरों में मकान/भवन बनाने में कम लाभ देखते हैं, अत: वे अमीरों की आवासीय आवश्यकताओं को पूरा करने पर ध्यान केंद्रित करते हैं क्योंकि उसमें उन्हें अधिक पैसा दिखाई पड़ता है।

शहरी क्षेत्रों की ओर बड़े पैमाने पर प्रवसन के चलते अनेक लोगों को लगता है कि उनके पास एकमात्र विकल्प मलिन-बस्तियों की निकृष्ट दशाओं में रहना ही है। मलिन यानी गंदी बस्तियों की पहचान भी होती है—घटिया आवास, अति-संकुलन होना तथा बिजली, संवातन, सफाई प्रबंध, सड़कों व पेय जल, आदि सुविधाओं का अभाव होना। वे रोगों, पर्यावरण प्रदूषण, नैतिक पतन तथा अनेक सामाजिक तनावों की जन्म स्थली बन जाते हैं।

वर्तमान में, भारत की लगभग 40% मलिन-बस्ती जनसंख्या शहरवार इस प्रकार है— दिल्ली— अपनी जनसंख्या का 44%, मुम्बई 45%, कोलकाता 42% और चेन्नई 30%।

अति संकुलन

मुम्बई, कोलकाता, पुणे एवं कानपुर जैसे भारत के प्रमुख शहरों में 85% से 90% के बीच घरों के लोग एक या दो कमरों में रहते हैं। कुछ घरों में तो एक कमरे में पाँच से छह लोग तक रहते हैं। अति संकुलन विसामान्य व्यवहार को बढ़ावा देता है, रोग फैलता है और मानसिक रुग्णता, मादक पेय सेवन एवं दंगों हेतु दशाओं को जन्म देता है। सघन शहरी जीवन का एक प्रभाव है—लोगों की उदासीनता तथा महत्वहीनता।

ऑस्कर लेविस कृत कल्चर ऑफ पॉवर्टी (1965) विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में गरीबों के व्यवहार का एक प्रतिमान विकसित करने हेतु प्रयास था। यह जीवन का एक विशिष्ट तरीका है जो कि आर्थिक वंचना एवं असमानता के परिणाम स्वरूप पूँजीवादी समाजों में निम्नतम प्रस्तर पर विकसित होता है। एकबार गरीबी के अनुकूल हो जाने पर लोग शुरुआत में आर्थिक बंचना के फलस्वरूप जन्मी अभिवृत्तियों तथा व्यवहारों को समाजीकरण के माध्यम से आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचा देते हैं।

भारत में किसी भी शहर में चौबीसों घंटे पानी की आपूर्ति नहीं होती है। सविराम आपूर्ति का परिणाम होता है पानी के खाली पाइपों में बनने वाला निर्वात जो कि प्राय: सुराखदार जोड़ों से संदूषकों को अवशोषित

कर लेता है। अनेक छोटे नगरों में मुख्य जलपूर्ति बिलकुल नहीं है। वे कुँओं पर पूर्णत: निर्भर हैं। अपवहन की स्थिति भी इसी प्रकार खराब हो रही है। अपवहन व्यवस्था के न होने से गर्मियों में भी शहर में बड़े-बड़े गड्ढों में पानी भरा देखा जा सकता है।

भारतीय शहरों में कूड़ा-कर्कट को उठाना, नालियाँ साफ करना तथा सीवरों का अनावरुद्ध करना नगर-निगमों और नगरपालिकाओं के मुख्य काम होते हैं। शहरों की मूल स्वास्थ्य रक्षा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रेरणा का सर्वथा से ही अभाव है। तंग शहरी क्षेत्रों में मलिन बस्तियों का फैलाव और इन बस्तियों में निवासियों के बीच नागरिक भावना (सिविल सैन्स) का अभाव गंदगी के बढ़ते ढेरों और बीमारियों को और अधिक बढ़ाता है।

परिवहन और यातायात

यातायात तथा परिवहन के लिए नियोजित एवं पर्याप्त व्यवस्थाओं का अभाव भारत स्थित शहरी केंद्रों में एक अन्य समस्या है। अधिकांश लोग बसों और टेम्पों का प्रयोग करते हैं, जबकि कुछ ही रेलगाड़ी को आवागमन व्यवस्था के रूप में इस्तेमाल करते हैं। दुपहिया वाहनों एवं कारों की बढ़ती संख्या यातायात समस्या को और कठिन कर देती है। ये वायु प्रदूषण को भी जन्म देते हैं। इसके अतिरिक्त, महानगरीय शहरों में चलने वाली बसों की संख्या पर्याप्त नहीं है और यात्रियों को यात्रा के लिए घंटों इंतजार करना पड़ता है।

बिजली की कमी

भारत में अधिकांश शहरी केंद्रों में बिजली की आपूर्ति अपर्याप्त बनी हुई है। विद्युत उपकरणों का प्रयोग शहरों में बढ़ा हुआ है, और नए उद्योगों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विस्तार ने भी बिजली पर निर्भरता को बढ़ाया है। दो राज्यों के बीच विद्युत आपूर्ति पर विवाद प्राय: शहर में लोगों के भीषण बिजली के संकट को जन्म देता है।

प्रदूषण

हमारे नगर और शहर पर्यावरण के प्रमुख प्रदूषक हैं। अनेक शहर अपने समस्त जल तथा औद्योगिक बहि:स्रवणों का 40 से 60 प्रतिशत उपचार किए बगैर ही पास की नदियों में छोड़ते हैं। शहरी उद्योग अपनी चिमनियों से निकलने वाले धुएँ एवं विषैली गैसों को वातावरण में छोड़कर प्रदूषण फैलाते रहते हैं। ये सब शहरी केंद्रों में रहने वाले लोगों के बीच रोगों की संभावना बढ़ाते हैं।

यूनिसेफ (UNICEF) के अनुसार, खराब सफाई-व्यवस्था की दशाओं एवं जल संदूषण के कारण लाखों शहरी बच्चे मर जाते हैं या दस्त, टिटनस, खसरा आदि बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं। एक दूरगामी उपचार के रूप में जिसकी आवश्यकता है, ये हैं—अपशिष्ट एकत्र करने की नई तकनीकें, कूड़ा-कचरा निपटान हेतु नई प्रौद्योगिकी तथा नगर-निगम अधिरचन एवं भू-प्रयोग नियोजन में बुनियादी बदलाव।

उपर्युक्त सभी शहरी समस्याएँ प्रवसन एवं अति-शहरीकरण, औद्योगिक विकास, प्रशासन की उदासीनता एवं अदक्षता तथा दोषपूर्ण नगर नियोजन। शहरी समस्याओं के समाधान हेतु शहरी केंद्रों के क्रमबद्ध विकास एवं रोजगार अवसर पैदा करने, शहर-नियोजन के साथ-साथ क्षेत्रीय नियोजन, उद्योगों के पिछड़े इलाकों में चले जाने को प्रोत्साहित करने, एक व्यावहारिक आवास नीति अपनाए जाने और स्थानीय स्व-शासन का स्वयं प्राधारिक विकेंद्रीकरण करने में निहित होता है।

● सारांश

जैसा कि आपने देखा, शहरीकरण एक चालू दृश्यघटना है, जिसको कि किसी एक दृष्टिकोण अथवा विश्लेषण से समझना बहुत मुश्किल है, खासकर भारत में इस इकाई में हमने शहरीकरण के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास किया जैसे इतिहास से वर्तमान स्थिति तक, शहरीकरण की समस्याओं एवं उसके

परिणामों के अध्ययनार्थ विभिन्न दृष्टिकोण। शहरीकरण यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अनेक वृहद् संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं से जुड़ी हैं। चूँकि भूमण्डलीकरण प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है, विश्व को अभूतपूर्व तरीकों से जोड़ती हुई, एक संकेत मिलता है कि दुनिया भर के शहर उत्तरोत्तर एक दूसरे के समान संगठनात्मक रूप दर्शाने लगेंगे क्योंकि प्रौद्योगिकी संपूर्ण विश्व-व्यवस्था में काफी सुलभ भी हो रही है। कुछ सिद्धांतियों का कहना है कि शहरी संगठन के विविध रूप शहरीकरण प्रक्रिया के समय व गति में अंतर, विश्व-व्यवस्था में शहरों की स्थिति में अंतर व विभिन्न मूल्यों को लेकर चलने और, इसी कारण, भविष्य के लिए विविध लक्ष्यों का अनुशीलन करने वाली केंद्रीकृत सरकारों द्वारा शहरीकरण प्रक्रिया के विवेकपूर्ण नियोजन की बढ़ती प्रभाविता के कारण भी उभरने लगे हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. शहरी व शहरीवाद पर चर्चा कीजिए।
2. भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभाव पर चर्चा कीजिए।
3. शहरीकरण व महिलाओं की प्रस्थिति पर चर्चा कीजिए।
4. शहरी राजनीति पर प्रकाश डालिए।

● अभ्यास प्रश्न

---

1. भारत में शहरीकरण के सामाजिक प्रभावों की चर्चा कीजिए।
2. शहरीकरण की समस्याओं को समझाए।
3. शहरीकरण के सिद्धान्त को समझाइए।
4. शहरीकरण व जाति में सम्बन्ध समझाइए।

●

इकाई-II

बदलती शहरी राजनीतिक अर्थव्यवस्था

(THE CHANGING URBAN POLITICAL ECONOMY)

4

शहरी गरीबी और अनौपचारिक क्षेत्र

(URBAN POVERTY AND THE INFORMAL SECTOR)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- पूर्व-औपनिवेशिक काल में शहर
- औपनिवेशिक कालीन शहरी गरीबी व विकास
- नए शहरों का विकास
- भारतीय अनौपचारिक क्षेत्रों में पृथक्करण, नगर नियोजन व भवन निर्माण
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस ईकाई के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होगें—

- औपनिवेशिक कालीन शहरों के विषय में,
- शहरी गरीबी को,
- भारतीय अनौपचारिक क्षेत्रों में पृथक्करण, नगर नियोजन व भवन निर्माण को।

● प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक कस्बे बड़े शहर बन गए थे जहाँ से नए शासक पूरे देश पर नियंत्रण करते थे। आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित करने व नए शासकों के प्रभुत्व को दर्शाने के लिए संस्थानों की स्थापना की गई थी। भारतीयों ने इन शहरों में राजनीतिक प्रभुत्व का नए तरीकों से अनुभव किया था। मद्रास, बम्बई व कलकत्ता के नक्शे अन्य पुराने भारतीय कस्बों से काफी हद तक अलग थे, व इन शहरों में बनाए गए भवनों पर अपने औपनिवेशिक उद्‌भव की स्पष्ट छाप थी।

ग्रामीण क्षेत्रों की ओर पलायन—1857 में ब्रिटिश सेना द्वारा शहर पर अधिकार करने के बाद दिल्ली के लोगों ने क्या किया, इसका वर्णन प्रसिद्ध शायर मिर्जा गालिब इस प्रकार करते हैं। दुश्मन को पराजित करने और भगा देने के बाद, विजेताओं (ब्रिटिश) ने सभी दिशाओं से शहर को उजाड़ दिया। जो सड़क पर मिले उन्हें काट दिया गया...। दो से तीन दिनों तक कश्मीरी गेट से चाँदनी चौक तक शहर की हर सड़क युद्धभूमि बनी रही। तीन द्वार–अजमेरी, तुर्कमान तथा दिल्ली–अभी भी विद्रोहियों के कब्जे में थे...। इस प्रतिशोधी आक्रोश तथा घृणा के नंगे नाच से लोगों के चेहरों का रंग उड़ गया, और बड़ी संख्या में पुरूष और

महिलाएँ,...इन तीनों द्वारों से हड़बड़ा कर पलायन करने लगे। शहर के बाहर छोटे गाँवों और देवस्थलों में शरण ले अपनी वापसी के अनुकूल समय का इंतजार करते रहे।

● पूर्व-औपनिवेशिक काल में शहर

इससे पहले कि हम औपनिवेशिक काल में शहरों के विकास का अन्वेषण करें, हमें ब्रिटिश शासन के पहले की शताब्दियों के शहरों पर नजर अवश्य डालनी चाहिए। कस्बों को सामान्यत: ग्रामीण इलाकों के विपरीत परिभाषित किया गया था। वे विशिष्ट प्रकार की आर्थिक गतिविधियों व संस्कृतियों के प्रतिनिधि बन कर उभरे थे। लोग ग्रामीण अंचलों में खेती, जंगलों में संग्रहण अथवा पशुपालन के द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। इसके विपरीत कस्बों में शिल्पकार, व्यापारी, प्रशासक व शासक रहते थे। कस्बों का ग्रामीण जनता पर प्रभुत्व होता था वे खेती से प्राप्त करों और अधिशेष के आधार पर फलते-फूलते थे। अक्सर कस्बों और शहरों की किलेबन्दी की जाती थी जो पूर्णत: ग्रामीण क्षेत्रों से इनकी पृथकता को चिन्हित करती थी।

फिर भी कस्बों व गाँवों के बीच की पृथकता अनिश्चित होती थी। किसान तीर्थ करने के लिए लम्बी दूरियाँ तय करते थे तथा कस्बों से होकर गुजरते थे, वे अकाल के समय कस्बों में जमा भी हो जाते थे। इसके अतिरिक्त लोगों व माल का कस्बों से गाँवों की ओर विपरीत गमन भी था। जब कस्बों पर आक्रमण होते थे तो लोग अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों में ही शरण लेते थे। व्यापारी व फेरीवाले कस्बों से माल गाँव ले जाकर बेचते थे, जिसके द्वारा बाजारों का फैलाव व उपभोग की नयी शैलियों का सृजन होता था।

सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दियों में मुगलों द्वारा बनाए गए शहर जनसंख्या के केन्द्रीकरण, अपने विशाल भवनों तथा अपनी शाही शोभा व समृद्धि के लिए प्रसिद्ध थे। आगरा, दिल्ली व लाहौर शाही प्रशासन तथा सत्ता के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। मनसबदार और जागीरदार जिन्हें साम्राज्य के अलग-अलग भागों में क्षेत्र दिये गए थे, सामान्यत: इन शहरों में अपने आवास रखते थे। इन सत्ता केन्द्रों में आवास एक अमीर की स्थिति व प्रतिष्ठा का संकेतक था।

इन केंद्रों में सम्राट व कुलीन वर्ग की उपस्थिति के कारण वहाँ कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करना आवश्यक था। शिल्पकार कुलीन वर्ग के परिवारों के लिए विशिष्ट हस्तशिल्प का पूर्णत: उत्पादन करते थे। ग्रामीण अंचलों से शहर के बाजारों में निवासियों व सेना के लिए अनाज लाया जाता था। राजकोष भी शाही राजधानी में ही स्थित था। इसलिए राज्य का राजस्व भी नियमित रूप से राजधानी में आता रहता सम्राट एक किलेबन्द महल में रहता व नगर एक दीवार से घिरा होता था जिसमें अलग-अलग द्वारों से आने-जाने पर नियंत्रण रखा जाता था। नगरों के भीतर उद्यान, मस्जिदें, मन्दिर, मकबरे, महाविद्यालय, बाजार कारवाँ सराय स्थित होती थीं। नगर का ध्यान महल व मुख्य मस्जिद की ओर होता था।

दक्षिण भारत के नगरों जैसे मदुरई व काँचीपुरम् में मुख्य केन्द्र मन्दिर होता था। ये नगर महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र भी माने जाते थे। धार्मिक त्यौहार अक्सर मेलों के साथ होते थे जिससे तीर्थ व व्यापार जुड़ जाते थे। सामान्यत: शासक धार्मिक संस्थानों का सबसे ऊँचा प्राधिकारी व मुख्य संरक्षक होता था। समाज तथा शहर में अन्य समूहों और वर्गों का स्थान शासक के साथ उनके संबंधों से तय होता था।

मध्यकालीन शहरों में शासक वर्ग के वर्चस्व वाली सामाजिक व्यवस्था में हरेक से अपेक्षा की जाती थी कि उसे समाज में अपना स्थान का ज्ञान ही। उत्तर भारत में इस व्यवस्था को बनाए रखने का कार्य कोतवाल नामक राजकीय अधिकारी का होता था जो नगर में आंतरिक मामलों पर नजर रखता था व कानून-व्यवस्था बनाए रखता था।

अठारहवीं शताब्दी में परिवर्तन

राजनीतिक व व्यापारिक पुनर्गठन के साथ पुराने नगर पतनोन्मुख हुए तथा नए नगरों का विकास होने लगा। मुगल सत्ता के क्रमिक शरण के कारण ही उसके शासन से सम्बद्ध नगरों का अवसान हो गया था। मुगल राजधानियों, दिल्ली व आगरा ने अपना राजनीतिक प्रभुत्व खो दिया। नयी क्षेत्रीय ताकतों का विकास क्षेत्रीय

राजधानियों–लखनऊ, हैदराबाद, सेरिंगपट्म, पूना (आज का पुणे), नागपुर, बड़ौदा तथा तंजौर (आज का तंजावुर)–के बढ़ते महत्व में परिलक्षित होने लगा था। व्यापारी, प्रशासक, शिल्पकार व अन्य लोग पुराने मुगल केन्द्रों से इन नयी राजधानियों की ओर काम तथा संरक्षण की तलाश में आने लगे। नए राज्यों के बीच निरंतर लड़ाइयों का परिणाम यह था कि भाड़े के सैनिकों को भी यहाँ तैयार रोजगार मिलता कुछ स्थानीय विशिष्ट लोगों व उत्तर भारत में मुगल–साम्राज्य से सम्बद्ध अधिकारियों ने भी इस अवसर का उपयोग 'कस्बे' और 'गंज' जैसी नयी शहरी बस्तियों को बसाने में किया। परंतु राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के प्रभाव सब जगह एक जैसे कदापि नहीं थे। कई स्थानों पर नए सिरे से आर्थिक गतिविधियाँ बढ़ीं, कुछ अन्य स्थानों पर युद्ध लूट–पाट व राजनीतिक अनिश्चिता आर्थिक पतन में परिणत हुई।

व्यापार तंत्रों में परिवर्तन शहरी केन्द्रों के इतिहास में पूर्ण परिलक्षित हुए। यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने पहले, मुगल काल में ही विभिन्न स्थानों पर आधार स्थापित किएं। पुर्तगालियों ने 1510 में पणजी में, डचों ने 1605 में मछलीपट्नम में, अंग्रेजों ने मद्रास में 1639 में व फ्रांसीसियों ने 1673 में पांडिचेरी (आज का पुदुचेरी) में। व्यापारिक गतिविधियों में विस्तार के साथ ही इन व्यापारिक केंद्रों के आस–पास नगर विकसित होने लगे। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक स्थल–आधारित साम्राज्यों का स्थान शक्तिशाली जल–आधारित यूरोपीय साम्राज्यों ने ले लिया था। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्यवाद तथा पूँजीवाद की शक्तियाँ अब समाज के स्वरूप को परिभाषित किया।

मध्य–अठारहवीं शताब्दी से परिवर्तन का एक नया चरण आरंभ हुआ था। जब व्यापारिक गतिविधियाँ अन्य स्थानों पर केंद्रित होने लगीं तो सत्रहवीं शताब्दी में विकसित हुए सूरत, मछलीपट्म व ढाका पतनोन्मुख हो गए। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद जैसे–जैसे अंग्रेजों ने राजनीतिक नियंत्रण हासिल किया, व इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार फैला, मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई जैसे औपनिवेशिक बंदरगाह शहर तेजी से नयी आर्थिक राजधानियों के रूप में उभरे। ये औपनिवेशिक प्रशासन तथा सत्ता के केन्द्र भी बन गए। नए भवनों संस्थानों का विकास हुआ, तथा शहरी स्थानों को नए तरीकों से व्यवस्थित किया गया। नए रोजगार विकसित हुए तथा लोग इन औपनिवेशिक शहरों की ओर उमड़ने लगे। लगभग 1800 तक ये जनसंख्या के लिहाज से भारत के विशालतम शहर बन गए थे।

● औपनिवेशिक कालीन शहरी गरीबी व विकास

औपनिवेशिक रिकॉर्ड्स और शहरी इतिहास—औपनिवेशिक शासन बेहिसाब आंकड़ों व जानकारियों के संग्रह पर आधारित था। अंग्रेजों ने अपने व्यावसायिक मामलों को चलाने के लिए व्यापारिक गतिविधियों का विस्तृत ब्यौरा रखा। बढ़ते शहरों में जीवन की गति व दिशा पर नजर रखने के लिए वे नियमित रूप से सर्वेक्षण करते थे। सांख्यिकीय आँकड़े इकट्ठा करते थे। तथा विभिन्न प्रकार की सरकारी रिपोर्टें प्रकाशित करते थे।

प्रारंभिक वर्षों से ही औपनिवेशिक सरकार ने मानचित्र तैयार करने पर खास ध्यान दिया था। सरकार का मानना था कि किसी जगह की बनावट और भूदृश्य को समझने के लिए नक्शे जरूरी होते। इस जानकारी के सहारे वे इलाके पर ज्यादा बेहतर नियंत्रण कायम कर पाते थे। जब शहर बढ़ने लगे तो न केवल उनके विकास की योजना तैयार करने के लिए बल्कि व्यवसाय को विकसित करने व अपनी सत्ता मजबूत करने के लिए भी नक्शे बनाये जाने लगे। शहरों के नक्शों से हमें उस स्थान पर पहाड़ियों, नदियों तथा हरियाली का पता चलता है। ये सारी चीजें रक्षा संबंधी उद्देश्यों के लिए योजना तैयार करने में बहुत काम आती। इसके अलावा घाटों की जगह, मकानों की सघनता और गुणवत्ता व सड़कों की स्थिति आदि से इलाके की व्यावसायिक संभावनाओं का पता लगाने और कराधान (टैक्स व्यवस्था) की रणनीति बनाने में मदद मिलती।

उन्नीसवीं सदी के आखिर से अंग्रेजों ने वार्षिक नगर पालिका कर वसूली के जरिए शहरों के रखरखाव के वास्ते पैसा इकट्ठा करने की कोशिशें शुरू कर दी। टकरावों से बचने के लिए उन्होंने कुछ जिम्मेदारियाँ

निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों को भी सौंपी हुई आंशिक लोक-प्रतिनिधित्व से लैस नगर निगम जैसे संस्थानों का उद्देश्य शहरों में जलापूर्ति, निकासी, सड़क निर्माण व स्वास्थ्य व्यवस्था जैसी अत्यावश्यक सेवाएँ उपलब्ध कराना था। दूसरी तरफ, नगर निगमों की गतिविधियों से नए तरह के रिकॉर्ड्स पैदा हुए जिन्हें नगर पालिका रिकॉर्ड रूम में सँभाल कर रखा जाने लगा था।

शहरों के फैलाव पर नजर रखने के लिए नियमित रूप से लोगों की गिनती की जाती। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक विभिन्न क्षेत्रों में कई जगह स्थानीय स्तर पर जनगणना भी की जा चुकी। अखिल भारतीय जनगणना का पहला प्रयास 1872 में किया गया था। इसके बाद, 1881 से दशकीय (हर 10 साल में होने वाली) जनगणना एक नियमित व्यवस्था बन गई थी। भारत में शहरीकरण का अध्ययन करने के लिए जनगणना से निकले आँकड़े एक बहुमूल्य स्रोत माना गया।

जब हम इन रिपोर्टों को देखते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे पास ऐतिहासिक परिवर्तन को मापने के लिए ठोस जानकारी पूर्णत उपलब्ध है। बीमारियों से होने वाली मौतों की सारणियों का अन्तहीन सिलसिला, या उम्र, लिंग, जाति तथा व्यवसाय के अनुसार लोगों को गिनने की व्यवस्था से संख्याओं का एक विशाल भंडार मिलता है जिससे सटीकता का भ्रम पैदा हो जाता। लेकिन इतिहासकारों ने पाया है कि ये आंकड़े भ्रामक हो सकते हैं। इन आंकड़ों का इस्तेमाल करने से पहले हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आंकड़े किसने इकट्ठा किए हैं, व उन्हें क्यों तथा कैसे इकट्ठा किया गया था। हमें यह भी मालूम होना चाहिए कि किस चीज को मापा गया था तथा किस चीज को नहीं मापा गया था।

मिसाल के तौर पर, जनगणना एक ऐसा साधन थी जिसके जरिए आबादी के बारे में सामाजिक जानकारियों को सुगम्य आंकडो में तब्दील किया जाता। लेकिन इस प्रक्रिया में कई भ्रम भी थे। जनगणना आयुक्तों ने आबादी के विभिन्न तबकों का वर्गीकरण करने के लिए अलग-अलग श्रेणियाँ बना दी गयी थीं। कई बार यह वर्गीकरण निहायत अतार्किक होता था व लोगों की परिवर्तनशील व परस्पर काटती पहचानों को पूरी तरह नहीं पकड़ पाता भला ऐसे व्यक्ति का किस श्रेणी मे रखा जाएगा जो कारीगर भी था तथा व्यापारी भी। जो आदमी अपनी जमीन पर खुद खेती करता है तथा उपज को खुद शहर ले जाता है, उसको किस श्रेणी में गिना जाएगा। उसे किसान माना जाएगा अथवा व्यापारी?

बहुधा लोग खुद भी इस प्रक्रिया में मदद देने से इन्कार कर देते थे अथवा जनगणना आयुक्तों को गलत जवाब दे देते थे। काफी अरसे तक वे जनगणना कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखते रहे थे। लोगों को लगता था कि सरकार नए टैक्स लागू करने के लिए जाँच भी करवा रही है। ऊँची जाति के लोग अपने घर की औरतों के बारे में जानकारी देने से हिचकिचाते थे, महिलाओं से अपेक्षा भी की जाती थी कि वे घर के भीतरी हिस्से में दुनिया से कट कर रहें, उनके बारे में सार्वजनिक दृष्टि या सार्वजनिक जाँच को सही नहीं माना गया था।

जनगणना अधिकारियों ने यह भी पाया कि बहुत सारे लोग ऐसी पहचानों का दावा करते थे जो ऊँची हैसियत की मानी जाती शहरों में ऐसे लोग भी थे जो फेरी लगाते थे या काम न होने पर मजदूरी करने लगते थे। इस तरह के बहुत सारे लोग जनगणना कर्मचारियों के सामने खुद को अक्सर व्यापारी बताते थे क्योंकि उन्हें मजदूरी के मुकाबले व्यापार ज्यादा सम्मानित गतिविधि लगती।

मृत्यु दर व बीमारियों से संबंधित आंकड़ों को इकट्ठा करना भी लगभग असंभव था। बीमार पड़ने की जानकारी भी लोग प्राय: नहीं देते थे। बहुत बार इलाज भी गैर-लाइसेंसी डॉक्टरों से करा लिया जाता था। ऐसे में बीमारी मौत की घटनाओं का सटीक हिसाब लगाना कैसे संभव था?

अथवा कहने का मतलब यही है कि इतिहासकारों को जनगणना जैसे स्रोतों का भारी अहतियात से इस्तेमाल करना पड़ता उन्हें जनगणना के पीछे निहित संभावित पूर्वाग्रहों को ध्यान में रखते हुए इन संख्याओं की सावधानी से पड़ताल अवश्य करनी चाहिए व यह समझना चाहिए कि ये संख्याएँ क्या नहीं बता रही हैं। मगर जनगणना व नगरपालिका जैसे संस्थानों के सर्वेक्षण मानचित्रों और रिकार्डों के सहारे औपनिवेशिक शहरों का पुराने शहरों के मुकाबले ज्यादा विस्तार से अध्ययन किया।

बदलाव के रूझान

जनगणनाओं का सावधानी से अध्ययन करने पर कुछ दिलचस्प रूझान भी सामने आते हैं। सन् 1800 के बाद हमारे देश में शहरीकरण की रफ्तार धीमी रही थी। पूरी उन्नीसवीं सदी व बीसवीं सदी के पहले दो दशकों तक देश की कुल आबादी में शहरी आबादी का हिस्सा बहुत मामूली और स्थिर रहा। 1900 से 1940 के बीच 40 सालों के दरमियान शहरी आबादी 10 प्रतिशत से बढ़ कर लगभग 13 प्रतिशत हो गई।

अपरिवर्तनशीलता के नीचे विभिन्न क्षेत्रों में शहरी विकास के रूझानों में उल्लेखनीय उतार-चढ़ाव छिपे हुए हैं। छोटे कस्बों के पास आर्थिक रूप से विकसित होने के ज्यादा मौके नहीं थे। तथा दूसरी तरफ कलकत्ता, बम्बई व मद्रास तेजी से फैल और जल्दी ही विशाल शहर बन गए। कहने का मतलब यह है कि नए व्यावसायिक एवं प्रशासनिक केंद्रों के रूप में इन तीन शहरों के पनपने के साथ-साथ कई दूसरे तत्कालीन शहर कमजोर भी पड़ते दिखाई दे रहे थे।

भारत में शहरीकरण 1881-1942

साल	कुल आबादी में शहरी आबादी का प्रतिशत
1891	9.4
1901	10.0
1911	9.4
1921	10.2
1931	11.1
1941	12.8

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का केंद्र होने के नाते ये शहर भारतीय सूती कपड़े जैसे निर्यात उत्पादों के लिए संग्रह भी डिपो भी थे। मगर इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के बाद इस प्रवाह की दिशा बदल गई व इन शहरों में ब्रिटेन के कारखानों में बनी चीजें उतरने लगीं। भारत से तैयार माल की बजाय कच्चे माल का निर्यात भी होने लगा।

इस आर्थिक गतिविधि का स्वरूप ऐसा था कि उसने औपनिवेशिक शहरों को देश के परंपरागत शहरों व कस्बों से बिलकुल अलग ला खड़ा किया।

1853 में रेलवे की शुरूआत हुई। इसने शहरों की कायापलट कर दी थी। आर्थिक गतिविधियों का केंद्रपरंपरागत शहरों से दूर जाने लगा क्योंकि तथा ये शहर पुराने मार्गों तथा नदियों के समीप थे। हरेक रेलवे स्टेशन कच्चे माल का संग्रह केंद्र व आयतित वस्तुओं का वितरण बिंदु बन गया। उदाहरण के लिए, गंगा के किनारे स्थित मिर्जापुर दक्कन से कपास व सूती वस्तुओं के संग्रह का केंद्र था जो बम्बई तक जाने वाली रेलवे लाइन के अस्तित्व में आने के बाद अपनी पहचान खोने लगा था। रेलवे ने अवक्र के विस्तार के बाद रेलवे वर्कशॉप्स व रेलवे कालोनियों की भी स्थापना शुरू हो गई। जमालपुर, वॉल्टेयर व बरेली जैसे रेलवे नगर अस्तित्व में आए।

● नए शहरों का विकास

बंदरगाह, किले और सेवाओं

अठारहवीं सदी तक मद्रास, कलकत्ता व बम्बई महत्वपूर्ण बंदरगाह बन चुके थे। यहाँ जो आबादियाँ बसीं वे चीजों के संग्रह के लिए काफी उपयोगी साबित हुई थी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कारखाने (यानी वाणिज्यिक कार्यालय) इन्हीं बस्तियों में बनाए व यूरोपी कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा के कारण सुरक्षा के उद्देश्य से इन बस्तियों की किलेबंदी कर दी। मद्रास में फोर्ट सेंट जॉर्ज, कलकत्ता में फोर्ट विलियम तथा बम्बई में फोर्ट,

ये इलाके ब्रिटिश आबादी के रूप में जाने जाते थे। यूरोपीय व्यापारियों के साथ लेन-देन चलाने वाले भारतीय व्यापारी, कारीगर व कामगार इन किलों के बाहर अलग बस्तियों में रहते थे। यूरोपीयों व भारतीयों के लिए शुरू से ही अलग क्वार्टर बनाए गये थे। उस समय के लेखन में उन्हे ''व्हाइट टाउन'' (गोरा शहर) और ''ब्लैक टाउन'' (काला शहर) के नाम से उद्धृत किया जाता। राजनीतिक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ जाने के बाद यह नस्ली फर्क और भी तीखा हो गया था।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेलवे के फैलते नेटवर्क ने इन शहरों को शेष भारत से जोड़ दिया था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ से कच्चा माल व मजदूर आते थे, ऐसे देहाती व दूर-दराज इलाके भी इन बंदरगाह शहरों से गहरे तौर पर जुड़ने लगे थे। क्योंकि कच्चा माल निर्यात के लिए इन शहरों में आता था व सस्ते श्रम की कोई कमी नहीं थी इसलिए वहाँ कारखाना लगाना आसान था। 1850 के दशक के बाद भारतीय व्यापरियों तथा उद्यमियों ने बम्बई में सूती कपड़ा मिलें लगाई। कलकत्ता के बाहरी इलाके में यूरोपीयों के स्वामित्व वाली जूट मिलें खोली गई थी। यह भारत में आधुनिक औद्योगिक विकास की शुरूआत थी।

हालाँकि कलकत्ता, बम्बई व मद्रास इंग्लिश कारखानों के लिए कच्चा माल भेजते थे तथा पूँजीवाद जैसी आधुनिक आर्थिक ताकतों के बल पर मजबूती से सामने आ चुके थे लेकिन उनकी अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से फैक्ट्री उत्पादन पर आधारित नहीं थी। इन शहरों की ज्यादातर कामकाजी आबादी उस श्रेणी में आती थी जिसे अर्थशास्त्री तृतीयक क्षेत्र अथवा सेवा क्षेत्र कहते हैं। उस समय यहाँ सही मायनों में केवल दो ''औद्योगिक शहर'' थे। एक कानपुर व दूसरा जमशेदपुर। कानपुर में चमड़े की चीजें, ऊनी और सूती कपड़े बनते थे जबकि जमशेदपुर स्टील उत्पादन के लिए विख्यात था। भारत कभी भी एक आधुनिक औद्योगिक देश नहीं बन पाया क्योंकि पक्षपातपूर्ण औपनिवेशिक नीतियों ने हमारे औद्योगिक विकास को आगे नहीं बढ़ने दिया था। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास बड़े शहर तो बने लेकिन इससे औपनिवेशिक भारत की समूची अर्थव्यवस्था में कोई नाटकीय इजाफा नहीं हुआ था।

एक नया शहरी परिवेश

1. औपनिवेशिक शहर नए शासकों की वाणिज्यिक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते थे। राजनीतिक सत्ता और सरंक्षण भारतीय शासकों के स्थान पर ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों के हाथ में जाने लगा। दुभाषिए, बिचौलिए, व्यापारी और माल आपूर्तिकर्ता के रूप मे काम करने वाले भारतीयों का भी इन नए शहरों में एक महत्वपूर्ण स्थान था।

2. नदी या समुद्र के किनारे आर्थिक गतिविधियों से गोदियों और घाटियों का विकास हुआ था। समुद्र किनारे गोदाम, वाणिज्यिक कार्यालय जहाजरानी उद्योग के लिए बीमा एजेंसियाँ, यातायात डिपो और बैंकिंग संस्थानों की स्थापना होने लगी।

3. कंपनी के मुख्य प्रशासकीय कार्यालय समुद्र तट से दूर बनाए गए। कलकत्ता में स्थित राइर्ट बिल्डिंग इसी तरह का एक दफ्तर हुआ करती थी। यहाँ ''राइटर्स'' का आशय क्लर्कों से ही था। यह ब्रिटिश शासन में नौकरशाही के बढ़ते कद का संकेत था।

4. किले की चाहरदिवारी के आस-पास यूरोपीय व्यापारियों और एजेंटों ने यूरोपीय शैली के महलनुमा मकान बना लिए थे। कुछ ने शहर की सीमा से सटे उपशहरी इलाकों में बगीचा घर बना लिए थे। शासक वर्ग के लिए नस्ली विभेद पर आधारित क्लब, रेसकोर्स और रंगमंच भी बनाए गए थे।

5. अमीर भारतीय एजेंटों और बिचौलियों ने बाजारों के आस-पास ब्लैक टाउन में परंपरागत ढंग के दालानी मकान बनवाए। उन्होंने भविष्य मे पैसा लगाने के लिए शहर के भीतर बड़ी-बड़ी जमीनें भी खरीद ली गयी थीं।

6. अपने अंग्रेज स्वामियों को प्रभावित करने के लिए वे त्योहारों के समय रंगीन दावतों का आयोजन करते थे। समाज में अपनी हैसियत साबित करने के लिए उन्होंने मंदिर भी बनवाए थे। मजदूर वर्ग के लोग

अपने यूरोपीय और भारतीय स्वामियों के लिए खानसामा, पालकीवाहक, गाड़ीवान, चौकीदार, पोर्टर व निर्माण व गोदी मजदूर के रूप में विभिन्न सेवाएँ उपलब्ध कराते थे। वे शहर के विभिन्न इलाकों में कच्ची झोंपड़ियों में रहते थे।

7. उन्नीसवीं सदी के मध्य में औपनिवेशिक शहर का स्वरूप और भी बदल गया। 1857 के विद्रोह के बाद भारत में अंग्रेजों का रवैया विद्रोह की लगातार आशंका से तय होने लगा। उनको लगता था कि शहरों की व अच्छी तरह हिफाजत करना जरूरी है तथा अंग्रेजों को ''देशियों'' के खतरे से दूर, ज्यादा सुरक्षित व पृथक बस्तियों में रहना चाहिए। पुराने कस्बों के इर्द-गिर्द चरागाहों और खेतों को साफ कर दिया गया।

8. ''सिविल लाइन्स'' के नाम से नए शहरी इलाके विकसित किए गए। सिविल लाइन्स में केवल गोरों का बसाया गया। छावनियों को भी सुरक्षित स्थानों के रूप मे विकसित किया गया था।

9. छावनियों में यूरोपीय कमान के अंतर्गत भारतीय सैनिक तैनात किए जाते थे। ये इलाके मुख्य शहर से अलग लेकिन जुड़े हुए होते थे तथा चौड़ी सड़कों, बड़े बगीचों में बने बंगलों, बैरकों, परेड़ मैदान और चर्च आदि से लैस ये छावनियाँ यूरोपीय लोगों के लिए एक सुरक्षित आश्रय स्थल तो थीं ही, भारतीय कस्बों को घनी और बेतरतीब बसावट के विपरीत व्यवस्थित शहरी जीवन का एक नमूना भी थीं।

10. अंग्रेजों की नजर में काले इलाके न केवल अराजकता और हो-हल्ले का केंद्र थे वे गंदगी और बीमारी का स्रोत भी थे। काफी समय तक अंग्रेजो की दिलचस्पी गोरों की आबादी में सफाई और स्वच्छता बनाए रखने तक ही सीमित थी लेकिन जब हैजा और प्ले जैसी महामारियाँ फैलीं और हजारों लोग मारे गये तो औपनिवेशिक अफसरों की स्वच्छता व सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए ज्यादा कड़े कदम उठाने की जरूरत महसूस हुई। तथा उनको भय था कि कहीं ये बीमारियाँ ब्लैक टाउन से व्हाइट टाउन में भी न फैल जाएँ। 1860-70 के दशकों से साफ-सफाई के बारे में कड़े प्रशासकीय उपाय लागू किए गये और भारतीय शहरों में निर्माण गतिविधियों पर अंकुश लगाया गया था। लगभग इसी समय भूमिगत पाइप आधारित जलापूति, शहरों को नियमित व नियंत्रित करने के लिए स्वच्छता निगरानी भी एक अहम तरीका बन गया।

पहला हिल स्टेशन

छावनियों की तरह हिल स्टेशन औपनिवेशिक शहरी विकास का एक खास पहलू ही थी। हिल स्टेशनों की स्थापना और बसावट का संबंध सबसे पहले ब्रिटिश सेना की जरूरतों से ही था। सिमला (वर्तमान शिमला) की स्थापना गुरखा युद्ध (1815-1816) के दौरान की गई थी। अंग्रेज-मराठा (1818) युद्ध के कारण अंग्रेजों की दिलचस्पी माउंट आबू में बनी जबकि दार्जीलिंग को 1835 में सिक्किम के राजाओं से छीना गया था। ये हिल स्टेशन फौजियों को ठहराने, सरहद की चौकसी करने व दुश्मन के खिलाफ हमला बोलने के लिए महत्वपूर्ण स्थान माने गए थे।

भारतीय पहाड़ों की मृदु व ठंडी जलवायु को फायदे की चीज माना जाता था, खासतौर से इसलिए कि अंग्रेज गर्म मौसम को बीमारियाँ पैदा करने वाला मानते थे। उन्हें गार्मियों के कारण हैजा व मलेरिया की सबसे ज्यादा आंशका रहती थी। वे फौजियों का इन बीमारियों से दूर रखने की पूरी कोशिश किया करते थे। सेना की भारी-भरकम मौजूदगी के कारण ये स्थान पहाड़ियों में एक नयी तरह की छावनी बन गये थे। इन हिल स्टेशनों को सेनेटोरियम के रूप में भी विकसित किया गया था। तथा सिपाहियों को यहाँ विश्राम करने और इलाज कराने के लिए भेजा जाता था।

क्योंकि हिल स्टेशनों की जलवायु यूरोप की ठंडी जलवायु से मिलती-जुलती थी इसलिए नये शासकों का वहाँ की आबो-हवा काफी लुभाती थी। वायसराय अपने पूरे अमले के साथ हर साल गर्मियों में हिल स्टेशनों पर ही डेरा डाल लिया करते थे। 1864 में वायसराय जॉन लॉरेंस ने अधिकृत रूप से अपनी काउंसिल शिमला में स्थानांतरित कर दी। इस तरह गर्म मौसम मे राजधानियाँ बदलने के सिलसिले पर विराम लगा दिया। शिमला भारतीय सेना के कमांडर इन चीफ (प्रधान सेनापति) का भी अधिकृत आवास बन गया।

हिल स्टेशन ऐसे अंग्रेजों व यूरोपीयनों के लिए भी आदर्श स्थान थे जो अपने घर जैसी मिलती-जुलती बस्तियाँ बसाना चाहते थे। उनकी इमारतें यूरोपीय शैली की होती थीं। अलग-अलग मकानों के बाद एक-दूसरे से कटे विला तथा बागों के बीच में स्थित कॉटेज बनाए जाते थे। एंग्लिकन चर्च शैक्षणिक संस्थान आंग्ल आदर्शों को प्रतिनिधित्व करते थे। सामाजिक दावत, चाय, बैठक, पिकनिक, रात्रिभोज, मेले, रेस और रंगमंच जैसी घटनाओं के रूप में यूरोपीयों का सामाजिक जीवन भी एक खास किस्म का था।

रेलवे के आने से ये पर्वतीय सैरगाहें बहुत तरह के लोगों की पहुँच में आ गईं। अब भारतीय भी वहाँ जाने लगे। उच्च मध्यवर्गीय लोग, महाराजा, वकील और व्यापारी सैर-सपाटे के लिए इन स्थानों पर जाने लगे। वहाँ उन्हें शासक यूरोपीय अभिजन के निकट होने का संतोष मिलता था।

हिल स्टेशन औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के लिए भी अनेक महत्वपूर्ण थे। इनके पास के इलाकों में चाय और कॉफी बगानों की स्थापना से मैदानी इलाकों से बड़ी संख्या में मजदूर वहाँ आने लगे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि अब हिल स्टेशन केवल यूरोपीय लोगों की ही सैरगाह नहीं रह गए।

नए शहरों में सामाजिक जीवन

साधारण भारतीय आबादी के लिए नए शहर दाँतों तले उँगली दबा लेने का अनुभव थे जहाँ जिंदगी हमेशा दौड़ती-भागती सी दिखाई ही देती थी। वहाँ चरम संपन्नता व गहन गरीबी, दोनों के दर्शन एक साथ होते थे।

घोड़ागाड़ी जैसे नए यातायात साधन तथा बाद में ट्रामों और बसों के आने से यह हुआ कि अब लोग शहर के केंद्र से दूर जाकर भी बस सकते थे। समय के साथ काम की जगह व रहने की जगह, दोनों एक-दूसरे से अलग होते गए। घर से दफ्तर अथवा फैक्टरी जाना एक नए किस्म का अनुभव बन गया।

यद्यपि अब पुराने शहरों में मौजूद सामंजस्य और वाकफियत का अहसास गायब था लेकिन टाउन हॉल, सार्वजनिक पार्क, रंगशालाओं और बीसवीं सदी में सिनेमा हॉलों जैसे सार्वजनिक स्थानों के बनने से शहरों में लोगों को मिलने-जुलने की उत्तेजक नयी जगह व अवसर मिलने लगे थे। शहरों में नए सामाजिक समूह बने तथा लोगों की पुरानी पहचानें महत्वपूर्ण नहीं रहीं थी। तमाम वर्गों के लाग बड़े शहरों में आने लगे। क्लर्कों, शिक्षकों, वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, अकाउंटेंट्स की माँग लगभग बढ़ती जा रही नतीजा, ''मध्यवर्ग'' बढ़ता गया। उनके पास स्कूल, कॉलेज व लाइब्रेरी जैसे नए शिक्षा संस्थानों तक अच्छी पहुँच थी। शिक्षित होने के नाते वे समाज और सरकार के बारे में अखबारों, पत्रिकाओं व सार्वजनिक सभाओं में अपनी राय व्यक्त कर सकते थे। बहस व चर्चा का एक नया सार्वजनिक दायरा पैदा हुआ। सामाजिक रीति-रिवाज, कायदे-कानून और तौर-तरीकों पर सवाल उठने लगे।

लेकिन बहुत सारे सामाजिक बदलाव स्वाभाविक रूप से अथवा आसानी से नहीं आ रहे थे। शहरों में औरतों के लिए नए अवसर थे। पत्र-पत्रिकाओं, आत्मकथाओं व पुस्तकों के माध्यम से मध्यवर्गीय औरतें खुद को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही थीं। परंपरागत पितृसत्तात्मक कायदे-कानूनों को बदलने की इन कोशिशों से बहुत सारे लोगों को असंतोष था। रूढ़िवादियों को भय था कि अगर औरतें पढ़-लिख गई तो वे दुनिया को उलट कर रख देंगी व पूरी सामाजिक व्यवस्था का आधार खतरे में पड़ जाएगा। यहाँ तक कि महिलाओं की शिक्षा का समर्थन करने वाले सुधारक भी औरतों को माँ और पत्नी परंपरागत भूमिकाओं में ही देखते थे व चाहते थे कि वे घर की चारदीवारी के भीतर ही रहें। समय बीतने के साथ सार्वजनिक स्थानों पर महिलाओं की उपस्थिति बढ़ने लगी। वे नौकरानी तथा फैक्ट्री मजदूर, शिक्षिका, रंगकर्मी तथा फिल्म कलाकार के रूप में शहर के नए व्यवसायों में दाखिल होने लगीं। लेकिन ऐसी महिलाओं को लंबे समय तक सामाजिक रूप से सम्मानित नहीं माना गया जो घर से निकलकर सार्वजनिक स्थानों में जा रही थीं।

शहरों में मेहनतकश गरीबों अथवा कामगारों का एक नया वर्ग उभर रहा था। ग्रामीण इलाकों के गरीब रोजगार की उम्मीद में शहरों की तरफ ही भाग रहे थे। वछ लोगों को शहर नए अवसरों का स्रोत दिखाई देने लगे थे। कुछ को एक भिन्न जीवनशैली का आकर्षण भी खींच रहा था। उनके लिए यह एक ऐसी चीज थी जो

उन्होंने पहले कभी नहीं देखी गयी थी। शहर में जीने की लागत पर अंकुश रखने के लिए ज्यादातर पुरूष प्रवासी अपना परिवार गाँव में छोड़कर ही आते थे। शहर की जिंदगी एक संघर्ष थी। नौकरी पक्की नहीं थी, खाना मँहगा था, रिहाइश का खर्चा उठाना व मुश्किल था। फिर भी गरीगों न यहाँ प्राय: अपनी एक अलग जीवंत शहरी संस्कृति रच ली थी। वे धार्मिक त्योहारों, तमाशों (लोक रंगमंच) और स्वांग आदि में उत्साहपूर्वक हिस्सा लेते थे जिनमें ज्यादातर उनके भारतीय तथा यूरोपीय स्वामियों का मजाक उडाया जाता था।

● भारतीय अनौपचारिक क्षेत्र में पृथक्करण, नगर नियोजन और भवन निर्माण

यद्यपि मद्रास, कलकत्ता और बम्बई, तीनों औपनिवेशिक शहर पहले के भारतीय कस्बों और शहरों से अलग थे लेकिन उनमें कुछ साझे तत्व थे तथा उनके भीतर कुछ अनूठी बातें पैदा हो चुकी थीं। इनकी चाँच करने पर औपनिवेशिक शहरों के बारे में हमारी समझ में निश्चय ही इजाफा होगा।

मद्रास में बसावट और पृथक्करण

कंपनी ने अपनी व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र सबसे पहले पश्चिमी तट पर सूरत के सुस्थापित बंदरगाह को बनाया। बाद में वस्त्र उत्पादों की खोज में अंग्रेज व्यापारी पूर्वी तट पर जा पहुँचे था। 1639 में उन्होंने मद्रासपटम में एक व्यापारिक चौकी बनाई थी। इस बस्ती को स्थानीय लोग चेनापट्टनम कहते कंपनी ने वहाँ बसने का अधिकार स्थानीय तेलगु सामंतों, कालाहस्ती के नायकों से खरीदा था जो अपने इलाके में व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाना देना चाहते थे। फ्रेंच ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ प्रतिद्वंद्विता (1746-63) के कारण अंग्रेजों को मद्रास की किलेबंदी करनी पड़ी व अपने प्रतिनिधियों को ज्यादा राजनीतिक व प्रशासकीय जिम्मेदारियाँ सौंप दीं। 1761 में फ्रांसीसियों की हार के बाद मद्रास और सुरक्षित हो गया था। वह एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक शहर के रूप में विकसित होने लगा था। यहाँ अंग्रेजों का वर्चस्व व भारतीय व्यापारियों की कमतर हैसियत साफ दिखाई देती थी।

फोर्ट सेंट जॉर्ज (सेंट जॉर्ज किला) व्हाइट टाउन का केंद्रक बन गया जहाँ ज्यादातर यूरोपीय रहते थे। दीवारों व बुर्जों ने इसे एक खास किस्म की घेरेबंदी का रूप दे दिया था। किले के भीतर रहने का फैसला रंग व धर्म के आधार पर किय जाता था। कंपनी के लोगों को भारतीयों के साथ विवाह करने की इजाजत नहीं थी। यूरोपीय ईसाई होने के कारण डच व पुर्तगालियों को वहाँ रहने की छूट थी। प्रशासकीय तथा न्यायिक व्यवस्था की संरचना भी गोरों के पक्ष में थी। संख्या की दृष्टि से कम होते हुए भी यूरोपीय लोग शासक थे व मद्रास का विकास शहर में रहने वाले मुठ्ठी भर गोरों की जरूरतों और सुविधाओं के हिसाब से किया जा रहा था।

ब्लैक टाउन किले के बाहर विकसित हुआ तथा इस आबादी को भी सीधी कतारों में बसाया गया था जोकि औपनिवेशिक शहरों की विशिष्टता थी। लेकिन अठारहवीं सदी के पहले दशक के मध्य में उसे ढहा दिया गया ताकि किले के चारों तरफ एक सुरक्षा क्षेत्र बनाया जा सके। इसके बाद उत्तर की दिशा में दूर जाकर एक नया ब्लैक टाउन बसाया गया था। इस बस्ती मे बुनकरों, कारीगरों, बिचौलियों और दुभाषियों का रखा गया था जो कंपनी के व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाते थे।

नया ब्लैक टाउन परंपरागत भारतीय शहरों जैसा था। वहाँ मंदिर व बाजार के इर्द-गिर्द रिहाइशी मकान बनाए गये थे। शहर के बीच से गुजरने वाली आड़ी-टेढ़ी संकरी गलियों में अलग-अलग जातियों के मोहल्ले थे। चिन्ताद्रीपेठ इलाका केवल बुनकरों के लिए था। वाशरमेनपेट में रंगसाज व धोबी रहते थे। रोयापुरम में ईसाई मल्लाह रहते थे जो कंपनी के लिए काम करते थे।

मद्रास को बहुत सारे गाँवों को मिला कर विकसित किया गया था। यहाँ विविध समुदायों के लिए अवसरों व स्थानों का प्रबंध था। नाना प्रकार के आर्थिक कार्य करने वाले कई समुदाय आए और व मद्रास में ही बस गए। दुबाश ऐसे भारतीय लोग थे जो स्थानीय भाषा व अंग्रेजी, दोनों को बोलना जानते थे। वे एजेंट व व्यापारी के रूप में काम करते थे और भारतीय समाज व गोरों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। वे संपत्ति

इकट्ठा करने के लिए सरकार में अपनी पहुँच का इस्तेमाल करते थे। ब्लैक टाउन में परोपकारी कार्यों व मंदिरों को संरक्षण प्रदान करने से समाज में उनकी शक्तिशाली स्थिति स्थापित होती थी।

शुरूआत में कंपनी के तहत नौकरी पाने वालों में लगभग सारे वेल्लालार होते थे। यह एक स्थानीय ग्रामीण जाति थी जिसने ब्रिटिश शासन के कारण मिले नए मौकों का बढ़िया फायदा उठाया था। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से ब्राह्मण भी शासकीय महकमों में इसी तरह के पदों के लिए जोर लगाने लगे थे। तेलुगू कोमाटी समुदाय एक ताकतवर व्यावसायिक समूह था जिसका शहर के अनाज व्यवसाय पर पूर्णत नियंत्रण था। अठाहरवीं सदी से गुजराती बैंकर भी यहाँ मौजूद थे। पेरियार व वन्नियार गरीब कामगार वर्ग में ज्यादा थे। आरकोट के नवाब पास ही स्थित ट्रिप्लीकेन में जा बसे थे जो एक अच्छी-खासी मुस्लिम आबादी का केंद्र बन गया था। इससे पहलेम माइलापुर व ट्रिप्लीकेन हिंदू धार्मिक केंद्र थे जहाँ अनेक ब्राह्मणों को भरण-पोषण मिलता था। सान थोम वहाँ का गिरजा रोमन कैथलिक समुदाय का केंद्र था। ये सभी बस्तियाँ मद्रास शहर का हिस्सा बन गई थी। इस प्रकार, बहुत सारे गाँवों को मिला लेने से मद्रास दूर तक फैली अल्प सघन आबादी वाला शहर बन गया था। इस बात पर यूरोपीय यात्रियों का भी ध्यान गया व सरकारी अफसरों ने भी उस पर टिप्पणी की।

जैसे-जैसे अंग्रेजों की सत्ता मजबूत होती गई, यूरोपीय निवासी किले से बाहर जाने लगे थे। गार्डन हाउसेज (बगीचों वाले मकान) सबसे पहले माउंट रोड और पूनामाली रोड, इन दो सड़कों पर बनने शुरू हुए थे। ये किले से छावनी तक जाने वाली सड़कें ही थीं। इस दौरान संपन्न भारतीय भी अंग्रेजों की तरह रहने लगे थे। परिणामस्वरूप मद्रास के इर्द-गिर्द स्थित गाँवो की जगह बहुत सारे नए उपशहरी इलाकों ने ले ली थी। यह इसलिए संभव था। क्योंकि संपन्न लोग परिवहन सुविधाओं की लागत वहन कर सकते थे। गरीब लोग अपने काम की जगह से नजदीक पड़ने वाल गाँवों में बस गए थे। मद्रास के बढ़ते शहरीकरण का परिणाम यह था कि इन गाँवों के बीच वाले इलाके शहर के भीतर आ गए थे। इस तरह मद्रास एक अर्धग्रामीण सा शहर दिखने लगा था।

कलकत्ता में नगर नियोजन

आधुनिक नगर नियोजन की शुरूआत औपनिवेशिक शहरों से हुई। इस प्रक्रिया में भूमि उपयोग और भवन निर्माण के नियमन के जरिए शहर के स्वरूप को परिभाषित किया गया था। इसका एक मतलब यह था कि शहरों में लोगों के जीवन को सरकार ने नियंत्रित करना शुरू कर दिया। इसके लिए एक योजना तैयार करना पूरी शहरी परिधि का स्वरूप तैयार करना जरूरी था। यह प्रक्रिया अक्सर इस सोच से प्रेरित होती थी कि शहर कैसा दिखना चाहिए व उसे कैसे विकसित किया जाएगा। इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि विभिन्न स्थानों को कैसे व्यवस्थित करना चाहिए। इस दृष्टि से ''विकास'' की सोच और विचाराधारा प्रतिबिम्बित होती थी और उसका क्रियान्वयन जमीन, उसके बाशिंदों और संसाधनों पर नियंत्रण के जरिए किया जाता था।

इसकी कई वजह थीं कि अंग्रेजों ने बंगाल में अपने शासन के शुरू में ही नगर नियोजन का कार्यभार अपने हाथों में क्यों ले लिया एक फौरी वजह तो रक्षा उद्देश्यों से संबंधित थी। 1756 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर हमला किया व अंग्रेज व्यापारियों द्वारा माल गोदाम के तौर पर बनाए गए छोटे किले पर कब्जा कर लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी नवाब की संप्रभुता पर लगातार सवाल उठा रहे थे। वे न तो कस्टम डयूटी चुकाना चाहते थे व न ही नवाब द्वारा तय की गई कारोबार की शर्तों पर काम करना चाहते थे। सिराजुद्दौला अपनी ताकत का लोहा भी मनवाना चाहता था।

कुछ समय बाद, 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला की हार हुई थी। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक ऐसा नया किला बनाने का फैसला लिया जिस पर आसानी से हमला न किया जा सके। तथा कलकत्ता को सुतानाती, कोलकाता और गोविंदपुर, इन तीन गाँवों को मिला कर बनाया गया था। कंपनी ने इन तीनों में सबसेम दक्षिण में पड़ने वाले गोविंदपुर गाँव की जमीन को साफ करने के वहाँ के व्यापारियों व बनुकरों को हटने का आदेश जारी कर दिया था। नवनिर्मित फोर्ट विलियम के इर्द-गिर्द एक विशाल जगह खाली छोड़ दी

गई थी। जिसे स्थानीय लोग मैदान या गारेर-मठ कहने लगे थे। खाली मैदान रखने का मकसद यह था कि अगर दुश्मन की सेना किले की तरफ बढ़े तो उस पर किले से बेरोक-टोक गोलीबारी की जा सके थे। जब अंग्रेजों को कलकत्ता में अपनी उपस्थिति स्थायी दिखाई देने लगी तो वे फोर्ट से बाहर मैदान के किनारे पर भी आवासीय इमारतें बनाने लगे थे। कलकत्ता में अंग्रेजों की बस्तियाँ इसी तरह अस्तित्व में आनी शुरू हुई थी। फोर्ट के इर्द-गिर्द की विशाल खुली जगह (जो अभी भी मौजूद है) यहाँ की एक पहचान बन गई। यह कलकत्ता में नगर-नियोजन की दृष्टि से पहला उल्लेखनीय काम ही था।

कलकत्ता में नगर-नियोजन का इतिहास केवल फोर्ट विलियम व मैदान के निर्माण के साथ पूरा होने वाला नहीं था। 1798 में **लॉर्ड वेलेजली गवर्नर जनरल** बने। उन्होंने कलकत्ता में अपने लिए गवर्नमेंट हाउस के नाम से एक महल बनवाया था। यह इमारत अंग्रेजों की सत्ता का प्रतीक मानी गयी थी। कलकत्ता में आ जमने के बाद वेलेजली शहर के हिन्दुस्तानी आबादी वाले हिस्से की भीड़-भाड़, जरूरत से ज्यादा हरियाली, गंदे तालाबों, सड़ांध व निकासी की खस्ता हालत को देखकर परेशान हो उठा। अंग्रेजों को इन चीजों से इसलिए परेशानी थी क्योंकि उनका मानना था दलदली जमीन और ठहरे हुए पानी के तालाबों से जहरीली गैसें निकलती हैं जिनसे बीमारियाँ भी फैलती हैं। उष्णकटिबंधीय जल को वैसे भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक व शक्ति का क्षय करने वाला माना जाता था। शहर को ज्यादा स्वास्थ्यपरक बनाने का एक तरीका यह ढूँढ़ा गया कि शहर में खुले स्थान छोड़े जाएँ। वेलेज्ली ने 1803 में नगर-नियोजन की आवश्यकता पर एक प्रशासकीय आदेश जारी किया व इस विषय में कई कमेटियों का गठन किया। बहुत सारे बाजारों, घाटों, कब्रिस्तानों और चर्मशोधन इकाइयों को साफ किया गया या हटा दिया गया। इसके बाद ''जनस्वास्थ्य' एक ऐसा विचार बन गया जिसकी शहरों की सफाई व नगर-नियोजन परियोजनाओं में बार-बार दुहाई दी जाने लगी।

वेलेज्ली की विदाई के बाद नगर-नियोजन का काम सरकार की मदद से लॉटरी कमेटी (1817) ने जारी रखा था। लॉटरी कमेटी का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि नगर सुधार के लिए पैसे की व्यवस्था जनता के बीच लॉटरी बेचकर ही की जाती इसका मतलब है कि उन्नीसवीं सदी के शुरूआती दशकों तक शहर के विकास के लिए पैसे की व्यवस्था करना अभी भी केवल सरकार की नहीं बल्कि संवेदनशील नागरिकों की जिम्मेदारी ही माना जाता लॉटरी कमेटी ने शहर का एक नया नक्शा बनवाया जिससे कलकत्ता की एक मुकम्मल तसवीर सामने आ सके थे। कमेटी की प्रमुख गतिविधियों में शहर के हिंदुस्तानी आबादी वाले हिस्से में सड़क-निर्माण व नदी किनारे से ''अवैध कब्जे'' हटाना शामिल था। शहर के भारतीय हिस्से को साफ-सुथरा बनाने की मुहिम में कमेटी ने बहुत सारी झोंपड़ियों को साफ कर दिया व मेहनतकश गरीबों को वहाँ से बाहर निकाल दिया। उन्हें कलकत्ता के बाहरी किनारे पर जगह दी गई थी।

अगले कुछ दशकों में महामारी की आशंका से नगर-नियोजन की अवधारणा को व बल मिला। 1817 में हैजा फैलने लगा 1896 में प्लेग ने शहर को अपनी चपेट में ले लिया था। चिकित्सा विज्ञान अभी इन बीमारियों की वजह स्पष्ट नहीं कर पाया सरकार ने उस समय के स्वीकृत सिद्धांत-जीवन परिस्थितियों और बीमारियों के फैलाव के बीच सीधा संबंध होता है-के अनुसार कारवाई की थी। इस सोच को द्वारकानाथ टैगोर और रूस्तमजी कोवासजी जैसे शहर के जाने-माने हिंदुस्तानियों का समर्थन हासिल कर लिया था। उन लोगों का मानना था कि कलकत्ता को ज्यादा स्वास्थ्यकर बनाना जरूरी है। घनी आबादी वाले इलाकों को अस्वच्छ माना जाता था क्योंकि वहाँ सूरज की रोशनी सीधे नहीं आ पाती थी व हवा निकासी का इन्तजाम नहीं था। इसीलिए कामकाजी लोगों की झोंपड़ियों या ''बस्तियों'' को निशाना बनाया गया था। उन्हें तेजी से हटाया जाने लगा। मजदूर, फेरी वाले, कारीगर और बेरोजगार यानी शहर के गरीबो को एक बार फिर दूर वाले इलाकों में ढकेल दिया गया था। बार-बार आग लगने से भी निर्माण नियमन में सख्ती की जरूरत दिखाई दे रही थी। उदाहरण के लिए, 1836 में इसी आशंका के चलते फूँक की झोंपड़ियों का अवैध घोषित कर दिया गया व मकानों में ईंटों की छत को अनिवार्य बना दिया गया।

उन्नीसवीं सदी आते-आते शहर में सरकारी दखलंदाजी व ज्यादा सख्त हो चुकी थी। वो जमाना लद चुका था जब नगर-नियोजन को सरकार और निवासियों, दोनों की साझा जिम्मेदारी माना जाता था। वित्तपोषण (फंडिग) सहित नगर-नियोजन के सारे आयामों को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। इस आधार पर ज्यादा तेजी से झुग्गियों को हटाया जाने लगा था। और दूसरे इलाकों की कीमत पर ब्रिटिश आबादी वाले हिस्सों को तेजी से विकसित किया जाने लगा। ''स्वास्थ्यकर'' और ''अस्वास्थ्यकर'' के नए विभेद के सहारे ''व्हाइट'' व ''ब्लैक'' टाउन वाले नस्ली विभाजन को और बल मिला। नगर निगम में मौजूद भारतीय नुमाइंदों ने शहर के यूरोपीय आबादी वाले इलाकों के विकास पर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिए जाने का विरोध किया था। इन सरकारी नीतियों के विरूद्ध जनता के प्रतिरोध ने भारतीयों के भीतर उपनिवेशवाद विरोधी और राष्ट्रीवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया था।

जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य फैला, अंग्रेज कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे शहरों को शानदार शाही राजधानियों में तब्दील करने की कोशिश करने लगे थे। उनकी सोच से ऐसा लगता था मानों शहरों की भव्यता से ही शाही सत्ता की ताकत प्रतिबिंबित होती दिखायी देती है। आधुनिक नगर-नियोजन में ऐसी हर चीज को शामिल किया गया जिसके प्रति अंग्रेज अपनेपन का दावा भी करते थे। जैसे तर्कसंगत क्रम-व्यवस्था, सटीक क्रियान्वयन, पश्चिमी सौंदर्यात्मक आदर्श। शहरों का साफ और व व्यवस्थित, नियोजित और सुंदर होना जरूरी था।

यदि इस शाही दृष्टि को साकार करने का एक तरीका नगर-नियाजन था तो दूसरा तरीका यह था कि शहरों में भव्य इमारतों के मोती भी ढाँक दिए जाएँ। शहरों में बनने वाली इमारतों में किले, सरकारी दफ्तर, शैक्षणिक संस्थान, धार्मिक इमारतें, स्मारकीय मीनारें व्यावसायिक डिपो, यहाँ तक कि गोदियाँ पुल, कुछ भी हो सकता था। बुनियादी तौर पर ये इमारतें रक्षा, प्रशासन व वाणिज्य जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं, लेकिन ये साधारण इमारतें नहीं थीं। अक्सर ये इमारतें शाही सत्ता, राष्ट्रवाद व धार्मिक वैभाव जैसे विचारों का प्रतिनिधित्व भी करती थीं।

शुरूआत में बम्बई सात टापुओं का इलाका माना जाता था। जैसे-जैसे आबादी बढ़ी, इन टापुओं को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया ताकि ज्यादा जगह पैदा की जा सके। इस तरह आखिरकार ये टापू एक-दूसरे से जुड़ गए व एक विशाल शहर अस्तित्व में आया। बम्बई औपनिवेशिक भारत की वाणिज्यिक राजधानी थी। पश्चिमी तट पर एक प्रमुख बंदरगाह होने के नाते यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मध्य केंद्र था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारत का आधा निर्यात व आयात बम्बई से ही होता था। इस व्यापार की एक महत्वपूर्ण वस्तु अफीम थी। ईस्ट इंडिया कंपनी यहाँ से चीन को अफीम का निर्यात भी करती थी। भारतीय व्यापारी व बिचौलिये इस व्यापार में हिस्सेदार थे और उन्होंने बम्बई की अर्थव्यवस्था को मालवा, राजस्थान व सिंध जैसे अफीम उत्पादक इलाकों से जोड़ने में मदद दी। कंपनी के साथ यह गठजोड़ उनके लिए मुनाफे का सौदा था व इससे भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ। बम्बई के पूँजीपति वर्ग में पारसी, मारवाड़ी, कोंकणी मुसलमान, गुजराती बनिये, गोहरा, यहूदी व आर्मीनियाई, विभिन्न समुदायों के लोग शामिल थे।

1. 1861 में अमेरिकी गृह युद्ध शुरू हुआ तो अमेरिका के दक्षिणी भाग से आने वाली कपास अंतर्राष्ट्रीय बाजार में आना बंद हो गई। इससे भारतीय कपास की माँग पैदा हुई जिसकी खेती मुख्य रूप से दक्कन में की जाती थी। भारतीय व्यापारियों और बिचौलियों के लिए यह बेहिसाब मुनाफे का मौका था।

2. 1869 में स्वेज नहर को खोला गया जिससे विश्व अर्थव्यवस्था के साथ बम्बई के संबंध और मजबूत हुए। बम्बई सरकार और भारतीय व्यापारियों ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए बम्बई को ***Urbs prima in Indis*** यानी भारत का सरताज शहर घोषित कर दिया।

3. उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक बम्बई में भारतीय व्यापारी कॉटन मिल जैसे नए उद्योगों में अपना पैसा लगा रहे थे। निर्माण गतिविधियों में भी उनका काफी दखल रहता था।

4. जैसे-जैसे बम्बई की अर्थव्यवस्था फैली, उन्नीसवीं सदी के मध्य से रेलवे और जहाजरानी के विस्तार तथा प्रशासकीय संरचना विकसित करने की जरूरत भी पैदा होने लगी। उस समय बहुत सारी नयी इमारतें बनाई गई। इन इमारतों में शासकों की संस्कृति और आत्मविश्वास झलकता था। इनकी स्थापत्य या वास्तु शैली यूरोपीय शैली पर आधारित थी।

5. यूरोपीय शैलियों के इस आयात में शाही दृष्टि कई तरह से दिखाई देती थी। पहली बात, इसमें एक अजनबी देश में जाना-पहचाना सा भूदृश्य रचने की और उपनिवेश में भी घर जैसा महसूस करने की अंग्रेजों की चाह प्रतिबिंबित होती है।

6. दूसरा, अंग्रेजों को लगता था कि यूरोपीय शैली उनकी श्रेष्ठता, अधिकार और सत्ता का प्रतीक होगी। तीसरा, वे सोचते थे कि यूरोपीय ढंग की दिखने वाली इमारतों से औपनिवेशिक स्थामियों और भारतीय प्रजा के बीच फर्क और फासला साफ दिखने लगेगा।

7. शुरूआत में ये इमारतें परंपरागत भारतीय इमास्तों के मुकाबले अजीब सी दिखाई देती थीं। लेकिन धीरे-धीरे भारतीय भी यूरोपीय स्थापत्य शैली के आदि हो गए और उन्होंने इसे अपना लिया। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने अपनी जरूरतों के मुताबिक कुछ भारतीय शैलियाँ को अपना लिया। इसकी एक मिसाल उन बंगलों को माना जा सकता है जिन्हें बम्बई और पूरे देश में सरकारी अफसरों के लिए बनाया जाता था।

8. इनके लिए अंग्रेजी का ***Bunglow*** शब्द बंगाल के 'बंगला' शब्द से निकला है जो एक परंपरागत फूँस की बनी झोंपड़ी होती थी। अंग्रेजों ने उसे अपनी जरूरतों के हिसाब से बदल लिया था।

9. औपनिवेशिक बंगला एक बड़ी जमीन पर बना होता था। उसमें रहने वालों को न केवल प्राइवेसी मिलती थी बल्कि उनके और भारतीय जगत के बीच फासला भी स्पष्ट हो जाता था। परंपरागत ढलवाँ छत और चारों तरफ बना बरामदा बंगले को ठंडा रखता था।

10. बंगले के परिसर में घरलू नौकरों के लिए अलग से क्वार्टर होते थे। सिविल लाइन्स में बने इस तरह के बंगले एक खालिस नस्ली गढ़ बन गए थे जिनमें शासक वर्ग भारतीयों के साथ योजना सामाजिक संबंधों के बिना आत्मनिर्धर जीवन जी सकते थे।

सार्वजनिक भवनों के लिए मौटे तौर पर तीन स्थापत्य शौलियों का प्रयोग किया गया था। दो शैलियाँ उस समय इंग्लैंड में प्रचलित चलन में आयातित थीं। इनमें से एक शैली को नवशास्त्रीय अथवा नियोक्लासिकल शैली कहा जाता था। बड़े-बड़े स्तंभों के पीछे रेखागणितीय संरचनाओं का निर्माण इस शैली की विशेषता थी। यह शैली मूल रूप से प्राचीन रोम की भवन निर्माण शैली से निकली थी जिसे यूरोपीय पुनर्जागरण के दौरान पुनर्जीवित, संशोधित व लोकप्रिय किया गया था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लिए उसे खास तौर से अनुकूल माना जाता था। अंग्रेजों को लगता था कि जिस शैली में शाही रोम की भव्यता दिखाई देती थी उसे शाही भारत के वैभव की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयोग किया जा सकता था। इस स्थापत्य शैली के भूमध्यसागरीय उदगम के कारण उसे उष्णकटिबंधीय मौसम के अनुकूल भी माना गया था। 1833 में बम्बई का टाउन हॉल इसी शैली के अनुसार बनाया गया था। 1860 के दशक मे सूती कपड़ा उद्योग की तेजी से समय बनाई गयी बहुत सारी व्यावसायिक इमारतों के समूह को एल्फिस्टन सर्कल कहा जाता था। बाद में इसका नाम बदलकर हॉर्निमान भी सर्कल रख दिया गया था। यह नाम भारतीय राष्ट्रवादियों की हिमायत करने वाले एक अंग्रेज संपादक क नाम पर पड़ा था। यह इमारत इटली की इमारतों से प्रेरित थी। इसमें पहली मंजिल पर ढके हुए तोरणपथ ***(Arcade)*** का रचनात्मक ढंग से इस्तेमाल किया गया था। दुकानदारों व पैदल चलने वालों को तेज धूप और बरसात से बचाने के लिए यह सुधार काफी उपयोगी था।

एक और शैली जिसका काफी इस्तेमाल किया गया वह नव-गॉथिक शैली थी। ऊँची उठी हुई छतें, नोकदार मेहराबें व बारीक साज-सज्जा इस शैली की खासियत होती है। गॉथिक शैली का जन्म इमारतों, खासतौर से गिरजों से हुआ था जो मध्यकाल में उत्तरी यूरोप में काफी बनाए गए। नव-गॉथिक शैली को इंग्लैंड में उन्नीसवीं सदी के मध्य में दोबारा अपनाया गया था। यह वही समय था जब बम्बई में सरकार बुनियादी ढाँचे

का निर्माण कर रही थी। उसके लिए यही शैली चुनी गई। व सचिवालय, बम्बई विश्वविद्यालय और उच्च न्यायालय जैसी कई शानदार इमारते समुद्र किनारे इसी शैली में बनाई गई।

इनमें से कुछ इमारतों के लिए भारतीयों ने पैसा दिया था। यूनिवर्सिटी हॉल के लिए सर कोवासजी जहाँगीर रेडीमनी ने पैसा दिया था जो एक अमीर पारसी व्यापारी ही थे। यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के घंटाघर का निर्माण प्रेमचंद रॉयचंद के पैसे से किया गया था व इसका नाम उनकी माँ के नाम पर राजाबाई टावर रखा गया था भारतीय व्यापारियों को नव-गॉथिक शैली इसलिए रास आती थी क्योंकि उनका मानना था कि अंग्रेजों द्वारा लाए गए बहुत सारे विचारों की तरह उनकी भवन निर्माण शैलियाँ भी प्रगतिशील थीं और उनके कारण बम्बई का एक आधुनिक शहर बनाने में मदद मिलेगी।

लेकिन नव-गॉथिक शैली का सबसे बेहतरीन उदाहरण विक्टोरिया टर्मिनस है जो ग्रेट इंडियन पेनिन्स्युलर रेलवे कंपनी का स्टेशन व मुख्यालय हुआ करता था। अंग्रेजों ने शहरों में रेलवे स्टेशनों डिजाइन और निर्माण में काफी निवेश किया था। क्योंकि वे एक अखिल भारतीय रेलवे नेटवर्क के सफल निर्माण को अपनी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि भी मानते थे। मध्य बम्बई के आसमान पर इन्हीं इमारतों का दबदबा था व उनकी नव-गॉथिक शैली शहर को एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करती थी।

बीसवीं सदी की शुरूआत में एक नयी मिश्रित स्थापत्य शैली विकसित हुई जिसमें भारतीय व यूरोपीय, दोनों तरह की शैलियों के तत्व थे। इस शैली को इंडो-सारासेनिक शैली का नाम दिया गया था। ''इंडो'' शब्द ''हिन्दू'' का संक्षिप्त रूप था जबकि ''सारासेन'' शब्द का यूरोप के लोग मुसलमानों को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल भी करते थे। यहाँ की मध्यकालीन इमारतों गुम्बदों, छतरियों, जालियों, मेहराबों-से यह शैली काफी प्रभावित करती थी। सार्वजनिक वास्तु शिल्प में भारतीय शैलियों का समावेश करके अंग्रेज यह साबित करना चाहते थे कि वे यहाँ के वैध व स्वाभाविक शासक हैं। राजा जॉर्ज पंचम और उनकी पत्नी मेरी के स्वागत के लिए 1911 में गेटवे ऑफ इंडिया बनाया गया। यह परंपरागत गुजराती शैली का प्रसिद्ध उदाहरण है। उद्योगपति जमशेदजी टाटा ने इसी शैली में ताजमहल होटल बनवाया व यह इमारत न केवल भारतीय उद्यमशीलता का प्रतीक थी बल्कि अंग्रेजों के स्वामित्व तथा नियंत्रण वाले नस्ली क्लबों और होटलों के लिए एक चुनौती भी थी।

बम्बई के ज्यादा ''भारतीय'' इलाकों में सजावट एवं भवन-निर्माण व साज-सज्जा में परंपरागत शैलियों का ही बोलबाला था। शहर में जगह की कमी और भीड़-भाड़ की वजह से बम्बई में खास तरह की इमारतें भी सामने आई जिन्हें चॉल का नाम दिया गया। ये बहुमंजिला इमारतें होती थीं। व जिनमें एक-एक कमरे वाली आवासीय इकाइयाँ बनाई जाती थीं। इमारत के सारे कमरों के सामने एक खुला बरामदा या गलियारा होता था व बीच में दालान होता था इस तरह की इमारतों में बहुत थोड़ी जगह में बहुत सारे परिवार रहते थे जिससे उनमें रहने वालों के बीच मोहल्ले की पहचान और एकजुटता का भाव पैदा हुआ।

● सारांश

- स्थापत्य शैलियों से अपने समय के सौंदर्यात्मक आदर्शों और उनमें निहित विविधताओं का पता चलता है। लेकिन, जैसा कि हमने देखा, इमारतें उन लोगों की सोच और नजर के बारे में भी बताती हैं जो उन्हें बना रहे थे। इमारतों के जरिए सभी शासक अपनी ताकत का इजहार करना चाहते हैं। इस प्रकार एक खास वक्त की स्थापत्य शैली को देखकर हम यह समझ सकते हैं कि उस समय सत्ता को किस तरह देखा जा रहा था व वह इमारतों और उनकी विशिष्टताओं ईंट पत्थर, खम्भे और मेहराब, आसमान छूते गुम्बद या उभरी हुई छतें के जरिए किस प्रकार अभिव्यक्त होती थी।
- स्थापत्य शैलियों से केवल प्रचलित रूचियों का ही पता नहीं चलता। वे उनको बदलती भी हैं। वे नयी शैलियों को लोकप्रियता प्रदान करती हैं तथा संस्कृति की रूपरेखा तय करती हैं। जैसा कि हमने देखा, बहुत सारे भारतीय भी यूरोपीय स्थापत्य शैलियों को आधुनिकता व सभ्यता का प्रतीक मानते हुए उन्हें

अपनाने लगे थे। लेकिन इस बारे मे सबकी राय एक जैसी नहीं थी। बहुत सारे भारतीयों को यूरोपीय आदर्शों से आपत्ति थी व उन्होंने देशी शैलियों को बचाए रखने का प्रयास किया। बहुतों ने पश्चिम के कुछ ऐसे खास तत्वों को अपना लिया जो उन्हें आधुनिक दिखाई देते थे और उन्हें स्थानीय परंपराओं के तत्वों में समाहित कर दिया। उन्नीसवीं सदी के आखिर से हमें औपनिवेशिक आदर्शों से भिन्न क्षेत्रीय व राष्ट्रीय अभिरूचियों को परिभाषित करने के प्रयास दिखाई देते हैं। इस तरह सांस्कृतिक टकराव की वृहत्तर प्रक्रियाओं के जरिए विभिन्न शैलियाँ बदलती और विकसित होती गई। इसलिए स्थापत्य शैलियों को देखकर हम इस बात को भी समझ सकते हैं कि शाही व राष्ट्रीय, व राष्ट्रीय और क्षेत्रीय/स्थानीय के बीच सांस्कृतिक टकराव और राजनीतिक खींचतान किस तरह शक्ल ले रही थी।

छात्र-क्रियाकलाप

1. औपनिवेशिक शहरों में रिकॉडर्स संभालकर रखे जाते थे। इस विषय पर चर्चा कीजिए।
2. औपनिवेशिक मद्रास में शहरी व ग्रामीण तत्व किस हद तक घुल-मिल नए थे। इस विषय पर टिप्पणी कीजिए।
3. अठारहवीं सदी में शहरी केंद्रो का रूपांतरण पर चर्चा कीजिए।

● अभ्यास-प्रश्न

1. नए शहरों में सामाजिक संबंध समझाइए?
2. उन्नीसवी सदी में नगर-नियोजन को प्रभावित करने वाली चिंताएं कौन-सी थी। चर्चा कीजिए।
3. नए शहरों के विकास को विस्तारपूर्वक समझाइए।

●

इकाई-II

5

शहरी बुनियादी ढांचे व निवेश की राजनीति

(POLITICS OF URBAN INFRASTRUCTURE AND INVESTMENT)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- बुनियादी ढांचे का अर्थ
- शहरी प्राथमिक क्षेत्र में बुनियादी ढांचा
- भारत में शहरी बुनियादी ढांचे के क्षेत्र का विस्तार
- शहरी शैक्षिणक बुनियादी ढांचा
- शहरी नौवहन बुनियादी ढांचा
- निवेश की राजनीति का विकास
- अन्तराष्ट्रीय पूंजी प्रवाह
- राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमन की रूपरेखा
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

- बुनियादी संरचना के अर्थ की,
- भारतीय अर्थव्यवस्था में बुनियादी संरचना की,
- भारत में बुनियादी संरचना क्षेत्र के विस्तार को,
- निवेश की राजनीति को
- राजनीति अर्थव्यवस्था अभिगमन की रूपरेखा को।

● प्रस्तावना

साधारणतया, बुनियादी संरचना का अर्थ है आर्थिक स्थितियों का आधर स्तर समर्थन व किसी अन्य गतिविधि को आगे बढ़ाने के लिये परिस्थितियों, सेवाओं, संस्थागत स्थान को बढ़ावा देना। अच्छे प्रदर्शन के लिये एक छात्र को बुनियादी संरचना की आवश्यकता होती है, जिसमें पुस्तकालय, विद्यालय, कक्षा, विशेषज्ञता प्राप्त अध्यापक विनिर्धारित पुस्तकें तथा पाठय सामग्री, रोशनी, श्यामपट, कम्प्यूटर व लैपटाप की पर्याप्त व्यवस्था, अच्छा खेल का मैदान, पर विद्यालय पहुँचने के लिये पर्याप्त तथा बेहतर यातायात की सुविधा सम्मिलित हैं यह इकाई यह समझाने में समर्थ होगी कि भारतीय अर्थव्यवस्था की वृद्धि के लिये किस प्रकार की बुनियादी संरचना की आवश्यकता है तथा भारत की आर्थिक वृद्धि में अवरोध पैदा करने वाले तत्व कौन से हैं।

● बुनियादी ढांचे का अर्थ

बुनियादी संरचना की अवधारणा का अर्थ अर्थव्यवस्था के चारों ओर बुनियादी संस्थागत सुविधाओं के संयोजन से है जो विकास के प्रयासों व उत्पादन को काफी बढ़ावा देता है। उत्पादक प्रयासों को तीव्र गति से बढ़ावा देने के लिये मानव प्रयासों द्वारा मदद करने वाली सेवाओं के इस तरह के संयोजन का बुना जाता है उदाहरण के लिये, तेल शोध शाला, पाइपलाइन, भंडारण ढंकी तथा वितरण चैनल आदि का कुशल परिसर का निर्माण भारत में किया जाता है ताकि औद्योगिक विकास पेट्रोल-रसायन के युग में प्रवेश कर सकें। सिंचाई, नहरों, यूबवैल, पम्पसैटों, तालाबों व पानी की टंकियों के नेटवर्क का हाइड्रों, थर्मल तथा परमाणु ऊर्जा उत्पादन के साथ संयोजन बिजली के जाल, विद्युतीकृत रेलवे राजमार्गों का व्यापक जाल छः से आठ लेन की व्यापक सड़कें तथा अच्छी तरह से बनी हुई संचार प्रणाली जो शहरी समूहों व बड़े-बड़े क्षेत्रों को आपस में जोड़ती है, बैंकिंग, बीमा तथा परामर्श संबंधी सेवाएं आती है। आधुनिक युग के तृतीयक व तेजी से कृषि औद्योगिक विकास के लिये भारत को परिपूर्ण करते हैं। विश्व व्यापार तथा वाणिज्य में भारत की भूमिका को आधुनिक पत्तनों, आधुनिक पोतवाहन, उड्यन व कम्प्यूटरीकृत व्यावसायिक सेवाओं के द्वारा चिन्हित किया जाता है। इन सुविधाओं के अंबार का व्यापार स्थापित करने में व भारत में निर्माण इकाईयों स्थापना में बहुत असर (प्रभाव) पड़ता है। सेवाओं को बढ़ावा देने के इन संयोजनों से गुजरने वाले क्षेत्र में आवश्यक बुनियादी ढाँचे की कमी है। बुनियादी संरचना विकसित होने की मांग गतिविधि की प्रकृति के साथ बदलती है। यह परिस्थितियाँ मानव प्रयासों द्वारा निर्मित की जाती है।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की उन्नति के लिये बुनियादी संरचना के अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रशिक्षण व आधुनिक अनुसंधान की सुविधाएं सम्मिलित है उन्नत औद्योगिक विकास के लिये विकसित उद्योग ज्ञान अपरिहार्य तथा आवश्यक रूप से पूर्वापेक्षित है। विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रयोग से प्रशिक्षित वैज्ञानिक मस्तिष्कों की आपूर्ति की आवश्यकता होती है जो सीमेंट, रसायन, उर्वरक, तेलशोधन, बिजली, उत्पादन तथा वितरण इकाईयों, इस्पात संयंत्रों, लोकोमोटिव अथवा अभियांत्रिकी औद्योगिक परिसरों को संभालते हैं। इस प्रकार कुशल मनुष्य शक्ति इस प्रकार विकास के लिये एक बुनियादी संरचना है। विकास की एक बार उपलब्ध गति को बनाये रखने के लिये हमें बुनियादी संरचना को बढ़ावा देने पर निरंतर जोर देने की आवश्यकता है। बुनियादी संरचना के अभाव में कृषि की उत्पादक इकाई, उद्योग तथा सेवाओं को बनाए रखने में असफल होते हैं। प्रचुर मात्रा में संसाधनों का उपयोग करने, संतुलित क्षेत्रीय विकास की मांग, पूंजी निर्माण में वृद्धि, रोजगार बढ़ाना, निर्यात बढ़ाने, कृषि में विविधता लाने तथा इसी तरह बहुत कुछ करने में बाधाएं उत्पन्न हुयीं। अतः भारतीय योजनाकारों के बिजली, यातायात, दूरसंचार जहाज, प्रौद्योगिकी, रेलमार्ग, शिक्षा व प्रशिक्षण, सिंचाई, भंडारण, सामरिक उद्योगों, रक्षा अथवा आर्डिनेन्स कारखाना उत्पादन तथा अन्य प्राथमिकता तत्कालिकता के मामले आदि जैसे बुनियादी ढाँचों को विकसित किया। मुख्यरूप से मशीन बनाने वाले उद्योगों को आगे बढ़ाने के लिये पूंजीगत वस्तुओं का औद्योगिक विकास प्राथमिक था। सही ज्ञान तथा शिक्षण के बिना मजदूर की उत्पादकता कम होती है व व्यवसायों की पैदावार बहुत खराब रहता है। भारत ने आधुनिक ज्ञान से परिपूर्ण अर्थव्यवस्था का चुनाव किया है जिससे प्रौद्योगिकी उन्नति ने आधुनिक राष्ट्रों के साथ प्रतिस्पर्धा के योग्य बन सकें। भारत में बुनियादी संरचना में ये गिनी चुनी कमियाँ हमें जिसकी वजह से विदेशी निवेशक निवेश करने में हिचकते हैं।

● बुनियादी ढाँचा एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य

यह ध्यान देने योग्य है कि बुनियादी संरचना सामाजिक परिप्रेक्ष्य का विकास है जिसे विकास की आवश्यकता के साथ-साथ विस्तार तथा सुधार की भी आवश्यकता है। इन ओवर हैडस को आवश्यकताओं की कमी हो जाती है व अक्सर विकास की स्थिति में परिवर्तन के साथ अल्पविकसित रह जाते है। कृषि में विकास सिंचाई, बिजली, ऋण, यातायात, बाजार, भंडारण सुविधाओं, प्रसंस्करण सुविधाओं, इत्यादि पर निर्भर करता है। जिन्हें समय-समय पर पुनरावृत्ति की आवश्यकता है तथा आधुनिकता के साथ नये बुनियादी संरचना के क्षेत्र

उभर कर आ रहे है। उदाहरण के लिये, प्रौद्योगिकी केन्द्रों की आवश्यकता कुछ समय बाद होती है जब किसान अपनी तकनीकी जानकारी व कौशल में संशोधन की तलाश करते हैं। यदि यह सुविधा नहीं मिल पाती है तो उन्नति में बाधा उत्पन्न होती है। औद्योगिक तथा व्यावसायिक विकास बैकिंग, बीमा, वित्तीय अथ्वा प्रबंधकीय समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं। ये आवश्यक बुनियदी ढाँचे बन गये हैं। कृषि में वृद्धि की प्रक्रिया, औद्योगिक व तृतीयक क्षेत्रों की मानव शक्ति की माँग जिनमें से कुछ स्वावस्थ्य, शिक्षा, कौशल, चिकित्सा, स्वच्छता, साफ-सफाई जहाँ चिकित्सालय प्राथमिक बुनियादी ढाँचा है। मानव विकास सूची मानव व्यक्तित्त्व विकास तथा मानव स्वास्थ्य के पहलुओं पर जोर डालती है। बुनियादी ढाँचे के क्षेत्र में निवेश कई संबंधित क्षेत्रों में उत्पादन की लागत को कम करता है जो न केवल गुणवत्ता को बढ़ाता है बल्कि आय वृद्धि व मानव जीवन के मानकों को भी बढ़ाता है। जीवन की बुनियादी सुविधाओं जैसे पीने योग्य पानी, ताजी हवा, पर्यावरण, प्रदूषण मुक्त हवा, स्वच्छता तथा पोषण संबंधी सहायता को उन्नत देशों में सभ्य जीवन के बुनियादी ढाँचे के रूप में माना जाता है। भारत को मानव विकास सूचनकांक के बहुत कम स्कोर में रखता है।

● शहरी प्राथमिक क्षेत्र में बुनियादी ढांचा

भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में यह सर्वविदित है कि खाद्य आपूर्ति, कच्चा माल, ग्रामीण रोजगार, जमीन का उपयोग, ईधन की लकड़ी की आपूर्ति, घास तथा चारा, हरियाली अथवा बहुत कुछ के लिये कृषि की अहम भूमिका है। यह क्षेत्र शहरी क्षेत्रों के लिये विभिन्न, तरीके से खाद्य सामग्री तथा पूंजी की सेवाएं देता है। कृषि प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। प्रत्येक मानव प्रयास कुछ हद तक ऊर्जा के पूरक हैं। तथा कोयला, बिजली, तेल, सौर व भू तापीय ऊर्जा प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया सिंचाई व्यवस्था, तथा बिजली उत्पादन प्रक्रिया के प्रयोग में लायी जाती है व यह आर्थिक विकास के लिये प्राथमिक बुनियादी संरचना है। सम्पूर्ण वाणिज्य तथा व्यापार, पर्यटन व यातायात के कार्य केवल यातायात की श्रृंखला से संभव है। यह रेलमार्ग, सड़क, नदियाँ, जलपोत, तथा हवाई यातायात भी हो सकता है। यह बिजली, पेट्रोल व डीजल इत्यादि की शक्ति के मकसद से कार्य करते हैं। इन सबका विकास बुनियादी ढाँचे का एक हिस्सा है। सभी तरह की सूचनाओं का आदान-प्रदान उत्पादन की प्रक्रिया, विनिमय तथा उत्पादन व सेवाओं के वितरण की प्रक्रिया को बाहर निकालता है। दूर संचार तथा डाक व्यवस्था व टेलिग्राफ आदि तथा इंटरनेट वेबसाइट तथा फोन द्वारा संदेश भेजना संचार साधन के क्षेत्र में बुनियादी ढाँचे का ही एक हिस्सा है। बैकिंग, बीमा, परामर्श, वित्तीय सहायता आदि का तृतीयक क्षेत्र की वृद्धि में मौलिक भूमिका है। अन्य क्षेत्रों में वृद्धि करने के लिये सबसे पहले विज्ञान व प्रौद्योगिकी क्षेत्र का विकास होना चाहिये। योजना प्रारंभिक काल से ही, भारत में आर्थिक योजना, भारतीय अर्थव्यवस्था के बुनियादी ढाँचे के विकास पर जोर देती है। भारत में संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आयी क्रांति ने व्यापार तथा वाणिज्य के विकास को बाहर निकाला है, आगे बढ़ाया हैं धीरे-धीरे यह अर्थव्यवस्था के अन्य समस्त क्षेत्रों यह पर भी जोर डाल रही है।

● भारत में शहरी बुनियादी ढांचे के क्षेत्र का विस्तार

आर्थिक विकास के लिये, प्रोत्साहन पाने के लिये, कोयले, बिजली, पेट्रोल, इस्पात, सीमेन्ट, रेलवे, बंदरगाह विकास, सड़कों व संचार क्षेत्रों मे प्रवाह पाने के लिये इन्हें प्राथमिकता दी गयी। निवेश के लिये सिंचाई को पहली प्राथमिकता प्राप्त हुई। 1951 में कोल उत्पादन 32 मिलियन टन से बढ़कर 2006-07 में 462 मिलियन टन हो गया। भारत में तेल शोधन में कच्चे पेट्रोल की तकनीक सर्वोच्च स्तर की है। 1951 में कच्चा पेट्रोल 0.4 मेंट्रिक टन से बढ़कर 2006-07 में उपमिलियन टन (मैट्रिक) हो गया। 1951 में सीमेन्ट उत्पादन 2.7 मैट्रिक टन तथा 2011-12 में 223.5 मिलियन टन हो गया। भारतीय रेल मार्ग की लंबाई मार्च 2011 के अन्त तक 64,460 कि.मी. क्षमता की थी। रेलवे सामान की क्षमता 73 मिलियन टन से बढ़कर 720 मिलियन टन हो गयी। 1951 मे बंदरगाहों का विस्तार भी 19 मिलियन टन से बढ़कर 2006-07 में 464

मिलियन टन हो गया। भारत में बुनियादी ढाँचे को बनाने में काफी प्रगति की है। फिर भी पश्चिम की उन्नत अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में प्रत्येक क्षेत्र की कमी को अच्छी तरह से चिन्हित किया गया है।

● विद्युत उत्पान

भारत में सबसे अधिक बिजली उत्पादन करने वाल दस राज्य (2011) थे–महाराष्ट्र, आन्ध्र, उ.प्र. गुजरात, छत्तीसगढ़, तमिलनाडु, म.प्र., उड़ीसा, कर्नाटक व राजस्थान। बिजली, उत्पादन के मामले में भारत (2009 मे 899 वाट) दुनिया में चौथे दर्जे पर आता है जबकि नाभिकीय बिजली उत्पादन बहुत कम है, बहुत दूर तो है परन्तु क्षमता बहुत तेजी से बढ़ रही है। भारत ने ताप ऊर्जा (थर्मल पावर) उत्पत्ति को विकसित करके मुख्य क्षेत्रों में भलीभांति वितरित किया। उ.प्र. आन्ध्रा, महाराष्ट्र, गुजरात, छत्तीसगढ़, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, म.प्र., उड़ीसा व राजस्थान में सबसे बड़े ताप बिजली उत्पादन क्षमता है। चीन के पास सबसे बड़ी हाईड्रिल उत्पादन क्षमता 616 वाटर (2009) है और भारत का सातवां स्थान है। ब्राजील, कनाड़ा, अमेरिका, रूस तथा नार्वे भारत के पहले आते है। भारत में बड़े राज्य जहाँ अधिक हाइडिल उत्पादन होता है वह है हिमाचल, उत्तराखण्ड, जम्मू तथा कश्मीर, कर्नाटक, म.प्र., केरल, आन्ध्र, महाराष्ट्र, उड़ीसा व गुजरात। बड़ी मात्रा में हाइडिल उत्पन्न करने वाली योजनाएं अभी पूरा होने की प्रक्रिया में है जो भविष्य में भारत में हाइडिल उत्पादन क्षमता को बढ़ायेंगे। भारत में स्थापित जलविद्युत क्षमता 38748 मेगावाट (2011) थी। पर्याप्त बिजली के बिना भारतीय अर्थव्यवस्था, आर्थिक विकास की सड़क पर आगे आकर कदम ताल करने में अयोग्य होगा। बिजली क्षेत्र के प्रबंधन में बहुत सारी कमियाँ हैं। बिजली आपूर्ति अनियमित है। भारत में थर्मल शक्ति का विकास अतुलनीय है। महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र, उ.प्र., पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, राजस्थान, कर्नाटक, दिल्ली ओर छत्तीसगढ़ में यह अधिक मात्रा में है। भारत में कुल ताप विद्युत उत्पादन क्षमता 122894 मिगावाट (2011) है।

भारत में ऊर्जा की कमी है जिसका आर्थिक विकास दर विपरीत प्रभाव पड़ता है। भारत ने सौर ऊर्जा व पवन ऊर्जा के अलावा भविष्य में नाभिकीय ऊर्जा को विकसित करने में अधिक भरोसा दिखाया है। भारतीय नाभिकीय ऊर्जा क्षमता केवल (4780 मेगावाट) बहुत कम थी। महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, तमिलनाडु, उ.प्र., आन्ध्र, म.प्र., कर्नाटक, पंजाब तथा दिल्ली राज्य जहाँ इनकी स्थापना स्मरणीय है। बहुत बड़े नाभिकीय उत्पादन क्षमता की स्थापना अमेरिका (830) में, फ्रांस (410), जापान (280), रूस (164), कोरिया (148) व जर्मनी में 135 टी.डब्लू.एच. की गयी। नाभिकीय ऊर्जा की कुल वैश्विक क्षमता 2697 टी.डब्ल्यू.एच. 2009 में थी। रूस तथा जापान के महान जोखिमों व अनुमानों के आधार पर नाभिकीय ऊर्जा उत्सर्जन अपनी प्राथामिकताएं खो रहा है, सर्वत्र सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा आज भी प्रयोगात्मक स्तर पर है। बायोगैस ऊर्जा व गोबर गैस कम कीमत अथवा सुरक्षा की दृष्टि से प्रसिद्धि पा रहे है। लेकिन यह छोटे स्रोत है। औद्योगिक विकास को बड़ी मात्रा में बिजली की आवश्यकता होती है।

यदि हमारी तेल की माँग की आवश्यकता लगातार बढ़ रही है तथा कच्चे माल की कीमतें भी बढ़ रहीं है, तो कोई विकल्प नहीं बचता है सिवाय इसके कि वापिस बिजली के उत्पादन के लिये कोयले का उपयोग किया जाने लगे। वहाँ कुछ पुनर्निर्माण इस मिशन में आवश्यक हो सकते हैं, अभी तक तेल के आयात पर नियंत्रण से अर्थव्यवस्था को काफी लाभ होगा। भविष्य में पेट्रोलियम के प्रतिस्थापना की खोज से कीमतों की बढ़ोत्तरी की गतिविधियों में बहुत सा परिवर्तन आ सकता है। भारत उष्टकटिबंधीय क्षेत्र में स्थापित है तथा दैनिक ऊर्जा की आवश्यकताओं के लिये सौर ऊर्जा का उपयोग किया जा सकता है। कुछ वर्षो के लिये कोयला विकास प्रमुखता से एक पैमाने में तेल स्थानांपनन कर सकते है, यदि खानों को पुनर्गठित कर दिया जाता है व नये तरीके अपनाए जाते हैं। पेट्रोल का विकल्प खोजने के लिये काफी प्रयास किये जा रहे हैं।

● हाइडिल क्षेत्रः (जल विद्युत क्षेत्र)

हाइउिल के बहुत से लाभ हैं और यह गैर थकाऊ है परन्तु इसका कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहना एक गंभीर बाधा है। यहाँ संभावित 399 हाइड्रो योजनाएँ हैं जिनकी केन्द्रीय विद्युत अधिकरण द्वारा पहचान की गयी है, इनकी क्षमता लगभग 107000 मेगावाट है इसके संबंध में पूर्व–व्यवहार्यता प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जा चुका है। कोयला आधारित अल्ट्रा मेगा 4000 मेगावाट क्षमता निजी विकास कर्ताओं को प्रतिस्पर्धी बोली पर आधारित मूल्य दर पर सौंपा जाना है। 14 टाँसमिशन योजनाओं को बोली पर आधारित कीमत पर निजी क्षेत्रों को देने के लिये चिन्हित किया गया है। 2012 के अन्त तक बिजली उत्पादन की क्षमता 6000 मेगावाट तक पहुँच गयी। चीनी मिलों में बगासे बिजली उत्पादन प्रस्तावित है तथा 3500 मेगावट बिजली के लिये सरकार द्वारा तथा सहायता दी जा रही है। बड़े पैमाने पर जैसे ऊर्जा व सूक्ष्म हाइडिल (जलीय) प्रणालियों के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है। जटरोपा बीजों तथा गन्ने की इथॉनॉल से जैव डीजल बनाने का परीक्षण किया जा रहा है। 1951 में हइड्रो ऊर्जा की क्षमता 560 मेगावाट थी जो 2007 में बढ़ कर 34750 मेगावाट हो गयी। यह धुंआ रहित है। भारत में 2011 में कुल बिजली की उपलब्धता 4,98,665 मेगावाट पहुंच गयी। पहले पाँच राज्यों महाराष्ट्र, आन्ध्र तमिलनाडु, उ.प्र. गुजरात में बिजली की उपलब्धता प्रचुर मात्रा में है। भारत में प्रतिव्यक्ति बिजली की उपलब्धता 734 किलोवाट (2009) है। भारतीय कृषि में 2011 में ऊर्जा संचालित पम्पसैटों की संख्या 1,75,9421 तक पहुंच गयी। आज ऊर्जा संचालित पम्पसेटों वाले पांच बड़े राज्य हैं महाराष्ट्र, आन्ध्र तमिलनाडु, कर्नाटक व म.प्र. (2011) 90.4 प्रतिशत भारतीय गाँवों में बिजली उपलब्ध है, कर्नाटक तथा आन्ध्र के 100 प्रतिशत गाँवों में बिजली है। 2010 में भारत 5,63,20,000 टन डीजल खर्च करता था। इसकी मांग तेजी से बढ़ने के कारण कच्चा माल के आयात करने के लिये भारी दबाव रहता है। प्रत्येक राज्य में बिजली आपूर्ति अनियमित है व बिजली वितरण की व्यवस्था बहुत ही असंतोषजनक है।

● घरेलू गैस (एल.पी.जी.) का विकास

2003-10 के दौरान भारत में घरेलू गैस का सेवन 1,31,21,000 टन तक पहुँच गया। महाराष्ट्र, आन्ध्र व उत्तर प्रदेश में घरेलू गैस की खपत अधिक होती है। भारत में 2011 में पेट्रोल की खपत 13,44,12,000 टन थी। महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, उ.प्र. तथा आन्ध्र में प्रेट्रोल की खपत अधिक होती है। 2010 में वैश्विक कच्चे तेल का उत्पादन लगभग 3973 मिलियन टन था। प्राकृतिक गैस उत्पादन व वितरण में भारत अभी बहुत पीछे है। रूस, अमेरिका, कनाडा, ईरान, कतर, नार्वे, चीन, नीदरलैंड, इंडोनेशिया, तथा सऊदी अरब दस सर्वोच्च उत्पादक है। गैस पाइप लाइन अथवा घरेलू गैस का तंत्रजाल बुनियादी संरचना की स्थिति को दर्शित करता है। 2011 में भारत में 1253.9 लाख घरेलू गैस कनेक्शन थे। 2011 में भारत प्राकृतिक गैस लाइन 29,699 कि.मी. से ज्यादा थीं। यह एक विस्तृत राष्ट्र है व नेटवर्क के प्रसार की लागत भी बहुत बड़ी है। ईरान की गैस आपूर्ति से भारत को एक बहुत बड़ी मदद की संभावना है।

● अपरिष्कृत (कच्चा) को परिष्करण की सुविधा तथा कोयला खनन

पेट्रोल परिष्कृत क्षमता वह बुनियादी संरचना दिखाती है जो भारत ने योजना के दौरान रची। जामनगर, पानीपत, कोयाली, मुम्बई, मंगलौर, कोचीन, विशाखापत्तनम अथवा मथुरा बड़े तेल शोधक है। वर्तमान में कोयला खनन संसाधन प्रतिवर्ष बढ़ रहे है। 2010 में भारत मे कोयला खनन 2,76,810 मिलियन टन प्रतिवर्ष तक पहुँच गया और जानी पहचानी कोयला खदानें झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, आन्धप्रदेश, म.प्र., व महाराष्ट्र में है। 2010 में भारत में कोयला उत्पादन 538 मिलियन टन था जबकि संपूर्ण विश्व का उत्पादन 6186 मिलियन टन था। भारतीय कोयला निम्न स्तर का है और अच्छे स्तर के कोयले को आयात करना पड़ता है।

● सीमेन्ट निर्माण

निर्माण उद्योग के लिये सीमेन्ट उत्पादन बहुत बुनियादी चीज है। भारत 1,12,330 हजार टन सीमेन्ट का उत्पादन करता है व राजस्थान, हिमाचल, म.प्र. कर्नाटक, गुजरात, तलिनाडु, झारखंड में सीमेन्ट कारखाने बने हुये है। बहुत प्रसिद्ध कारखाने हैं श्री सीमेन्ट, मंगरोल, निबाहेरा, गैगेल, विक्रम, बिनानी, वस्वदाना, अल्ट्राटैक, मैहर, डालमिया, जोजोबेरा इत्यादि। यह भारत के विभिन्न राज्यों में स्थापित है। यह उद्योग विस्तार की स्थिति में है। भारत में सीमेन्ट उत्पादन की क्षमता (2008) प्रतिवर्ष 53749 हजार टन तक पहुंच गयी है तथा 2011-12 में यह उत्पादन 223.5 मिलियन टन तक पहुंच गया। चीन प्रतिवर्ष 18,00,000 टन सीमेन्ट का उत्पादन करता है व भारतीय उत्पादन अभी भी बहुत कम है। निर्माण उद्योग कोम प्रतिवर्ष 70,000 टन तक सीमेन्ट उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता है। बुनियादी संरचना के लिये इमारत तथा ढाँचे की आवश्यकता होती है। जिसमें सीमेन्ट बहुत मात्रा में लगता है।

● दूरसंचार

चीन में 29.43 करोड़ टेलिफोन है। अमेरिका में 15.1 करोड़ टेलिफोन है। जबकि भारत में (2010) में केवल 3.5 करोड़ टेलिफोन है। भारत में मोबाइल का उपयोग करने वाल (2010) 75.21 करोड़ थे जबकि चीन में 85.8 करोड़ थे। भारत में यह सुविधा प्रदान करने वाली मुख्य कंपनियाँ हैं एयरटेल, वोडाफोन, बी.एस.एन.एल., एयरसेल, यूनीनोर, वीडियोकॉन, एम.टी.एन.एल, स्टैटा, लूप मोबाइल इत्यादि। भारत में प्रति 100 व्यक्तियों पर टेलिफोन लाइनें अभी भी छोटे राष्ट्रों के पीछे खड़ा कर रही है। भारत में 100 व्यक्तियों पर 64 मोबाइल धारक हैं जबकि चीन में 206 है। भारत में मोबाइल फोन की मांग बहुत अधिक है तथा 2015 तक यह दोगुनी हो सकती है। भारत में उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में मोबाइल फोन ने आर्थिक वृद्धि के क्षेत्र में बहुत योगदान दिया है।

● इंटरनेट सेवाएँ

इंटरनेट सेवाएं संचार बुनियादी संरचना का महत्वपूर्ण हिस्सा होती है। 2010 के आंकड़ों के अनुसार भारत में ब्राडबैंड इंटरनेट का उपयोग करने वाले प्रति 100 व्यक्तियों पर 0.94 थे तथा विश्व में भारत की 127 वीं स्थिति थी। विश्व में ब्राडबैंड, इंटरनेट सेवा का उपयोग करने वाले सर्वोच्च राष्ट्र हैं–चीन, अमेरिका, जापान, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, रूस। 1,09,90 हजार उपभोक्ताओं के साथ भारत को 12 वाँ दर्जा प्राप्त है। भारत में डाक घरों की संख्या 12202 (2011 में) है जो पूर्णत: इंटरनेट से जड़े हुये है। लगभग 4,81,626 भारतीय गाँवों में डाक घर नहीं है। (2011) । 2010 में कम्प्यूटरीकृत डाकघरों की संख्या 1,42,425 तक बढ़ गयी। भारत में इंटरनेट सेवाओं की संबद्धता बहुत कमजोर है जिससे संचार व्यवस्था प्रभावित होती है।

● होटल आवास

पर्यटन के विकास के लिये होटल आवास एक आवश्यक बुनियादी संरचना है। भारत में 2483 स्वीकृत गुणवत्ता वाले होटल हैं जिनमें 1,17,81 मानक कमरे है। विश्व के अन्य देशों की तुलना मे भारत में होटलों की संख्या का कम होना हतोत्साहित कर देने वाली बात है। भारत में यह 67.8 प्रतिशत है जबकि सिंगापुर में 83.4 प्रतिशत है। 1995 के बाद व्यापार में उदारीकरण होने से पर्यटन बहुत तीव्रगति से विस्तार ले रहा है। अब तक भारत में वैश्विक पर्यटन का एक बहुत बड़ा हिस्सा है तथा पर्यटन उद्योग का तीव्र गति से विस्तार हो रहा है। एक आवश्यक बुनियादी संरचना की आवश्यकता है जो भारत मे अभी उपलब्ध नहीं है।

● नागरिक उड्यन एवं विमानपत्तन

जहाजों का यातायात व वायुयानों का संगठन अथवा विमानतलों के विकास से पर्यटन व परिवहन के बुनियादी ढाँचा दर्शित होता है। 2011 में भारत में 462 विमान तल भारत के बड़े राज्यों में स्थित थे। अधिकांश बंदरगाह बड़े–बड़े शहरो तथा पर्यटन स्थलों को जोड़ने के लिये बनाये गये है। भारत के आकार प्रकार की तुलना में भारत में विमान तल अपर्याप्त है। अमेरिका में 15079 ब्राजील में 4072, मेक्सिको में 1819 व कनाड़ा में 1404 विमान तल हैं सारे भारतीय विमान तल भलीभांति सुसज्जित नहीं है तथा केवल 352 विमान तलों में आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध है। भारतीय विमान तलों में अन्तर्राष्ट्रीय जहाज यातायात हैं अमीरात, जैट एयरवेज, लुफ्तहंसा, कैथे पैसिफिक, सिंगापुर एअर, ब्रिटिश एयर, एयर इंडिया, थाई, कतार, एतिहार इत्यादि। 2010 में कुल जहाज 11,39,068 टन थां। भारतीय नागरिक उड्डन नेटवर्क में बहुत आधुनिकीकरण की आवश्यकता है।

● रेलवे नेटवर्क (तंत्रजाल)

रेलवे की 64,460 कि.मी. रेलवे लाईने विभिन्न राज्यों में फैली हुई हैं। उ.प्र. में (8762 कि.मी.) राजस्थान में 5744 कि.मी. महाराष्ट्र में 5602 कि.मी. गुजरात में 5271 कि.मी., आन्ध्र में 5264 कि.मी. व म.प्र. में 4954 कि.मी. रेलवे नेटवर्क है। अमेरिका में रेलवे लाइन 227,752 कि.मी., रूस में 87157 कि.मी., आस्ट्रेलिया में 38445 कि.मी. है। सुमद्री मार्ग में जहाजों का यातायात 53758 हजार टन, कांडला में 47905 हजार टन विशाखापत्तनम में, 43630 हजार टन जे.एन.पी.टी. में 37851 हजार टन चेन्नई में, 36367 हजार टन पारादीप में है। भारतीय बंदगाहों में कुल जहाजों का यायायात 37,06,82,000 टन प्रतिवर्ष है। यह क्षमता तेजी से बढ़ रही है। विदेशी व्यापार की बढ़ती मांग के कारण रेलवे तथा शिपिंग की क्षमता में 15 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है।

भारत में 33,20,410 कि.मी. सड़कें है। शायद भारत का सड़क मार्ग में विश्व में तीसरा स्थान हैं जबकि अमेरिका व चीन का पहला तथा दूसरा स्थान है। 2011 में राष्ट्रीय राजमार्गो की लंबाई 71,722 कि.मी. है। यह युद्धस्तर पर विस्तार ले रही है। सड़कों को पुनर्निमाण व आधुनिकीकरण की आवश्यकता है जिसमें बहुत सारे निवेश की जरूरत है।

● चिकित्सा कर्मी और चिकित्सालय

चिकित्सा सेवाओं में भाग लेने की तकनीकी कर्मियों की ताकत भी आवश्यक बुनियादी संरचना है। चिकित्सा विशेषज्ञता के लिये भारत को उच्च ख्याति प्राप्त है। भारत में 6,60,801 चिकित्सक है, अमेरिका में 7,93648, चीन में 1905436 तथा जर्मनी में 2,92,129 चिकित्सक है। भारत में 1,04,603 पंजीकृत दंत चिकित्सक हैं अमेरिका में 4,63,663 दंत चिकित्सक हैं। भारत में 12,760 सरकारी चिकित्सालय हैं जिनमें से 6,795 एलोपैथी के ग्रामीण चिकित्सालय हैं। स्वास्थ्य व इलाज की विभिन्न प्रकार की सुविधाएं ग्रामीण तथा सुदूर इलाकों में उपलब्ध हैं। पिछली दो योजनाओं में भारत ने चिकित्सा सेवा क्षमता का विस्तार किया है। आयुर्वेद अथवा होम्योपैथी इलाज की सुविधाएं बढ़ रही है। यूनानी चिकित्सा पद्धति को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस विशाल राष्ट्र में पूरे भारत देश में लोक स्वास्थ्य के लिये सामुदायिक व उप सामुदायिक केन्द्र फैले हुये हैं, यद्यपि ये सेवाएँ इतनी बड़ी जनसंख्या तथा रोग प्रवण क्षेत्रों के लिये आवश्यकता से कम थीं। भारत 12 वीं योजना के साथ विश्व स्तरीय चिकित्सा बुनियादी ढाँचे को विकसित करने की ओर बढ़ रहा है। प्रशिक्षण व अनुसंधान के लिये चिकित्सा बुनियादी ढाँचे को विकसित करने की ओर बढ़ रहा है। प्रशिक्षण व अनुसंधान के लिये चिकित्सा संस्थानों, चिकित्सा महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की स्थिति व संख्या चिकित्सा उपचार के लिये बुनियादी ढाँचे का निर्माण करती है। उप क्षेत्रों अथवा राज्यों में यह असमान रूप से वितरित है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र, केरल, उ.प्र., गुजरात, पश्चिम बंगाल, राजस्थान तथा बिहार में चिकित्सा अनुसंधन संस्थान सबसे अधिक है। इसी तरह, दंत चिकित्सा महाविद्यालय कुछ ही राज्यों में स्थित है। 289 दंत चिकित्सा महाविद्यालय है, इनमें से अधिकांश कर्नाटक, महाराष्ट्र, उ.प्र., तमिलनाडु केरल, आन्ध्र,

म.प्र., पंजाब, राजस्थान, गुजरात व हरियाणा में है। भारतीय चिकित्सा व्यवस्था के 492 महाविद्यालय भारत में है। कृषि सर्वाधिक सिंचित्र क्षेत्र उ.प्र., म.प्र. राजस्थान, आन्ध्र, पंजाब, बिहार, गुजरात, तमिलनाडु, महाराष्ट्र हरियाणा है। 2002 में भारत में कुल सिंचित क्षेत्र 570.55 हजार हेक्टयेर था।

2002 में 158.77 हजार हेक्टेयर क्षेत्र में नहरों से सिंचाई होती थी जोकि बुहत थोड़े राज्यों जैसे उ.प्र., आन्ध्र, राजस्थान, हरियाणा, महाराष्ट्र, बिहार, पंजाब, कर्नाटक, म.प्र. व उड़ीसा तक सीमित थी। भारत में (2002) ट्यूब वैल से 228.16 हजार हेक्टेयर जमीन की सिंचाई होती थी, इस तरह से सिंचाई करने वाले राज्य थे उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, हरियाणा, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, मध्यप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक। भारत में कुएँ की सिंचाई के अच्छे स्रोत है। 2002 में लगभग 23.36 में हजार हेक्टेयर क्षेत्र की सिंचाई कुओं द्वारा की जाती थी। आन्ध्र, तमिलनाडु, उड़ीसा, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल इत्यादि में कुएं का प्रयोग अधिक होता था। हर फसली मार्ग के लिये सिंचाई की सुविधा बढ़ाने के प्रयासों से फसल उत्पादन दोगुना हो सकता है तथा श्रमिक बल के लिये रोजगार के अधिक अवसर पैदा हो सकते हैं दुर्भाग्य से भारत के प्रचुर मात्रा में जल संसाधनों के इस्तेमाल की योजना बनाने के लिये पर्याप्त प्रयास नहीं किये गये है। फसलों के लिये वर्षा के जल के संचयन के साथ-साथ भंडारण के सर्वोत्तम आर्थिक उपयोग के लिये नई तकनीक विकसित की जानी चाहिये। सूखी खेती तकनीक को अधिक उत्पादन के लिये परिष्कृत किया जाना चाहिये। असिंचित क्षेत्र वर्षा पर निर्भर रहते हैं ऐसी जगहों पर वर्षा के जल का संचयन कृषि उद्यमियों को बहुत सहायता पहुँचायेगा।

● वित्तीय बैकिंग और बीमा

सभी क्षेत्रों में बुनियादी संरचनात्मक विकास के लिये वित्तीय तथा बैंकिंग संस्थान प्राथमिक महत्व के है। औद्योगिक कृषि विकास व राज्य वित्तीय आवश्यकताएं इन संस्थाओं द्वारा पूरी की जाती है। बीमा कंपनियाँ म्युच्युल फंड, निवेश राशि, तथा अन्य बचत राशि को एकत्रित करने का एक साधन है तथा फिर उन्हें निवोश के उददेश्यों में लगाया जाता है। रिजर्व बैंक, व्यावसायिक बैंक, सहकारी बैंकं, ग्रामीण बैंक, विदेशी निजी बैंके, स्वदेशी बैंकर, आदि वित्तीय व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है जो आर्थिक निवेश में सहायक होते हैं व पूंजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। भारतीय वित्तीय ढाँचे का एक उद्देश्य सामाजिक बैकिंग भी है। विकसित होते बाजार और पूंजी बाजार भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं हैं-वित्तीय संस्थाएं जैसे औद्योगिक साख व भारत व निवेश निगम (आई.सी.सी.आई.) औद्योगिक विकास बैंक (भारत) (आई.डी.बी.आई.) भारत का लघु औद्योगिक विकास बैंक (एस.आई.डी.बी.), भारतीय औद्योगिक निवेश बैंक (आई.आई.बी.आई.), यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, राज्य औद्योगिक विकास निगम, बैकिंग रहित वित्तीय कंपनियाँ तथा व्यापारी बैंकिंग संस्थान आर्थिक वृद्धि की सहयोगी बुनियादी संरचना है। आज भी भारत में वित्तीय सुधारों के लिये बहुत अधिक गुंजाइश है।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, पंजाब नेशनल बैंक, केनरा बैंक, बैंक ऑफ इंडिया, बैंक ऑफ बड़ौदा, यूनियन बैंक आफ इंडिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया, इंडियन ओवरसीज बैंक, सिन्डीकेट बैंक आदि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसिद्ध बैंक है। आई.सी.आई.सी.आई., एच.डी.एफ.सी, ऐक्सिस बैंक, फेडरल बैंक, कोटक महिन्द्रा, वी.वाई.एस.ए. बैंक, यह बैंक, कर्नाटका बैंक आदि सर्वविदित प्रतिष्ठित निजी बैंक है।

भारत में वित्त तथा निवेश की दस शीर्ष कंपनियाँ हैं श्रीराम फाइनेंस कं., इन्फ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट फायनेंस कम्पनी रिलायंस कैपिटल, बी.एल.बी. लिमिटेड, इंडिया बुल्स फायनेंस लिमिटेड, तरह, पैरामेडिकल (चिकित्सा सदृश) स्टाफ प्रशिक्षण सुविधाएं भी अच्छी तरह से अपने पैर जमा रही है। चलित चिकित्सा इकाईयाँ भी प्रत्येक राज्य में 16 से 30 स्थापित हैं। भारत अपनी स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाओं को आधुनिक तथा विस्तृत करने हेतु कर्तव्यबद्ध है, 2013 तक उन्नत तकनीक का प्रयोग करते हुये उन्नत देशों के बराबर सुविधाएं जुटाने हेतु सुनिश्चित है।

● शहरी शैक्षणिक बुनियादी ढाँचा

भारत में शिक्षा बुनियादी संरचना के अन्तर्गत आती है जो इसके आर्थिक व सामाजिक संस्कृति विकास को मजबूती प्रदान करती है। विद्यालय की इमारतें, सुविधाएं, विस्तार, अध्यापक, वर्ग तथा संसाधन आदि बुनियादी ढाँचे के हिस्सा है। इस क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद भारत में तेजी से विस्तार हुआ है। शैक्षणिक क्षेत्र में कई चरणों में पूर्ण साक्षरता प्राप्त करने के लिये जोरदार प्रयास किये गये हैं, ताकि उत्पादन व विकास के सभी समाज में सर्वोत्तम गुणवत्ता की विशेषज्ञता विकसित करने के लिये शिक्षा को और अधिक उन्नत व वैज्ञानिक ज्ञान से परिपूर्ण बनाया जा सके। अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की गुणवत्ता अफसोसजनक रूप से कम है तथा उचित प्रशासन का अभाव है। पढ़ाई छोड़ने की दर बहुत अधिक है एवं ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में समाज के कमजोर वर्गों के लिये शिक्षा सुलभ नहीं है।

● प्रौद्योगिकी के दुर्ग

प्रौद्योगिकी अनुसंधान तथा सीखने के उच्चतम स्थान दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कानपुर, खडगपुर, रूड़की, गुवाहटी, कलकत्ता इत्यादि है। 1914 पोलीटेक्निक 2694 अभियांत्रिकी महाविद्यालय, 1565 उच्च गुणवत्ता प्राप्त बिजनेस स्कूल व 7,87827 प्राथमिक विद्यालय है। इन सबके अलावा बहुत बड़ी संख्या में अल्पसंख्यक निजी संस्थान है। स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था है व ज्ञान की प्रत्येक आधुनिक शाखा में अनुसंधान की सुविधाएं है फिर भी भारत में अब भी वैश्विक परिदृश्य की तुलना में शैक्षणिक वृद्धि के बुनियादी ढाँचे का विकास काफी नीचे स्तर का रहा है। भारत में शिक्षा के बुनियादी स्तर को सुधारने के लिये गंभीर प्रयास किये जा रहे है। 12 वीं योजना में विशेष प्रावधान किये गये हैं। भारत में उत्पादित तकनीकी विशेषज्ञता का लाभ विदेशी देश उठा रहे है। भारत से बड़ी तादाद में तकनीकी विशेषज्ञ लोग प्रवास कर रहे है।

● सिंचाई संबंधी बुनियादी ढाँचा

प्रगतिशील कृषि की मांग होती है सिंचाई व उच्च संगठित आदेश तथा संस्थानों की इनपुट आपूर्ति व्यवस्था जो तकनीकी परिवर्तन की जरूरतों को पूरा करती हो। पिछले कई दशकों में इसे प्राथमिकता पर ही रखा गया। 1950 से इस क्षेत्र पर लगभग 2,31,400 करोड़ रूपये खर्च किये गये 1950 में भारत में सिंचाई शक्ति 22 मिलियन हेक्टेयर थी जो 1996 मे बढ़कर 89 मिलियन हेक्टेयर हो गयी। लगभग 30 प्रतिशत क्षेत्रों की सिंचाई नहरों द्वारा की जाती है 62 प्रतिशत की सिंचाई ट्यूब वैलों द्वारा व 8 प्रतिशत टंकियों ओर तालाबों (2004)। द्वारा की जाती है। 2006-07 में कुल सिंचित क्षेत्र 85 मिलियन हेक्टेयर था। भारत में सिंचाई क्षमता बड़े तथा छोटे स्त्रोतों से 140 मिलियन हेक्टेयर तक बढ़ गयी (2000)। नाबार्ड की भूमिका कृषि संबंधी बुनियादी ढाँचों के विकास व विस्तारीकरण के लिये राशि बढ़ाने के लिये है। कृषि अनुसंधान संस्थानों अथवा विश्वविद्यालयों ने उन्नत कृषि तकनीकों के लिये सहायता दी है। उर्वरकों की आवश्यकता को पूरा करने, उन्नत बीज, बुवाई के लिये बीज तथा प्रमाणित बीजों के लिये एक क्रमबद्ध व्यवस्था का विकास किया गया है। सिंचाई कृषि गतिविधि के लिये बहुत बुनियादी आवश्यकता का निर्माण करती महिन्द्रा एण्डमहिन्द्रा फायनेंस, चोलामंडल की बी.एस. फायनेंस, सुंदरम फायनेंस, ओसकर निवेश आदि।

निवेश का सर्वाधिक ध्यान आवास क्षेत्र पर है। दस शीर्ष आवास निवेश कंपनियाँ है–एच.डी.एफ.सी., सी.आई.सी., हाउसिंग फायनेंस, दीवना हाउसिंग, जी आई सी हाउसिंग व फायनेंसिंग जी आर यूएच. फायनेंस, केनफिन होम्स, सहारा हाउसिंग, इंड बैंक हाउसिंग कम्पनी कोरल इंडिया फायनेंस एवं हाउसिंग कम्पनी आदि।

● पशु चिकित्सा बुनियादी ढाँचा

पशुपालन, डेयरी, भेड़ अथवा उन मुर्गीपालन ऊंट विकास से संबंधित आर्थिक गतिविधियों के लिये पशु चिकित्सालय व सेवा केन्द्र आवश्यक बुनियादी संरचना है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में पशु सेवा, संगठनों का विकास किया है जोकि राज्य सरकार द्वारा संचालित होते हैं।

● अनुसंधान अथवा विकास बुनियादी

अर्थव्यवस्था के अनुसन्धान पहलू को उत्पादन के क्षेत्र में नये तरीकों एवं उपयुक्त तकनीक विकसित करने के लिये विशेष कर्मियों व प्रयोगशालाओं की जरूरत है। भारत में आई.सी.ए.आर. तथा सी.एस. आई.आर. जैसे बड़े-बड़े संस्थान हैं। अधिकांश आई.सी.एम.आर. स्वामित्व वाली प्रयोगशालाएं सार्वजनिक क्षेत्र में है। ठोस परिणामों के लिये अनुसंधान हेतु निजी पहल की आवश्यकता है। निजी उद्यमियों के उनकी अपनी अनुसंधान व विभाग है। औद्योगिक अनुसंधान तथा चिकित्सा अनुसंधान के लिये बहुत सारी राशि व निष्ठा की आवश्यकता है जोकि सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों में गायब है। भारत को अर्थपूर्ण बुनियादी अनुसंधान के लिये प्रतिवर्ष 45000 करोड़ रूपये की आवश्यकता है। निजी अनुसंधान संगठन एवं सरकारी स्वामित्व वाले अनुसंधान संगठनों के बीच पर्याप्त विकास के लिये अब निर्माण क्रियान्वयन व हस्तांतरण की रणनीति पर सहमति हो गयी है। 2003-04 में बुनियादी ढाँचा क्षेत्र में सकल पूंजी निर्माण जीडीपी का प्रतिशत (25, 38,171 करोड़ रूपये) सकल घरेलू उत्पाद का 3.82 प्रतिशत था।

भारत का योजना आयोजन प्रत्येक क्षेत्र के आर्थिक वृद्धि के बुनियादी ढाँचे की अपर्याप्तता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। बिजली उत्पादन, सड़के, रेलवे, बंदरगाह, सिंचाई, ग्रामीण पेयजल आदि में बहुत कमियाँ देखी गयी। 11 वीं पंचवर्षीय योजना में (20,02,000 करोड़) सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 9 प्रतिशत की योजना बनायी गयी।

● तकनीकी शिक्षा

भारत जिस ज्ञानवान समाज का निर्माण करना चाहता है, उसके लिये तकनीकी शिक्षा मूलभूत आवश्यकता है। लेकिन अभी तक बनाये सारे प्रावधान एक बड़ी जनसंख्या वाले देश के लिये केवल सीमांत रूप में हैं यहाँ तकनीक के केवल 7 प्रसिद्ध संस्थान हैं तथा प्रबंधन के छ: शीर्ष स्तरीय संस्थान हैं। यहां केवल 1617 अभियांत्रिकी व तकनीक महाविद्यालय है। होटल प्रबंधन संस्थान 91 है, 1147 प्रबंधन संस्थान तथा कम्प्यूटर स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र भारत में पंजीबद्ध है। यहाँ 20 राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान तथा बहुत सारे डीम्ड विश्वविद्यालय हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मानकों पर खरे नहीं उतरते हैं। ग्यारहवीं योजना ने 30 केन्द्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रस्ताव रखा है परन्तु इसके मानक उन्नत संस्थानों से तुलना योग्य नहीं है। 11 विश्व स्तरीय विश्वविद्यालयों की योजना बनायी गयी, जो मात्र शिक्षा अनुसंधान पर ही ध्यान देगी। भारत में अधिकांश स्नातक तथा स्नातकोत्तर शिक्षा केन्द्र गंभीर रूप से शिक्षण के बुनियादी ढाँचे में कमी आ रही है। तकनीकी शिक्षा केन्द्र पूरे देश में समान रूप से नहीं फैले हैं। दक्षिण भारत पर ज्यादा ध्यान दिया गया है। भारत में गुणात्मक उन्नति होना भारतीय अर्थव्यवस्था की त्वरित आवश्यकता है।

● लोक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सेवा

भारत में योग, प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, होम्योपैथी, आयुर्वेद व एलोपैथी से इलाज किया जाता है। ग्रामीण स्वास्थ्य बुनियादी संरचना बहुत कमजोर है। यहाँ 7663 चिकित्सालय है, अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्र में है। यह दवाओं सहित अक्षम, खराब मानव रहित तथा अविश्वसनीय उपकरणों से पीड़ित है। 2006 में, यहाँ 11345 निजी अस्पताल थे, इनमें से कुछ केवल नाम की खातिर थे। स्वास्थ्य सुविधा अधिकांश रूप से शहरी क्षेत्रों पर केन्द्रित रहती है। सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 5 प्रतिशत अस्पताल से वाहर खर्च किया जाता है।

अमेरिका में यह प्रतिाश्त 15.9, जापान में 8.2 प्रतिशत व इंग्लैड में 8.2 प्रतिशत भारत में स्वास्थ्य बीमा गरीबों के लिये आज भी दूर का स्वप्न है, जहाँ अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में पीने का पानी भी पहुँच से दूर है। अधिकांश सामान्य स्वास्थ्य बीमारियाँ पानी से संबंधित होती हैं तथा बड़े शहरी क्षेत्रों में भी साफ स्वच्छ पानी उपलब्ध नहीं है। चिकित्सालयों व स्वास्थ्य केन्द्रों में मानव बल की कमी है। अथवा सुविधाओं व उपकरणों का भी अभाव है।

● शहरी नौवहन बुनियादी ढाँचा

भारत में नौवहन क्षमता बुनियादी ढाँचे की एक उल्लेखनीय विशेषता है। वैश्विक व्यापार में भारतीय सहभागिता में पर्याप्त नौवहन क्षमता में कमी के कारण बाधा उत्पन्न हुई। भारतीय नौवहन वाहकों की हिस्सेदारी कुछ वर्षों में गिर रही है। विकृत नौवहन वाहकों में इसकी हिस्सेदारी मुश्किल से एक प्रतिशित है। भारत में 4 करोड़ टन जी.आर.टी. के कुल 160 जहाज है। यहाँ 66 भारतीय नौवहन कपंनियाँ काम कर रही हैं। भारत अपने जहाज विशाखापत्तनम, कलकत्ता, मुंबई तथा कोचीन में बनाता है। केवल 29 प्रतिशत भारतीय सामान भारतीय जहाजों द्वारा ले जाया जाता है, उसमें से 54 प्रतिशत कच्चा तेल है। भारतीय जहाजों के संचालन की उच्च लागत है। भारत में सूखी डाकिंग की सुविधा, कार्गो के संचालन व मरम्मत की सुविधाओं की कमी है। भारत को 800 मिलियन टन जी.आर.टी. को संभालने की क्षमता की आवश्यकता है। तीव्रतर गति से क्षमता बढ़ाने के प्रयास किये गये है।

● नागरिक उड्डयन

घरेलू सेवाओं में, भारतीय विमान 253 मिलियन, किलोमीटर (2001) से 250000 घंटों तक उड़ान भरते हैं व 13712 यात्रियों तथा 67,6000 टन कार्गो ले जाते है। 2005-06 से उड़ान के घंटे 475000 तक पहुँच गये तथा 25205000 यात्रियों को लेकर उड़ान भर रहे है। कुल सामान (कार्गो) 256000 यात्री अथवा 112000 टन कार्गो (2005-06) ले जाया जाता है। लगभग 162 मिलियन कि.मी. की दूरी तय की जाती हैं लगभग 237000 घंटों की उड़ान भरी जाती है। इस ओर वृद्धि में निजी क्षेत्रों द्वारा दी जा रही सहायता बहुत सहायक सिद्ध हुई। भारतीय नागरिक उड्डयन मानक विश्वस्तरीय है तथा उतरस्तरीय सेवाएं है।

● साफ्टवेयर बुनियादी ढाँचा

भारत में कम्यूटर शिक्षा बुनियादी ढाँचा बुनियादी संरचना के रूप में भी योगदान देता है, जिसमें एनआईआईटी, एडुकौम्प स्पेल्युशंस, एवरॉन एजुकेशन, एपटैक, बिड़ला सडुटैक, जैटकिंग इन्फोट्रेन लिमिटेड, साफ्टवेयर टैक समूह, एस.क्यू एल. स्टार, निम्बस, कॉम्प–यूलीन, टेक आदि की भूमिकाएं सीमित है, अधिकांश नयी दिल्ली, चेन्नई, मुम्बई, हैदराबाद तथा अहमदाबाद में पायी जाती है। भारतीय कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर कंपनियाँ भारतीय लोगों को प्रशिक्षण अथवा रोजगार के लिये आधार तैयार करने में सहायता प्रदान करती है। टाटा कंसलटेन्सी, विप्रो, इन्फ्रोसिस टैक्नोलॉजी, टैक महिन्द्रा, एचसीएल लिमिटेड, ओरेकल फायनेंशियल साफ्टवेयर, पटनी कम्यूटर सिस्टम, ह्यूलैट पैकर्ड ग्लोबल सॉफ्ट, पी.आई.एस. लिमिटेड, इन्फ्रोटैक एन्टरप्राइजेस इत्यादि अधिक प्रचलित है। माइक्रोसाफ्ट सॉफ्ट बैंक, एक्सैम्पर, आई.बी.एम, औरेकल, गूगल आदि भारत में वैश्विक दिग्गज है। इसी तरह इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर कंपनियाँ इस उद्योग को बड़ा समर्थन दे रही हैं। लार्सन एंड टर्बो, बी.जी.आर. एनजी, ई.आई.एल., मैकनैली, श्रीराम, पैट्रन इत्यादि अभियांत्रिकी सेवाओं वाली कंपनियाँ भारतीयों को विशेषता हासिल करने हेतु आयाम उपलब्ध कराती हैं। भारत में साफ्टेवयर बुनियादी संरचना तीव्रगति से मजबूत हो रही है। यह अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण है कि हाल के दशकों में बुनियादी ढाँचागत क्षेत्रों में पूंजी निर्माण की गति में गिरावट हो रही है। यह 1993-94 में सकल घरेलू उत्पाद का 5.88 प्रतिशत था जो 2002-04 में 3.82 प्रतिशत तक घट गयी। बिजली, गैस, पानी, यातायात, भंडारण,

संप्रेषण रेल्वे, सड़क यातायात, तथा भंडारण क्षेत्रों में वृद्धि हुई है। ग्यारहवीं योजना में, सकल घेरलू उत्पाद का 9 प्रतिशत तक वृद्धि हुयी है। निजी निवेश से बुनियादी संचचनात्मक निवेश को सहारा मिलता है, जिससे वैश्विक प्रतिस्पर्धा में सहयोग मिलता है।

● परामर्श एवं विशेज्ञता संस्थान

उद्यमियों की सबसे बड़ी आवश्यकता उद्योग अथवा व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में विकास की परियोजनाओं को डिजाइन, प्रबंधन तथा कार्यान्वयन के लिये विशेषज्ञता से संबंधित है। विशेषज्ञता प्राप्त संस्थान तथा परामर्श कंपनियाँ उद्यमियों को किसी भी व्यावसायिक उद्यम के प्रशासन प्रशासन की तकनीकी शर्तों की मदद करती है। विस्तृत मानचित्रण व डिजाइन इन विशेषज्ञ घरानों द्वारा तैयार किये जाते हैं जिन्हें बाद में ग्राहक व्यवसायी घरानों तथा विनिर्माण कंपनियों द्वारा लागू किया जाता है। अंतिम उत्पाद तक पहुँचने में चरणों की भागीदारी, विपणन की जटिलताएं, बिक्री पैटर्न, कराधान व संबंधित पहलुओं को पहले से विशेषज्ञों के विवरण में स्थापित किया गया है। उनकी सलाह की मांग श्रम भर्ती, मशीनरी अथवा उपकरण श्रमिक अशांति, बाजार चातुर्थ आदि के लिये की जा सकती है। बाहरी परामर्श के सहयोग से भारत के प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञता को विकसित किया।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बुनियादी ढाँचा बहुत ही रणनीति इनपुट है जिसके बिना औद्योगिक तथा व्यावसायिक इकाईयों का विस्तार अथवा पर्याप्त मार्जिन बनाना संभव नहीं है। अर्थव्यवस्था को सुनिश्चित करना होता है कि उद्यमियों के उत्साह वर्धन हेतु उन्नति का अनुकूल वातावरण तैयार कर लिया गया है। वातावरण का एक बड़ा हिस्सा शांति सुरक्षा, विधि एवं आदेश, अच्छे स्तर की आर्थिक स्थिरता, व उपयुक्त न्यायिक व्यवस्थाओं पर निर्भर करता है। उद्यमियों को अगली हर स्तर की तिथिवार सांख्यिकीय जानकारी रखना आवश्यक होता है, ताकि राज्य उद्यमियों को आंकड़े एकत्रित करने में सहायता पहुंचा सके। सभी उन्नत देशों में उनकी सांख्यिकीय वृद्धि एकत्रीकरण एजेन्सी, निजी विशिष्ट एजेन्सियाँ हैं जो भारत में काम करती हैं तथा इस तरह के तकनीकी मामलों में काम करती हैं व इस तरह के तकनीकी मामलों में व्यवसायी घरानों को सहायता प्रदान करती है।

● न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

आर्थिक विकास के मानव जीवन के संबंधित प्रयासों को जीवन की ओर अधिक आरामदायक आसान बनाने के लिये प्रेरित किया। आर्थिक गतिविधि के संगठन तथा सामाजिक संगठन की आवश्यकता होती है। उत्पादन के विभिन्न कारकों को उद्यमियों द्वारा एक साथ लाया गया व आखिरी तक काम करने हेतु बनाया गया। यदि जीवन के न्यूनतम स्तर प्रदान किये जाते हैं तो ये दक्षता के साथ काम करते हैं। पीने योग्य पानी, स्वच्छता चिकित्सीय सहायता, शिक्षा, भोजन, आवास आदि की व्यवस्था उत्पादन स्थल पर की गयी ताकि कामगार अपने कार्य आसानी से कर सकें उद्यमियों ने बच्चों के लिये शिशुपालना ग्रह का प्रावधान रखा, जिसे कारखाना स्थल पर महिला कर्मियों के बच्चे इन पालनगृहों में रखे जा सके। इससे उत्पादन को बढ़ाने के लिये एक बुनियादी ढाँचा तैयार हुआ।

प्रत्येक आर्थिक उद्यम को विभिन्न जोखिमों से गुजरना पड़ता है, वह सुरक्षा का हो सकता है स्थायित्व का हो सकता है, विधिक ढाँचे, श्रमिक तथा वित्तीय जोखिम इत्यादि हो सकता है। इसकी बंदरगाह की सुविधाएं अधिक खिंची हुई (अति प्रवाह) हैं सड़क तथा रेल मार्ग अच्छी तरह के नहीं चल रहे हैं, बिजली आपूर्ति अनियमित हैं, तकनीक बदल रही है। व किसी भी क्षण नयी प्रतिस्पर्धा का प्रादुर्भाव हो जाता है। इन सब जोखिमों से बचा जा सकता है उपयुक्त बीमा तथा अच्छे तरीके अपनाकर। अत: व्यवसाय की वृद्धि के लिये बीमा एक बुनियादी संरचना सुविधा है। कार्यस्थल पर श्रमिकों को दी जाने वाली सुविधाओं से तनाव व श्रमिक

की चिन्ता कम होती है अथवा वे चिन्तामुक्त होकर, तनाव रहित होकर काम करते हैं। वे मध्यान्ह भोजन के लिये घर जाने के लिये अवकाश हेतु दबाव नहीं डालते हैं इससे वे काम करने के लिये उपलब्ध रहते हैं तथा दिन में अधिक घंटे काम कर पाते हैं।

बुनियादी संरचना का अर्थ है संस्थागत सुविधाएं, गतिविधियों की गति को बढ़ावा देना। इसके अन्तर्गत अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण सम्मिलित है जो इच्छित लक्ष्यों की दिशा में किये जा रहे प्रयासों की दक्षता को गति देते है। साधारणतया, बुनियादी संरचना के अन्तर्गत भौतिक संरचना आती है जैसे सिंचाई नहर, सड़कें तथा रेलमार्ग, उड्यन सुविधाएं, बैंकिंग एवं बीमा संरचना, विपणन एवं परामर्श केन्द्र, बिजली अनिर्माण व पूंजी बाजार, तकनीकी प्रशिक्षण एवं कौशल निर्माण की व्यवस्थाएं उपकरण जो दक्षता एवं प्रदर्शन में वृद्धि को गति देते हैं। बुनियादी संरचना एक सामाजिक उपरि है। दूर संचार नेटवर्क एक बुनियादी संरचना है। होटल आवास पर्यटन विकास के लिये एक आवश्यक बुनियादी संरचना है। गहन मौलिक सुविधाओं जैसे स्वास्थ्य केन्द्र, चिकित्सालय, पशुचिकित्सा सेवाएं, पीने योग्य पानी की सुविधा तथा बाजार केन्द्र आदि के बिना कोई भी व्यक्ति मानव विकास की कल्पना भी नहीं कर सकता। नये उपकरण व तकनीक का प्रयोग करने की अर्थव्यवस्था में वृद्धि होती है। अत: तेजी से विकास के लिये अत्यधिक सुसज्जित प्रौद्योगिकी अनुसंधान केन्द्र आवश्यक है। विकसित शिपिंग तथा जहाजी बेड़े से व्यापार बढ़ता है। कुशल सुरक्षा की सेवाएं, शान्ति विधि व आदेश व न्याय आर्थिक उन्नति की पूर्व शर्तें है। भारत ने नियोजित युग के दौरान बुनियादी ढाँचे का एक व्यापक नेटवर्क बुना है, जिससे भारत में आर्थिक विकास बहुत तेजी से हुआ है।

● निवेशकी राजनीतिक का विकास

भारत एक प्राचीन सभ्यता वाला व धनधान्य से पूर्ण उप महाद्वीपीय देश है जिसमें मानवता का लगभग छठा भाग निवास करता है। यहाँ अधिकांश लोग अत्यधिक दरिद्रता का जीवन बसर करते हैं यद्यपि इसका एक अल्पसंख्यक वर्ग ऐसा भी है जिसका जीवन स्तर विश्व के श्रेष्ठतम देशों जैसा है। यह एकमात्र कारण नहीं है कि जिसके लिए इसे एक अत्यधिक विषमताओं वाला देश कहा जाए। ग्रेट ब्रिटेन जो आधुनिक औद्योगिकीकरण का अग्रणी है व जिसका विश्व के इतिहास में एक लम्बी अविध के लिए आधुनिकीकरण–उद्योगीकरण की प्रक्रिया पर वर्चस्व बना रहा उसके हाथों राजनीतिक अधीनता के आधार पर उसकी उपनिवेशी सत्ता के तत्वविधान में घटित जिसे हम आमतौर पर आधुनिकता का नाम देते हैं इसके मुकाबले में भारत एक विविधताओं ओर बहुलताओं से भरा देश है। जबकि भारत ने अपने जन समुदाय, स्वतंत्रता के लिए लोकप्रिय संघर्ष के माध्यम से उपनिवेशी शासन से अपने को सफलतापूर्वक मुक्त कर लिया तथापि यह अभी अपनी एक अरब से अधिक जनसंख्या के लिए जिन्हें पाने की अपेक्षा ही कर रहा है जीवन स्तर इसके संसाधनों के अनुरूप प्रतिष्ठा तथा शक्ति सम्पन्नता, समबद्ध विरासत, उन उच्च मूल्य वाली लोकतांत्रिक व्यवस्था जिसे मानवता ने आज प्राप्त कर लिया है व समद्ध मानवीय आचरण। यह अपने नागरिकों के लिये उसे प्राप्त करने के लिए एक श्रमसाध्य संघर्षरत है जो उनका प्राप्य है किन्तु उन्हें लम्बे समय से नहीं मिल पा रहा है व जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए मौलिक चुनौती है। इतिहास गवाह है कि भारत किस प्रकार पिछड़ता रहा तथा लगातार विकासोन्मुख अंतर्ग्रथित विश्व में बहुमूल्य ऐतिहासिक अवसरो खोता रहा। इसकी आन्तरिक प्रक्रियाएँ समय व्यतीत होते–होते दुष्प्रक्रियात्मक तथा प्रतिउत्पादक बन गई। भारत के विकास की आर्थिक व्यवस्था का भूमंडलीय ताकतों, प्रक्रियाओं व परिस्थितियों के संदर्भ में पुनरीक्षण अथवा विश्लेषण करना पड़ेगा।

● भूमंडलीय विभाजन

गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, दरिद्रता, बार–बार पड़ने वाले अकाल, अपराध तथा व्यापक असमानताएँ खुले तौर पर दृश्यमान हैं किन्तु इनमें भारत सहित विशाल पृथ्वी के विभिन्न हिस्सों में अक्सर परिवर्तन होता

रहता है। यद्यपि विश्व का कोई भाग इन अपरिहार्य समस्याओं से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं है, परन्तु विश्व के दो-तिहाई अरब से अधिक मनुष्य अर्थात विश्व का अधिकांश भाग इस बीभत्स प्रारब्ध को व्यग्रता की सीमा तक भुगतते हैं। समृद्ध तथा उच्च आय वाले देशों में, ऐसे देश जो (OECD) के हिस्से हैं, उनकी औसत आयु बहुत अधिक होने के बावजूद, अत्यधिक गरीबी, बार-बार व प्राय: बढ़ने वाली बेरोजगारी (प्रतिशतता की ऐसी सीमा जिसे और कम न किया जा सके), आय, धन, सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा की बढ़ती हुई असमानताएँ, अपितु सामाजिक असुरक्षा में वृद्धि तथा देशान्तर गमन व निराशाजनक स्थिति की अनियंत्रित समस्याएँ हैं। ये बहुत ही गंभीर है तथा इसे वस्तुत: भारत सहित सैकड़ों देशों के प्रमुख लक्षणों को परिभाषित करने में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे देशों को प्राय: विभिन्न प्रकार जैसे अविकसित, विकासशील, कम विकसित, उद्योगीकरण वाला पिछड़ा तथा तृतीय विश्व के देशों के रूप में जाना जाता है। सामान्यत: प्रतिव्यक्ति आय के आँकडों पर आधारित सरकारी विनिमय दर भ्रामक होती है व इसकी बेहतर तस्वीर क्रयशक्ति तुल्यता के प्राक्कलनों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय तुलनात्मक आँकड़ों द्वारा प्राप्त की जा सकती है। दोनों स्थितियों में, विश्व जनसंख्या का अधिकांश प्रतिदिन क्रमश: एक अमेरिकी डालर तथा दो अमेरिकी डालर से कम आय पर जीवन निर्वाह करता है (देखें अन्त में सारणी-I व II)। अधिक आय वाले देश विश्व की सकल राष्ट्रीय आय का लगभग चार-पाँचवाँ भाग पैदा करते हैं, जबकि कम आयु वाले देश विश्व की सकल राष्ट्रीय आय (GNI) के 4 प्रतिशत से कम पैदा करने की स्थिति में होते हैं व मध्यम आय वाले देशों का हिस्सा कुल आय का लगभग 17 प्रतिशत है। यह उल्लेखनीय है कि अधिक आय वाले देशों की जनसंख्या लगभग 6 अरब की विश्व जनसंख्या का 15 प्रतिशत है। कुल मिलाकर दो-पाँचवाँ भाग से अधिक मनुष्य कम आयु वाले देशों में रहते हैं किन्तु मध्यम आय वाले देश विश्व जनसंख्या के लगभग 45 प्रतिशत मनुष्यों को नागरिकता प्रदान करते हैं। समृद्ध देशों में गरीब, अपवंचित, विभेदीकृत तथा सतृप्तं व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है। इसी प्रकार अधिक गरीब देशों में धनी, सृमद्ध व धनधान्य से पूर्ण व्यक्ति भी कहीं-कहीं मौजूद हैं। जबकि गरीब तथा धनी देशों के अमीरों के बीच जीवन के अनुभव, मूल्य, विचार व आथिक-सामाजिक का अच्छा तालमेल है, दोनों तरह के देशों में गरीबों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक सम्बन्ध अथवा अनुभूतियों का कोई खास प्रमाण नहीं है।

भारत में अनियंत्रित रूप से व्याप्त विषमताओं के बारे में सांख्यिकीय आँकड़े प्राधिकृत रूप से उपलब्ध नहीं है। परन्तु इन प्रचलित विषमताओं के बारे में कुछ विचार भारत के बारे में कुछ सुविश्यात तथ्यों से एकत्र किए जा सकते हैं। एक तथ्य यह है कि जनसंख्या के लगभग दो-तिहाई हिस्से की जीविका का एक मात्र स्रोत कृषि बनी ह ुई है, ऐसी स्थिति है जो अत्यधिक सुदढ़ है परन्तु कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों की निरपेक्ष संख्या अब उस संख्या का तीन गुना है जो स्वतंत्रता के समय कृषि पर निर्भर थी। किन्तु आधी शताब्दी से अधिक की इस अवधि में, सकल घरेलू उत्पाद मे कृषि का शेयर आजादी के समय कुल के तीन-चौथाई से घटकर इस समय एक चौथाई से भी कम रह गया है। इसी के साथ प्रति व्यक्ति निर्बल कृषि क्षेत्र सिकुड़कर 0.13 हेक्टेयर हो गया है जो 1947 वाले क्षेत्र का मुश्किल से एक तिहाई है। उस समय भूदान आन्दोलन व भूमि के पुनर्वितरण के विधिक-प्रशासनिक प्रयास के बावजूद वस्तुत: भूमि धारण इस सीमा तक बढ़ गया है कि व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि भूमि धारकों को उत्कृष्ट 20 प्रतिशत मोटे तौर पर उपजाऊ क्षेत्र के 80 प्रतिशत पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कुछ उत्पादकता अभिलाभों के बावजूद खेतिहरों की अधिकांश की तुलनात्मक स्थिति बदतर हो चुकी है। इनमें 80 प्रतिशत छोटे तथा सीमांतक किसान हैं जिनके पास भूमि के छोटे-छोटे निर्जीव प्लॉट हैं व अन्य पूरक संसाधनों तक उनकी पहुँच अपर्याप्त तथा सीमित है। उन भूमिहीन कृषि मजदूरों की स्थिति आय की दृष्टि से खराब है जिनका अधिकांश उन सामाजिक रूप से व आर्थिक रूप से बदतर अथवा विभेदीकृत व प्रजातीय समुदायों से जुड़ा हुआ है जो भारत के अत्यधिक विभेदित तथा सामाजिक रूप से बिखरे हुए लोगों का निकृष्टतम रूप है। ऐसे लोग जो ग्रामीण आबादी के एक तिहाई से थोड़ा कम हैं, लाभप्रद व उत्पादक कार्य की अपर्याप्तता तथा अनिश्चित उपलब्धता से आय की असुरक्षा का शिकार होते हैं अथवा सर्वाधिक अनिवार्य सामाजिक-आर्थिक मूलभूत सुविधाओं और

सेवाओं से वंचित रहते हैं जैसे उनके सिरों के ऊपर सही सलामत छत, पेयजल, साक्षरता, स्वास्थ्य सुविधाएँ, चिकित्सा सुविधाओं तक पहुँच विद्युत तथा भोजन सुरक्षा का न होना। इसके प्रतिकूल, एक अल्पसंख्यक वर्ग जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर के धन व विलासिताओं का मजा ले रहे हैं, आवश्यकता तथा सांख्यिकीय आँकड़ों से भलीभाँति परिचित हैं। किसी भी हालत में अत्यधिक भ्रामक धारणा के आधार पर भी सरकारी आँकड़ों के अनुसार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 2 करोड़ है और साक्षरता का स्तर उन उप-सहारा अफ्रीका देशों से भी कम है जो विश्व के न्यूनतम विकसित देशों में गिने जाते हैं। उपरोक्त दृष्टिगत, यह प्रश्न करना तर्कसंगत है कि समय, देश तथा विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों से परे आय की तुलना कितनी अर्थपूर्ण है?

● दरिद्रता : आय का तुलनात्मक अध्ययन

प्राक्कलित आय के स्तर व विभेदन लोगों के अस्तित्व की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का पूरा परिचय नहीं देते। इसके बहुत से कारण हैं। एक कारण यह है कि आय बाजार केन्द्रस्थ क्रियाकलापों से जुड़ी होती है। किन्तु अनेक निर्णयात्मक व महत्वपूर्ण क्रियाकलाप जिनमें भौतिक पहलुओं से जुड़े हुए तथा समद्धि, सामाजिक भूमिका और प्रतिष्ठा को प्रभावित करने वाले क्रियाकलाप शामिल है बाजार से इतर क्रियाकलाप हैं और उनमें परिवार, समुदाय, राज्य, असैनिक समाज, संगठन आदि अन्तर्ग्रस्त होते हैं। इस बाजार से इतर क्रियाकलापों को आय के प्रवाह से कुद लेना-देना नहीं होता। इस प्रकार बाजार में हर कोई शामिल नहीं होता है, यह लोगों के गैर-कार्यात्मक अन्यायपूर्ण मानदण्ड के आधार पर विभेदन करता है तथ अधिकांश लोगों को अलग-अलग समयान्तराल के लिए अपने परिसर में कार्य व लेनदेन में सहभागी नहीं बनाता है। बहुत से उद्देश्यपरक तथा व्यक्तिपूरक घटक बाजार के तर्क और कार्यचालन के लिए सौहार्दपूर्ण नहीं है। बाजार ये कइयों द्वारा इस प्रकार आय का प्रवाह बनाने के लिए बाजार प्रक्रियाएँ कुछ लोगों को दूसरों की कीमत पर लाभ पहुँचाती हैं। उदाहरण के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में भूमि, जल, जंगल, आदि जैसे प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग कुछ लोगों को बिना किसी तथा अपर्याप्त प्रतिपूर्ति के उनकी जीविका से अपवंचित कर देता है। भारत में बहुउद्देश्यीय सिंचाई व जल विद्युत परियोजनाओं का मामला लीजिए। वे अक्सर ऐसे विशाल भूमिक्षेत्र को जलमग्न कर देते हैं जो जंगलों, विशेषकर पुरातन शैली के प्राकृतिक जंगलों से घिरा होता है। इन जलमग्न इलाकों के कारण हजारों जनजातियों, किसानों व अन्य गरीब लोगों का विस्थापन होता है जिससे उनकी केवल जीविका ही अस्त-व्यस्त नहीं होती किन्तु उनके रहन-सहन का वातावरण पूरी तरह ही बदल जाता है। अब कभी पुनर्वास प्रयास किए गए हैं, जो हमेशा नहीं होते, ये पूर्ण तथा युक्तियुक्त प्रतिपूर्ति से काफी कम होते हैं, उचित पुनर्वास और परियोजना से होने वाले लाभों में सहभागिता व किसी अन्य विकल्प का सवाल ही नहीं उठता। जबकि इन शरणार्थियों के इस प्रकार के विकास पर भारी खर्च होता है, परन्तु इसका लाभ लेने वाले मैदानी इलाके में रहने वाले वे लोग हैं जो सामानयत: भारत का छोटा-सा संगठित संभ्रान्त लोगों तथा उनसे जुड़े हुए लोगों का समूह है। राष्ट्रीय आय के आँकड़े निश्चित रूप से इस प्रकार के असमानता प्रेरक 'विकास' से होने वाली भारी लाभ को दर्शाते हैं। यह लाभ उस छोटे वर्ग को उद्भूत होता है जो उन निर्धन लोगों को किसी प्रकार की प्रतिपूर्ति नहीं करते हैं जो राष्ट्रीय सकल उत्पाद के आँकड़ों में यथा प्रदर्शित इस प्रकार के विकास से यहाँ बदतर स्थिति में पहुँच जाते हैं। स्पष्टत: ये परियोजनाएँ सकल घरेलू उत्पाद व जनता के उन दुश्मनों की आय में वृद्धि करती हैं जो किसी भी राष्ट्रीय लेखाओं के आँकड़ों की पकड़ में नहीं आते। भारत ने गत पचास वर्षों में ऐसी दर्जनों परियोजनाएँ देखी हैं। इनसे उजड़े हुए लोग सामान्यत: निर्धनों की गिनती में आते हैं।

बाजार जनित आय पर उसकी गुप्त तथा गैर-मौद्रिक लागत को छिपाती है। बाजार अत्याधिक सीमित व संक्षिप्त दृष्टिकोण अपनाते हैं बाजार का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण होता है। तदोपरान्त बाजार प्रक्रियाओं में सहभागिता व इन प्रक्रियाओं से अलग होने की लागते पूर्णरूपेण सही तथा यथार्थ रूप से मूल्य व आय के आँकड़ों में शामिल नहीं होती। बाहरी अर्थव्यवस्थाओं तथा विषम अर्थव्यवस्थाओं के प्रभाव आय को

अपूर्णसूचक बनाते हैं। कुल मिलाकर जंगलों के निरावरण, भूमि के अपक्षीणन, जलवायु के प्रदूषण द्वारा अधिरोपित इन भारी मूल्यों से कौन इंकार कर सकता है जिनसे विशुद्ध आधुनिक उद्योगीकरण को अपनाने वाला भारत जैसा देश भी लम्बी अवधि से त्रस्त है तथापि इसके सकल घरेलू उत्पाद में 20 वीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों से वृद्धि होना शुरू हुई है। बहुत से गैर-आर्थिक पहलू भी व्यष्टियों, समूहों व समाजों के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि वे विकास के सारतत्व है किन्तु बाजार मूलक आयजनित क्रियाकलापों के दायरे में नहीं आते हैं। अन्य विश्वों में, बाजार मूलक आय अपूर्ण, आंशिक व भ्रामक सूचक वाली होती है अथवा कुछ अर्थों में आम समाज की समृद्धि के प्रतिकूल हो सकती हैं।

तब, राष्ट्रीय आय के जोड़ तथा औसत राष्ट्र को एक इकाई के रूप में लेते हैं, यद्यपि यह आनतरिक गतिशीलता व विभेदन के बिना आन्तरिक रूप से एकमात्र अविभेदित हस्ती (काले संदूक की तरह) है। भारत जैसे देशों में सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संसाधनों के ऊपर नियंत्रण, उन तक पहुँच व उनकी गुणवत्ता तथा प्रास्थिति अथवा सत्ता के अर्थों में व्यापक आन्तरिक विभेदन होते हैं, उनके ऐतिहासिक अनुभव भी अनेक प्रकार की उथल-पुथल के द्योतक हैं। इन मतभेदों में भारत जैसे देश में उसके उपमहाद्वीपीय आकार क मद्देनजर एक क्षेत्रीय आयाम भी जोड़ा जा सकता है। तब, चाहे विभिन्न राष्ट्र पूर्णरूपेण अपूर्व न भी हों, राष्ट्रों के बीच मतभेदों से काफी सीमा तक समानताएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। भारत के बारे में प्राय: कहा जाता है कि यह एक नितांत विविधताओं वाला देश है, ऐसा देश जिसमें स्थायी सामान्यीकरण वह है जो वैध हो। इसलिए राष्ट्रों, उनके स्तर, प्रतिमान, गतिशीलता तथा आय के प्राथमिक आँकड़ों के आधार पर विकास के भविष्य की तुलना करना अत्यधिक भ्रामक हो सकता है। भारतीय राज्यों के बीच प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद अन्तरराज्यीय तुलना के लिए ठीक रहेगा। राष्ट्रीय तथा राज्य की आय के इस प्रकार के आँकड़ों की प्रत्यक्ष परिशुद्धता बहाना मात्र है क्योंकि इसकी संगणना कई अवास्तविक परिकल्पनाओं, सूचना के अशुद्ध स्रोतों व शासन विशेषकर विशाल असंगठित क्षेत्र वाले गरीब देशों मे अंगूठाछाप शासन पर आधारित होती है। भारत के मामलें में विशेष रूप से यह एक सच्चाई है क्योंकि यहाँ 92 प्रतिशत से अधिक श्रमबल अपनी जीविका ऐसे असंगठित क्षेत्र मे कार्य करके अर्जित करता है जिसका योगदान भारत के सकल घरेलू उत्पाद के 70 प्रतिशत से कम है।

आय के प्रवाह उत्पादन (नियमित रूप से अथवा तदर्थ आधार पर) द्वारा पैदा किए जा सकते हैं तथा हस्ताक्षर के द्वारा विनयमितता के अधिप्रमाणित उपाय वाले विभिन्न तरीकों से भी उपलब्ध कराए जा सकते हैं। किन्तु इस प्रक्रिया में आय का वितरण करने वालों का वर्चस्व बना रहता है व उसे प्राप्त करने वाले उनके नियंत्राधीन तथा अधीनस्थ रहते हैं। इसमें शक्तिहीनता व पराधीनता के असमान रिश्ते में आय अंतरण प्रापक अन्तर्ग्रसत होते हैं जिससे वे मजबूरन स्पष्टतौर पर हीनभावना के शिकार होते हैं। ऐसे सत्ता सम्बन्ध किसी भी समाज तथा राष्ट्रों के बीच भी निर्णायक होते हैं। ग्रामीण निर्धन अपने अभाव के स्तर में कई सुधार क्यों नहीं कर पाए हैं जबकि गत पाँच दशकों में लाखों-करोड़ों रूपये प्रत्यक्ष तौर पर उनके कल्याण व विकास के लिए खर्च किए जा चुके हैं, का एक संभावित कारण यह है कि ये सभी ऊपर-नीचे के कार्यक्रम पैत्रिक पक्ष से जुड़े हुए हैं व हितकारी तथा हिताधिकारी के बीच एक तीव्र द्विविभाजन करते हैं। एक अन्य उदाहरण लें। 'सहायता' प्राप्त करने वाले देशों को 'दाता' देशों से नियमित, निरन्तर, संस्थागत, व औपचारिक आधार पर अपनी योजनाओं तथा नीतियों का अनुमोदन कराना पड़ता है। ऐसे राष्ट्र प्रत्यक्षत: छूट प्राप्त कर्जों को प्राप्त करने के लिए आसान विकल्प, प्रौद्योगिकी तक पहुँच आदि के लिए राष्ट्रीय संप्रभुता व हितों से समझौता करते हैं। किन्तु इस प्रक्रिया में विशेषत: उनके मुख्य राष्ट्रीय हितों का विनियम होता हैं। जो ''दाता'' की अनुमोदित योजनाओं, कार्यक्रमों व नीतियों में सहभागिता की स्थिति में नहीं होते हैं। वर्ष दर वर्ष भारत की उस तिरस्कृत स्थिति पर विचार कीजिए जब भारत शासकीय विकास सहायता के रूप में कुछ विकास सहायता जो भारत के विकास खर्च का एक अल्पांश मात्र होती है, मुहैया कराने के लिए अपनी वचनबद्धता के बदले में तथाकथित दाता देशों का अनुमोदन प्राप्त करने की दृष्टि से भारत सहायता क्लब के रूप में अपने उच्च स्तरीय कर्मचारियों को

भेजता है। अपेक्षा कम ब्याज वाले इस प्रकार के कर्जे प्राय: ऐसी परियोजनाओं के लिए प्राप्त किये गए थे जिनसे किसी विदेशी मुद्रा की निकासी नहीं हई व भारत के दीर्घकालिक भुगतान घाटे को पूरा करने हेतु लिये गए थे। मुद्दा यह है कि जबकि कुछ सीमा तक लाभप्रद अन्तरराष्ट्रीय आय की तुलनाएँ चाहे वह विद्यमान में हो तथा लम्बी ऐतिहासिक अवधियों से जुड़ी हों, विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के आवश्यक प्रश्नों व समस्याओं को परिभाषित करने के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है।

किन्तु यह सार्वभौमिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विभाजन का मुख्य लक्षण है जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को जटिल/संदिग्ध बना देता है। वस्तुत: एक देश के आन्तरिक मतभेद व असमानताएँ चिरस्थायी तथा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय असमानताएँ चिरस्थायी अथवा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय असमानताओं से सम्बन्धित है व विकास प्रबन्धन का एक प्रमुख घटक हैं। फिर भी इन मुद्दों पर उचित रूप से चर्चा करने के लिए हमें विकास की चिरस्थायी लोकप्रियता अथवा आय से जुड़े हुए मानदण्डों की सरकारी स्तर पर एकमात्र मान्यता की वैधता पर विचार करना पड़ेगा। निस्संदेह यह सच्चाई है कि वस्तुओं व सेवाओं की नियमित आपूर्ति के लिए आय का प्रवाह और उस तक पहुँच आवश्यक है वे उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता व सुनिश्चित करना पड़ता है। मूल मुद्दा है: क्या इस एकमात्र पूर्णत: महत्वपूर्ण विकास घटक को, प्रत्येक अतिरिक्त वस्तु के लिए, एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा बनाया जा सकता है? इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण एकपक्षीय दृष्टि के लिए उत्तरदायी आवश्यक घटक अर्थशास्त्र द्वारा लोकप्रियता के रूप में विकास के मुद्दों का यह एकाधिकरण प्रतीत होता है जो तकनीकी रूप से कठोर एवं प्रभावी उपशिष्य हैं जिसे विकास के अर्थशास्त्र के रूप में जाना जाता था विशेष रूप से जैसा यह समद्ध देशों में विकसित हुआ। इस शिष्य को धनी देशों के प्रतिष्ठान व वस्तुत: उनके वर्चस्व वाले संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा पर्याप्त रूप से आकार दिया गया तथा इसे विकसित किया गया जिनके लिए भारत सहित विश्व के अनेक हिस्सों से उन स्वतंत्र अकादमियों द्वारा उचित योगदान प्राप्त हुआ जिसके धनी देशों के आदर्शवादी, सांस्कृतिक व प्रौद्योगिकीय उपकरण से थोड़ा औपचारिक सम्बन्ध थे। यह ऐसा अभिगम है जो उनको स्थायित्व प्रदान करता है जो संसाधनों अथवा संस्थाओं के ऊपर अपने वर्चस्व के कारण आय में वृद्धि की प्रक्रिया पर नियंत्रण रखते हैं व जनित्र आय के एक बेहतर हिस्से को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। इस प्रकार विद्यमान सत्ता केन्द्र तथा अर्थव्यवस्था के नियंत्रक आय में वृद्धि को विकास के सार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परिणामस्वरूप, विकास पर प्रत्यक्षत्त: तकनीकी आर्थिक परिप्रेक्ष्य में प्रमात्रित पहलुओं व हद आर्थिक परिवर्तनों जैसे बचत, निवेश, सकल घरेलू उत्पाद, बाहरी संतुलन, सामान्य मूल्य स्तर, संघटकों की गतिशीलता आदि का विकास से जुड़े अकादमिक वार्त्तालाप, व्यावहारिक नीति निणर्यन तथा अन्तरराष्ट्रीय विकास क्रियाकलाप व सहयोग पर वर्चस्व बना रहा।

प्राकृतिक तौर पर, यह अभ्यास मुख्यधारा वाले नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की एक प्रबल छाप पेश करता है जिसके स्पष्टकीरण की आवश्यकता नहीं है, यह न्यायनिर्णयन, बढ़ती हुई शक्ति को स्थायित्व प्रदान करने व विद्यमान युक्तिसंगत वास्तविकता से अधिक सम्बद्ध हैं अब तक सीमांतक तथा बहिष्कृत लोगों की भलाई के लिए यह अपना रूप बदलता रहता है। इस प्रकार यह राष्ट्रीय आय की वृद्धि से जुड़ा हुआ है व पहले धनी देशों द्वारा अपनाए गए प्रतिदर्शों को अपना रहा है। यह आधारभूत रूप से धनी, पहले उद्योगीकृत देशों में आधारित बड़े निगमों के नियंत्रणाधीन पूँजी संचयन की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है। उद्योगीकरण, प्रौद्योगिकीय नवीनताओं तथा पूँजी संचयन की प्रकियाओं ने धनी देशों (उत्तर) से एक लघु अल्पसंख्यक समुदाय की शक्ति, समद्धि व सार्वजनिक वर्चस्व में योगदान दिया जिसमें गरीबों के उत्कृष्ट शासकीय अथवा प्रभावशाली वर्ग गैर औद्योगिकीकृत (आधुनिकीकरण से जुड़े हुए मुद्दे पर) देशों द्वारा कुछ छोटी भूमिका (भूमंडलीय संदर्भ में) निभाई गई। इन प्रक्रियाओं के परिणाम प्रति व्यक्ति आय (राष्ट्रीय आय का औसत) से प्रकट हुए जिनका विकास व कल्याण के लिए ऐसे आवश्यक स्वीकारात्मक रिश्ते से कुछ लेना-देना नहीं है जो प्रत्यक्षत: पूँजी संचयन, तकनीकी प्रगति तथा बढ़ती हुई उत्पादन प्रक्रियाओं से नहीं जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार, सकल घरेलू उत्पाद अपने विभिन्न स्वरूपों में मात्र एक अत्यधिक सामान्य प्रमात्रित सूचक नहीं है परन्तु यह अत्यधिक अपूर्ण, अयथार्थ, अधूरा, दोषपूर्ण व भ्रांममक सूचक भी है। विविध आयामी असमानताओं की ऐतिहासिक वैधता के होते हुए यह मूल रूप से विशाल अन्तरराष्ट्रीय पूँजी वाले धनी उद्योगीकृत देशों (जानबूझकर अथवा अनजाने में विकसित व प्रगतिशील देशों के रूप में वर्णित और इस प्रयोग के आधार पर इस शब्द को कईयों द्वारा विषम मानसिक स्थिति के तहत अपनाया गया है) के हितों का मात्र दिखावा करता है। यह पूँजी संचयन, औद्योगीकरण की उन प्रक्रियाओं के कारण है जो ऐसे सामाजिक रिश्तों, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों, जीवन शैली, प्रौद्योगिकी आधारित सांस्कृतिक उत्पादों तथा मुख्यत: उनसे व्युत्पन्न व जुड़े हुए प्रतीकों के परिणामस्वरूप हैं जो पुन: उन लोगों के शक्ति व हितवर्द्धक हैं जो पूँजी संचयन तथा उद्योगीकरण की उन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। इन प्रक्रियाओं में उन देशों की संख्या से काफी बड़ी संख्या में ऐसे देश शामिल नहीं होते तथा उन्हें हासिए पर कर दिया जाता है जिन्हें शामिल किया जाता है और जो शक्ति-सम्पन्न हैं और सौदेबाजी के समय इस प्रकार बहिष्कृत देश अल्पसंख्यक देशों के अधीनस्थ हो जाते हैं। आधुनिक उद्योगीकरण का भारतीय अनुभाव उपनिवेश काल से पहले व स्वतंत्रता के बाद की अवधि दोनों में स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि एकल घरेलू उत्पाद तथा सम्बल दोनों में उद्योग का अंश युगों पुरानी कृषि के कारण नहीं अपितु हाल ही में तेजी से विस्तार कर रहे सेवा क्षेत्र के बावजूद भी बहुत कम बना हुआ है। वास्तव में, संगठित औद्योगिक क्षेत्र में जिसमें भारत का श्रमबल 40 करोड़ से अधिक है, 2001 में बमुश्किल 74.3 लाख या जो सार्वजनिक खेत्र व निजी क्षेत्र दोनों में कुल श्रमबल के 2 प्रतिशत से कम है।

इस प्रकार पता चलता है कि ताकतवर बल विकास तथा आर्थिक वृद्धि (अर्थात् संकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि)जो आर्थिक विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य और परिभाषा है, को सूचक के रूप में राष्ट्रीय आय के स्थानीकरण के समर्थन में क्यों अपना विस्तार करते हैं। इसलिए नहीं कि स्पष्टत: तथा पूर्णत: अनावरित कमजोरियाँ, अक्षमताएँ व विकृत विश्व की तस्वीर आर्थिक विकास के साथ केवल पर्यायवाची के तौर पर वास्तविक आर्थिक वृद्धि से नहीं जुड़ी हुई अपितु इसके कारण विकास को स्वयं अनेक विकास प्रेमियों द्वारा मान्यता भी नहीं दी गई। परन्तु संशोधन के तौर कर, उन्होंने सकल घरेलू उत्पाद/सकल राष्ट्रीय उत्पाद के ब्रैंड बैगन में कुछ अतिरिक्त सूचक जोड़े हैं वृद्धि सूचक का अर्थ सीमित किया है यहाँ तक अनेक वैकल्पिक प्रमात्रात्मक सूचकों (जैसे जीवन की गुणवत्ता मानव विकास सूचकांक, मूलभूत व न्यूनतम आवश्यकताएँ, विकास के सामाजिक सूचक, न्यायापूर्ण वृद्धि, व्यापक विकास फेमवर्क आदि) को विकसित भी करते हैं, किन्तु विभिन्न प्रत्यक्ष और घुमावदार तरीकों से सकल घरेलू उत्पाद तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद आधारित सूचकों व सिद्धांतों से चिपके रहते हैं और उनकी विशिष्टता बनाए रखते हैं। यदि सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि की केन्द्रीयता समाप्त कर दी जाती तथा वैकल्पिक परिभाषाओं, उत्पादों सूचकों आदि जो इससे सम्बन्धित हैं तथा विद्यमान में अलाभकृत, विभेदित व अभावग्रसत लोगों की परिस्थितियों, हितों, उमंगों तथा प्रतिष्ठानों को दर्शाते हैं, से विस्थापित किया जाता तो उद्योगीकृत व निर्धन दोनों प्रकार के देशों के सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले लोग अपनी सत्ता अथवा प्रभुत्व को खो चुके होते। इस प्रकार की आत्महत्या की युक्तिसंगत उम्मीद किसी से भी नहीं की जा सकती किसी अन्य सटटेबाज को अपने हितों व मूल्यों के लिए स्वयमेव जोड़-तोड़ करना पड़ता है तथा उन तरीकों से विकास को परिभाषित करना पड़ता है जिनसे जनता वास्तव में प्रभावित होती है। केवल ऐसी स्थिति में ही जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा विकास होगा।

● सार्वभौमिक सामाजिक वस्तुस्थिति: गलत विकास की अनिवार्यताएँ

आधी शताब्दी से अधिक तक अनेक उपाय तथा कठोर राष्ट्रीय व भूमंडलीय प्रयासों (वास्तव में, वंशानुगत, अधिकांशत उपनिवेशी स्थिरता अथवा पश्चगतिक पैतक सम्पत्ति के संदर्भ में) के द्वारा एक परन्तु ही दिशा में, सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के स्वयमेव बांधित सजग अनुसरण का प्रभाव देखने के लिए सबसे पहले हमें सकल घरेलू उत्पाद से परन्तु स्थिति में विश्व का विशेष रूप से अधिक निर्धन हिस्सों मे

सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के कुद चुनिन्दा पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि समय (अविनिर्दिष्ट) गुजरने के साथ-साथ गरीबों को लाभ दिलाने, निगमित करने व धीरे-धीरे शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए अधोपतन प्रक्रियाओं की परिकल्पना के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद मे वृद्धि प्रत्याशित थी, सामानातय: लोगो के जीवन स्तर में भी शनै: शनै: सुधार की उम्मीद थी। पिछड़े हुए तथा प्रगतिशील सम्बन्धों के माध्यम से आच्छादित प्रभावों के मौलिक श्रम व पुण बाजार प्रक्रियाओं के द्वारा यह माना गया था कि अधोपतन प्रक्रिया के प्रचालन से देशों तथा महाद्वीपों में गरीबों पर दुराचार व दृष्टिकोण इस कल्पना पर आधारित है कि वृद्धि व उसके फैलाव के परिणामस्वरूप ग्रामीण तथा असंगठित क्षेत्र से जन समुदाय को धीरे-धीरे शामिल करने पर गरीबी असमानता दोनों में कमी आएगी। किन्तु एक प्रात्यक्षिक अर्थशास्त्री ने दर्शाया है ''विकास गरीबी व असमानता को कम कर सकता है, विकास गरीबी को कम कर सकता है तथा असमानता को बढ़ा सकता है, विकास गरीबी तथा असमानता दोनों में वृद्धि कर सकता है।'' यह सब कुछ उत्पादन के संघटक, उत्पादनों में संघटकों के अनुपात, सापेक्ष मूल्य, उत्पादन की अवस्थिति, राज्य की नीतियों आदि पर निर्भर करता है। यह बात रोजगार पैदा करने पर भी लागू होगी। इसीलिए मूलत: वृद्धि तथा बाजार आधारित अभिगम के कुछ वाकपटु समर्थकों द्वारा अनुबोध के रूप से यह निर्धारित किया गया था कि अनेक ऐसे लोग होंगे जो इस जमाने की वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय क्रांति द्वारा संभव जीवन स्तर का लाभ नहीं उठा सकते हैं तथा उस स्तर को प्राप्त करने की स्थिति में नहीं हो सकते (अन्य बातों के साथ यह तर्क दिया गया था कि तेजी से आगे बढ़ने की उनकी प्रवत्ति के कारण ऐसा संभव हो सकता है व बड़ी संख्या में गैर-बनावटी, अदूरदर्शी, गुप्त/अथवा सांसारिक दृष्टिकोण और मूल्यों में वृद्धि की जा सकती है व उन्हें उत्प्रेरित किया जा सकता है। उन्होंने बहुत से तैयार किए गए कार्यक्रमों तथा नीतियों के बारे में सोचा अर्थात राज्य प्रवर्त्तित क्रियाकलाप, आय, धन सामाजिक प्रतिष्ठा विशेष रूप से सामाजिक सेवाएँ मुहैया कराना जिसमें उन लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा के कुछ उपाय भी हैं जो या तो बाजार व्यवस्था के किनारे पर रहते हैं तथा बाजार से बाहर रहने के लिए मजबूर कर दिए जाते हैं। वास्तव में, 20वीं शताब्दी के अन्तिम पंचास वर्ष के इतिहास से विशेष रूप से यह खोज करने के बाद कि 1950 और 1960 के दशकों के दौरान विकास के स्वर्णिम युग में अत्यधिक भारी संख्या में लोग निरपेक्ष गरीबी अव-मानवीय परिस्थितियों में रहते थे, राज्य निर्देशित गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों के विशाल पैमाने पर प्रायासो के प्रमाण मिलते हैं। यह सुविख्यात मैकनामरा महबूब उल हक थीसिस की उत्पत्ति है जिससे कई अन्य उत्साही पष्ठांककों तथा अनुयायियों का पता चला। प्रोत्साहन की प्रक्रिया के अनुसरण व अनेक कार्यकुशलताओं नीति अन्तराक्षेण प्रत्यक्ष निवेश आदि के द्वारा विकास में तेजी लाकर अधोपन तथा उत्कर्षण प्रक्रियाओं से निरपेक्ष तौर पर उत्पादन हुआ व उपनिवेशी अवधि के परिणामों की तुलना में समुचित प्रभावकारी परिणाम प्राप्त हुए। किन्तु अब कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि विकास होने से किसको कितनी लागत आई व कितना लाभ मिला? इसके अतिरिक्त लम्बे उपनिवेशी काल के दौरान देनी गई वास्तविक स्थिरता की तुलना में इन अर्थव्यवस्था के सकल घरेलू उत्पाद में काफी अधिक वृद्धि होने के बाद गरीबों, अभावग्रस्तों व विभेदित लोगों की निरपेक्ष संख्या के बारे में भी प्रश्न पूछा जाता है। परन्तु परिवर्तन के तथ्य जो सार्वभौमिक तौर पर शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में स्पष्टत: संख्या में वृद्धि के लिए बिगड़ती हुई सामाजिक, भौतिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विद्यमान परिस्थितियों के साथ-साथ आय में बढ़ते हुए विघटन को भी प्रकट करते हैं। पूर्व एशियाई अनुभव से जुड़ी हुई नारेबाजी को छोड़कर कोई भी गंभीरतापूर्वक गरीबी, बेरोजगारी, असमानताओं, पारिस्थितिक असंतुलनों व जनसामान्य के शक्तिहीनता (और गरीब देशों की सीमारेखा) को हटाने के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण अभिलाभ का दावा नहीं कर सकता है।

अनुभूतिक्षम सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा कई अध्ययन अथवा अनेक सरकारी दस्तावेज विशेषत: योजना आयोग के दस्तावेज इस तथ्य को मानते हैं कि पूर्ववर्ती विश्लेषण भारत के लिए पूर्णरूपेण सही है। दसवीं पंचवर्षीय योजना में स्पष्टत: कहा गया है, ''विकास के अनेक पहलू हैं जहाँ प्रगति स्पष्ट तौर पर निराशाजनक रही है। 1990 के दशक में विकास से अपेक्षा के मुकाबले कम रोजगार उपलब्ध हुए। बाल तक दर कई वर्षों

तक प्रति 1000 लगभग 70 बच्चों पर स्थिर रही है। ग्रामीण परिवारों के 60 प्रतिशत तथा शहरी परिवारों के 20 प्रतिशत घरों में विद्युत व्यवस्था नहीं है। मात्र 60 प्रतिशत शहरी परिवारों में उनके घरों में पीने का पानी उपलब्ध है परन्तु उनमें से काफी कुछ के शौचालय घर से बाहर हैं। इस सम्बन्ध में ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति काफी बदतर है। भूमि व जंगल के अध पतन तथा भूमि जल के अधिशोषण से ग्रामीण परिवारों की स्थायित्वता अथवा खाद्य उत्पादन को गंभीर खतरा पैदा हो रहा है शहरों में प्रदूषण वृद्धि पर है।''। अधिकांश भारतीयों के लिए बिगड़ते हुए सामाजिक अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले विश्वस्त स्रोतों का कोई भी हवाला दे सकता है। सरकारी तौर परिभाषित गरीबी रेखा किन्तु प्रतिदिन न्यूनतम अनिवार्य कैलारी प्राप्त करने में अक्षम लोग, से नीचे रहने वाले 6 करोड़ व्यक्तियों के संरक्षित आँकड़े 1951 में भारत की जनसंख्या से मात्र 10 करोड़ कम है। जब प्रतिव्यक्ति भोजन की उपलब्धता आज के मुकाबले कहीं अधिक थी। 4.5 करोड़ व्यक्ति रोजगार के अवसर तलाश कर रहे व्यक्तियों के रूप में पंजीकृत हैं जबकि बेरोजगारी के सरकारी आँकड़े श्रमबल का 8 प्रतिशत हैं।

समान परिस्थितियाँ अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के अधिकांश हिस्से में है जहाँ विश्व की अधिकतर जनसंख्या रहती है व यह भी याद रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक तथाकथित प्रथम विश्व देश के बीच में एक में एक महत्वपूर्ण विश्व है। आज भी गरीब देशों में जीवन की प्रत्याशा धनी देशों के मुकाबले 10 वर्ष कम है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि धनी देशों की तुलना में गरीबों देशों में प्रतिवर्ष बचपन में जीवित बच्चों में से मरने वालों की संख्या प्रति 1000 बच्चों में 13 गुना अधिक है। (ये सभी तथ्य विश्व विकास प्रतिवेदनों में से हैं।)। निर्धन देश अत्यधिक असमान व विकृत रूप से आबंटित स्वास्थ्य सेवाओं पर जीवनयापन करते हैं जो अधिकतर विगत उपनिवेशी शक्तिधारकों में से काफी कम धनी लोगों के लिए कई गुना एकल घरेलू उत्पाद के ठीक दुगने 9.7 प्रतिशत के मुकाबले उनके अपेक्षाकृत कम सकल घरेलू उत्पाद का नगण्य 4.5 प्रतिशत हैं। गरीब देशों में व्यापक पैमाने पर प्रतीकात्मक, अनुकरणमलक व गैर कार्यात्मक शिक्षा, शिक्षा के निम्नस्तरों तथा निम्न अथवा अनुप्रयुक्त निपुणता में दिखाई देती है साथ ही साथ परम्परागत निपुणता में जंग लग जाती है और वह गायब हो जाती है। विशेष आहवान के तहत प्राप्त किए गए साक्षरता स्तर कितने बनावटी है यह इस तथ्य से ही पता चलता है कि अधिकांश लोग जिन्हें साक्षर घोषित किया जाता है, बहुत कम समय में पुन: निरक्षर हो जाते हैं। आय तथा अन्य ''सामाजिक'' सूचकांकों की तुलना के आधार पर भी विश्व विकास प्रतिवेदन (2001) में कहा गया है, ''भले ही हम सार्वभौमिक गरीबी को हटाने का आधा लक्ष्य प्राप्त कर लेते हों, अत्यधिक गरीबी मे जीवन बसर करने वालों की संख्या मात्र एक तिहाई होगी। चीन तथा जापान में अधिकतम निवेश होगा, किन्तु उप-सहारा अफ्रीका में यह संख्या बढ़ेगी। यूरोप व मध्य एशिया जहाँ संक्रामक अवधि में अत्यधिक गरीबों की संख्या में वृद्धि हुई थी, 1990 वाले गरीबी के स्तर को पुन: प्राप्त कर लेंगे। 2015 में सर्वाधिक आशावादी परिकल्पना के बाद भी 2.3 अरब लोगों के प्रतिदिन 2 अमेरिकी डालर तथा इससे कम पर जीविका चलाने की संभावना है जो अनेक मध्य आय वाले देशों में गरीबी की द्योतक है।'' स्पष्टत: विद्यमान वास्तविकता व संभाव्य भविष्य दोनों से प्रचलित 'विकास' तथा उसके अधिक की यौक्तिकता के बारे में गंभीर भ्रामक स्थितियाँ जन्म लेंगी। यह आंशिक, सीमित, महँगे व उत्कृष्ट अभिलाभों की प्राप्ति का अवमूल्यांकन नहीं है। मुद्दा यह है कि बेहतर विकल्पों की खोज की जानी चाहिए तथा उस पर कार्रवाई जारी रखनी चाहिए जिससे अधिकांश मानवता के हितों के सादृश्य गलत प्रस्तुतीकरण अर्थात् गलत विकास से बचा जा सके।

● विकास : राजनीतिक अर्थव्यवस्था की कार्यसूची

इस प्रकार उन वृद्धि एवं गरीबी निवारण नीतियों की अक्षमता के बारे में स्पष्ट मान्यता है जो वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय क्रान्ति (STR) द्वारा मुक्त सक्षमता, संसाधन (भौतिक, वित्तीय, तकनीकी, मानवीय, संगठनात्मक) उपलब्धता व विचार और आदर्शवादिता के लगभग सभी प्रमुख विद्यालयों द्वारा प्रत्यक्षत, समर्थित मूलभूत

मानवीय मूल्य-निर्माण को प्राप्त करने के लिए बनाई जाती है। विकास सिद्धांतों के सामने अब मूलभूत प्रश्न यह है कि विभिन्न द्राक्षा संचयनों की औद्योगिक क्रांति व आधी शताब्दी से अधिक समय के लिए उच्चस्तरीय गतिशील विकास की दो शताब्दियों से अधिक समय के बावजूद उचित रूप से सीमित स्वीकारात्मक और परिव्याप्त विकास विरोधी परिणाम प्राप्त हुए हैं। तथापि, सीमित स्वीकारात्मक अभिलाभ कुछ चुनिन्दा लोगों तक सीमित हैं। इसे भी जीवन के नैतिक सामाजिक, राजनीतिक, आस्तिक, अनास्तिक तथा सामुदायिक पहलुओ के संदर्भ में 'हिताधिकारियों' के लिए भी अपरिकलनीय आर्थिक व गैर आर्थिक लागत पर प्राप्त किया गया है। फिर भी, व्यापक, बहुमुखी अभाव, अपमान तथा अमानवीकरण इस विशाल जन समुदाय का भाग्य बन चुके हैं जो आधुनिकता व वृद्धि उद्योगीकरण की मुसीबतों को वहन करने के लिए बनाए गए थे। इस प्रकार, संतुलन के तौर पर विगत पाँच शताब्दियों की सार्वभौमिक वृद्धि और उद्योगीकरण को गलत अथवा विकृत विकास के रूप में व इसकी अनिवार्य तार्किक, व्यापक मानवीय, शक्तिमूलक, सतत तथा न्याय तथा स्वतंत्रता पर आधारित परिभाषा से विकास, विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था (PED) अथवा विकास अध्ययनों के लिए चिन्तन का विषय है। विकास की समस्या की उपरोक्त पहचान से यह स्पष्ट है कि PED की सोच परम्परागत और मुख्य प्रवाह के विकास सिद्धांतों से भिन्न होगी। निश्चित तौर पर, मुख्य प्रवाह के सिद्धांतों के कई घटक व अन्तर्विचार PED के लिए किन्तु अपनी सृंजनात्मकता, चुनिन्दा अनुकूलन व पुनर्व्याख्या के माध्यम से काफी सहायक सिद्ध होंगे। सैद्धांतिक असमानताओं तथा वैकासिक युगान्तरण से व्युत्पन्न विकास नीतियों की विफलता के परिणामस्वरूप कई संशोधन, पुनर्व्याख्याओं व विकल्पों का प्रस्ताव किया गया है। रोजगार, मूलभूत आवश्यकताएँ, विकास के साथ पुनर्वितरण, क्षमता अभिगम आदि सकल घरेलू उत्पाद अभिगम की स्थानापन्न और संशोधन के रूप में उभरकर सामने आए। परन्तु इनमें से एक भी अभिगम ने विकास विवाद की मूलभूत समस्याओं की पहचान नहीं की है।

सामान्यत: विकास सिद्धांत उनको सम्बोधित हैं जो विकास का संगठन करने/उसकी गति बढ़ाने में हस्तक्षेप कर सकते हैं तथा जिन्हें हस्तक्षेप करना चाहिए। इसका तात्पर्य है राष्ट्रीय व उपराष्ट्रीय सरकारों, बाजार इकाइयों, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय औपचारिक रूप से संगठित समूहों आमतौर पर जिन्हें गैर सरकारी संगठनों (NGOs) के नाम से जाना जाता है किन्तु बेहतर स्थिति में उन्हें सिविल सोसाइटी संस्थाओं के रूप में मानते हैं, से प्रतिक्रिया व विकास सिद्धांतों को प्रयोग में लाने तथा सड़क बनाने की उम्मीद की गई थी। कुल मिलाकर, राज्य तथा बाजार संस्थाएँ सिद्धांत, विवाद व नीति परामर्श और विकास सम्बन्धी हस्तक्षेप का मुख्य केन्द्र रही हैं। परन्तु राज्य सकेन्द्रता की कई सीमाएँ हैं (जैसे नकारना, तिरस्कार करना, परतंत्रता को प्रोत्साहन देने वाले व्यष्टि की पहल को प्रतिबंधित करना अत्यधिक केन्द्रीकरण व संरक्षण को बढ़ावा देना, नौकरशाही को नजरन्दाज करना, राष्ट्र-राज्य को विश्लेषण की इकाई के रूप में लेना, राज्य के स्वरूप तथा नीतियों आदि को अनदेखा करना आदि)। गरीब व अभावग्रस्त लोग राज्य में एक मुक्तिदाता ऐसी हस्ती को देखना चाहते हैं जिसमें सामान्यत लोग कम से कम संभवतया अपनी आवाज अथवा दक्षता, भले ही कुछ अन्तराल पर हो, की आशा करते हैं। राज्य और बाजार दोनों के साथ मोहभंग से असैनिक समाज की संस्थाओं का ध्यान आकर्षित हुआ। इनमें, प्राय: गैर सरकारी संगठन (NGOs) हैं जिन्हें गलती से असैनिक समाज का पर्यायवाची मान लिया गया। PED अपेक्षा करती है कि राज्य व बाजार के अतिरिक्त इसे असैनिक समाज की सभी संस्थाओं को संशोधित करना चाहिए। तथा केवल अन्योय रूप से राज्य अथवा बाजार अथवा NGOs पर केन्द्रित नहीं होना चाए। PED की संचयवाद अथवा व्यष्टियों की अवहेलना के साथ पहचान करना एक भ्रान्ति है। किन्तु हॉ, PED सैद्धान्तिक व्यष्टियचों को अमान्य करती है जो वास्तविक विधिक व्यक्तियों के साथ स्वायत्त प्रचालन हस्तियों के रूप में व्यवहार करती है।

PED की हितसाधक समूह व्याप्ति जो अपनी बहुविधि असहमतियों के साथ समाजों का अध्ययन करती है बिल्कुल विविध तथा व्याप्त है। क्योंकि विकास की प्रक्रियाएँ पूर्णतावादी हैं। PED की विषयवस्तु को मुख्य संस्थानों, संरचनाओं, उनकी अन्तर्क्रियाशील प्रक्रियाओं के साथ सामाजिक व्यष्टियों के अभिवत्तीय तथा मूल्य

आदि खंड़ के सम्पूर्ण परिसर के साथ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में व्यापक रूप से सम्बद्ध होना पड़ेगा जिससे उनकी क्षमताओं व व्यक्तियों का पता चल सके। वास्तव में किसी दिए गए संदर्भ में, गौण अथवा अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए एक पूर्णतावादी सम्पूर्ण अभिगम की भी आवश्यकता पड़ती है। व मुख्य चर राशि के सापेक्ष में कार्य करना पड़ता है। इसे वैकल्पिक प्रतिदर्शो, प्रक्रियाओं तथा विकास पथों के ऐतिहासिक अनुभवों से इसकी रूपरेखा तैयार करनी पड़ती है जिससे विद्यमान परिस्थिति तथा विकास के चरण को समझाने, मूल चर राशियों को अलग करने, सुविधाजनक व बाधक घटकों के साथ अन्तक्रिया की उसकी स्थिति को समझने में सहायता मिल सके। पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि इसमें से कोई भी आवश्यक लक्ष्य तथा प्रायेजन को उस समय तक प्राप्त नहीं करेगा जब तब वह विकास प्रक्रियाओं में एक समेकित तरीके से प्रमुख खिलाड़ियों व उनके मूल्यों तथा हितों की पहचान करने में सक्षम नहीं हो। ये प्रक्रियाएँ ऐतिहासिक, संघटनात्मक हैं अथवा विभिन्न पहलुओं जैसे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा पारिस्थितिक को समेकित कर रही है और वास्तव में बाहर और राष्ट्रीय सीमाओं से प्रभावों के अधीनस्थ हैं। उनके नियामक नीति विषयक पहलू को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। संस्थाओं का फैलाव, सूक्ष्म से मध्य, विशाल से सार्वभौमिक स्तरों तक, ऐतिहासिक रूप से वंशानुक्रम में प्राप्त व नई-नई सृजित संस्थाओं तक था जो अपनी सम्पूर्ण विविधता तथा सामान्यता के साथ, विकास के सिद्धान्तवादियों, विश्लेषकों व प्रेक्टिसनरों के सामने कठिन चुनौती के लिए जरा-सा भी अंशदान नहीं करते हैं। कई स्रोतों और कई देशों के विगत कई शताब्दियों के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हम विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के कुछ सिद्धांतों पर एक समीक्षा प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं।

● राजनीतिक अर्थव्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण पहलू : विकास के सिद्धांत

विकास की मुख्य धारा के आर्थक सिद्धांतों की तुलना में, PED प्रतिकूल स्थिति की उपपत्ति, स्वर शैली तथा शाश्वतीकरण के प्रति कठोर, ऐतिहासिक व अत्यधिक गहन दृष्टिकोण अपनाती है किन्त कार्यों की अपरिहार्य स्थिति में अधिकांश विश्व विशेष रूप से एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों के नागरिक व अमीर देशों के गरीब लोग इसका विविध रूपों में मुकाबला कर रहे हैं। वस्तुत: एक स्तर पर, कुछ देश स्वयं को ऐसी अपरिहार्य स्थितियों में पा रहे हैं, जबकि दूसरे स्तर पर व्यष्टियों तथा विभिन्न प्रकार से गठित समूह तथा वर्गों का ऐसा बहुमत है जिसे शक्तिहीन कर दिया गया है। विकास के सिद्धांतों को इस विविधता के बीच में सार्वजनिक पृष्ठभूमि तलाश करनी है ताकि ये सिद्धांत इसके संयोजन में प्रत्येक की विशिष्ट स्थिति में लागू हो सकें। इस प्रकार, विकास के सिद्धांत भाग्य, प्रास्थिति, लोगों की कार्य प्रणाली, संस्थाओं और धनी व निर्धन देशों में उनकी अंतरराष्ट्रीय अन्तर्क्रियाओं तथा आन्तरिक रिश्तों व देशों के भीतर गतिशीलता में मूल्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। विशेष रूप से उत्पादन के विभिन्न घटकों के बीच अपर्याप्तता तथा समानुपात की कमी (मुख्यत: पुनरोत्पादेय भौतिक बल बनाम श्रमबल व उपलब्ध पूँजी में मूर्त्त रूप प्रौद्योगिकी की कम उत्पादकता वाला द्राक्षा संचयन) के शब्दों में विकास की कमी व अपर्याप्ता तथा विरूपण के ऐतिहासिक व सामान्य दृष्टिकोण से भिन्न स्थिति जो विद्यमान में तथाकथित विकसित देशों की पूर्व जैसी और पूर्ववर्ती स्थिति के रूप में मानी जाती है, PED उस समय प्रचलित संसाधनों, प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, मूल्यों व दृष्टिकोणों के गुणज के रूप में विभिन्न लोगों तथा देशों की सामाजिक-आर्थिक दशा का एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाती है। इस पहलू के अनुसार, विद्यमान में बहुत से गरीब देश विशेष रूप से चीन, भारत आदि उस समय प्रचलित मुकाबले पर थे परन्तु उत्तरी देश काफी पीछे थे। इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्यों, कैसे व कब अभिनय, स्थिति तथा प्रास्थिति का प्रतिक्रमण हुआ व एक शब्द में, सापेक्ष राष्ट्रीय शक्ति अस्तित्व में आई अपितु सकल घरेलू उत्पाद तथा जनसंख्या के विद्यमान स्तरों के पश्चमुखी वाग्विस्तार की अऐतिहासिक व अवास्तविक कवायद करते हैं तथा विभिन्न गरीब देशों बनाम विद्यमान धनी उद्योगीकृत देशों के विकास में व्यवधान के कारणों का पता लगाते हैं। एक सहवर्ती लक्षण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय मतभेदों व असमानताओं अथवा सापेक्ष शक्तिहीनता की तरह,

विशेष रूप से उन देशों में घरेलू तौर पर समान लक्षणों वाला पीड़ावर्धन हुआ जो अन्तरराष्ट्रीय तौर पर पिछड़ गए थे व फिसड्डी रह गए थे। यह घटक भी अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रम से जुड़ी हुई रीति से विधिक तथा ऐतिहासिक तौर पर स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। इस अधिगम व क्रियाविधि में भी विद्यमान धनी देशों के नजदीकी विगत की एक दर्पण जैसी प्रतिमा के रूप में कम विकसित (विकासशील अथवा कम विकसित) देशों की विकास स्थिति को परिभाषित करने के नास्तिकवादी और उत्तरी देशों के केन्द्रित मकडजाल से बचने के लिए निहितार्थ अन्तग्रस्त है। यह विकास व औद्योगिकीकरण का अनुकरणीय आकर्षण नमूना उन देशों में इतिहास, संस्कृति, स्वतंत्रता और आजादी (स्वायत्तता और स्वकेन्द्रीयता), प्राकृतिक भंडार, बदलते हुए, भू-राजनैतिक घटक व अनुकूलन की स्वतंत्र प्रक्रियाओं और प्रौद्योगिकियों के विकास से इंकार करता है जो तथाकथित आधुनिकता के रास्ते पर शुरू में आगे नहीं आ सके व दूसरों के वर्चस्वाधीन और पराधीन हो गए।

यूरोप में उद्योगीकरण पूर्व के ऐतिहासिक विश्लेषणों, भूमि सुधार सम्बन्धी परिवर्तनों, औद्योगिक क्रांति, पश्चिमी देशों का राजनीतिक व सैन्य वर्चस्व, विशेष रूप से वणिकवादी राज्यों जिन्होंने धन पूँजी के प्रारंभिक व पूर्व संचयन में एक बड़ी भूमिका निभाई थी, की सक्रिय विकासोन्मुख भूमिका के साथ-साथ उनकी सामुद्रिक क्षमताओं तथा शक्ति, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा धार्मिक रूपान्तरण, सामाजिक-आर्थिक सत्ता संतुलन को बदलने वाले राजनीतिक विप्लव आदि जो लगभग पाँच शताब्दियों की अवधि में बने रहे, 18 वीं और 19 वीं शताब्दियों के दौरान प्रौद्योगिकीय सफलता के लिए निर्णायक थे जिनसे आधुनिक आर्थक विकास व राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय तौर पर बढ़ती हुई असमानताओं के युग का आरंभ हुआ। भारत सहित अफ्रीकी, ऐशियाई व लैटिन अमेरिकी देशों का राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक वर्चस्व अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में सामान्यत: इन परिवर्तनों का दूसरा पक्ष नहीं था क्योंकि इन देशों के घरेलू हालात ने भी उनके आधुनिकीकरण में योगदान दिया। जिस तरीके से जापान ने आन्तरिक गतिशीलता के कारण वर्चस्व व प्रतिवाद के इस दुर्भाग्य से स्वयं को बचाया, उससे इस सुझाव का अवमूल्यांकन होता है कि सार्वभौमिक घटकों ने सक्रिय तौर पर घरेलू घटकों को साथ मिलकर सहायता काम किया। काफी बड़ी संख्या में देशों को गरीब तथा अधीनस्थ व बड़ी संख्या मेंउनके लोगों पर काबू पाते समय उन प्रक्रियाओं जिन्होंने कुछ देशों को (उनके आन्तरिक, व्यापक तौर पर गैर-कार्यात्मक मतभेद की ओर ध्यान दिए बिना) शक्ति सम्पन्न बना दिया, पर विचार करना एक बहुत ही जटिल तथा लम्बा विषय है। प्रत्येक देश की इस प्रकार की स्थिति के साथ-साथ अनुभवजन्य अध्ययन करने पड़ते हैं। मुख्य मुद्दा यह है कि यह विविध घटकों का संयोजन था जिसने अन्तरसम्बन्धित तरीके से राष्ट्रों के भीतर राष्ट्रों व लोगों के बीच एक बड़ी दरार पैदा कर दी जिससे कुछ देशों को समृद्धि तथा बहुतों को गरीबी हाथ लगी। इन प्रक्रियाओं के दीर्घकालिक प्रभाव तथा गरीब देशों के लिए उनके अस्वास्थकर परिणाम गरीब देशों में उनके सामाजिक अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं के बीच स्वीकारात्मक सहजीवी सम्बन्धों के दम घुटने के रूप में देखे जा सकते हैं जिनके कारण उनकी भौतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक-आर्थिक दशा बिगड़ती गई। वे निर्धन व शक्तिहीन जनता वाले अधोनती देश बन गए।

उदारण के लिए, राज्य आर्थिक विकास, औद्योगिक विस्तार, उद्यमियों, अनुसंधानकर्त्ताओं, व्यापारियों, आधुनिक ढंग अपनाने वाले कलाकारों आदि को समर्थक सेवाएं तथा सुविधाएँ मुँध्या कराने के लिए आन्तरिक अथवा बाह्य दोनों परिस्थितियों का सृजन करके उद्योगीकरण की प्रक्रिया में एक शक्तिशाली उपस्कर था जिससे घरेलू व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ आर्थिक क्रियाकलापों को सुचारू रूप से चलाने और उनके विस्तार करने, प्रबंधन संकटों, विकृतियों व विरोधाभासों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। श्रमबल सहित निवेशों की सस्ती आपूर्ति सुनिश्चित करने से लेकर उत्पाद की लाभकारी बिक्री तक प्रौद्योगिकी संरक्षण, लाभकारी निवेश अवसरों तक पहुँच सुनिश्चित करना, उनके विस्तार के लिए बाजार उपलब्ध कराना, विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाव, सस्ती आपूर्ति के लिए पहुँच सुनिश्चित करने के लिए बाहुबल का प्रयोग, राज्य की हितर्क मौजूदगी एक समृद्ध उद्योगीकृत अर्थविज्ञान में प्रत्येक चरण पर निर्णायक थी। स्पष्टत: बाजार बलों का भी प्रयोग किया गया किन्तु उनकी कमी को पूरा किया गया व एक सतक्र तथा मैत्रीपूर्ण सरकार द्वारा उनकी शक्तियों का

नकदीकरण किया गया। विभिन्न कारणों से, कई मुख्य धाराएँ, विकास अर्थविद् भी राज्य द्वारा निभाई गई निर्णायक भूमिका को मान्यता प्रदान करते हैं। भारत में जहाँ दर्जनों संघीय शासक बढ़ती हुई सार्वभौमिक चुनौतियों को समझ नहीं पा रहे थे, वहाँ आधुनिकीकरण की नई प्रक्रियाओं के प्रभाव के अधीन आधुनिकीकरण की नई लहर महाद्वीपों के आर-पार हिलोरे ले रही थी व यह महान ऐतिहासिक अवसर चूक गए थे।

कई देशों के अनुभवों के तुलनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषण से पता चलेगा कि राज्य विपणन सापेक्ष भूमिकाई विरोधाभास किसी एक को पूरी तरह स्वीकार करने व दूसरे को नकार देने की आंतरिक स्थिति के बारे में नहीं है। प्रश्न राष्ट्रों, समुदायों, व्यष्टियों/फर्मों आदि बनाम विकास प्रक्रिया में अन्य लोगों की परिस्थितियों को सुधारने/में उनकी सापेक्ष भूमिका के बारे में है। किन्तु अभिरूचियों, समूह आधारित वैचारिक तथा राजनीतिक घटकों ने अत्यंत विरोधाभासी व यहाँ तक पारस्परिक दुर्दमनीय स्थितियों को जन्म दिया जो वास्तव में, न तो फल देने वाली हैं तथा न ही ज्ञानवर्द्धक हैं।

ऐसे अभिगमों के परिणाम कई रूपों में देखे गए। कुछ सिद्धांतों ने साम्राज्यवाद को भूमंडलीय विभाजन व अव्यवस्थित सम्बन्धों और अत्यधिक मानवीय, सामाजिक, आर्थिक आत्मिक लागतों जो इसने अधिरोपित की, के लिए एकमात्र दोषी ठहराया। उपनिवेशवाद के समाप्त होने के बाद अन्य लोगों ने भूतपूर्व प्रमुख शासकीय, अवशोषणात्मक शक्तियों को ''विकासोन्मुख सहभागी' के रूप में माना जो अपनी पूँजी, प्रौद्योगिकी, प्रबन्धन-संगठनात्मक दक्षता को आपस में बाँटने के इच्छुक थे क्योंकि गरीबी को प्रत्येक जगह समृद्धि जहाँ कहीं भी थी, के लिए खतरे के रूप में पाया गया। विभिन्न स्वरूपों में अन्तरराष्ट्रीय पूँजी आंदोलनों द्वारा समर्थित पूँजी संचयन, प्रौद्योगिकी हस्तानतरण, विस्तार सेवाएँ आदि जैसे सम्पूर्ण परिवर्तनशील मुद्दे विकास में योगदान के आवश्यक घटकों के रूप में माने गए थे। बचत, निवेश, औद्योगिक उपक्रम, निर्यात, मानव पूँजी गठन व निपुणता आदि को प्रोत्साहित करने के लिए कई कठोर तथा परिष्कृत प्रतिदर्श पेश किए गए। कृषक व औद्योगिक विकास को आसान बनाने के लिए न्यायसंगत भूमि स्वामित्व के सृजन के लिए कुछ भूमिका भी सौंपी गई थी। विभिन्न प्रकार के विकास नियेाजन प्रतिदर्श की गतिशीलता, समन्वयन और दीर्घकालिक संस्तर-स्थिति के अनुयोजन के पक्ष में प्रस्तुत किए गए। यह एक उत्कृष्ट उद्योगीकरण पथ था जो उधारीकृत उत्पाद-मिश्रण प्रौद्योगिकी, पूँजी (वित्त), उद्यम व प्रबंधन पर आधारित था। लोकक्षेत्र का प्रभुत्व, निजी क्षेत्र, पूँजी तथा तीन (विभिन्न मिश्रित अर्थ-व्यवस्था प्रतिदर्श) के विभिन्न संयोजन व संचयन जैसे कई विभिन्न स्वामित्व तथा प्रतिबंधन प्रतिदर्श विकास साहित्य के हिस्से बन गए।

उद्योगीकरण से असममिति रूप से जुड़े हुए पूँजीवादी, अनूकृत अथवा अधीनस्थों के इस प्रतिदर्श को औपचारिक/राष्ट्रीय संप्रभुता के अधीन पराधीन सम्बन्ध की निरन्तरता का नाम दिया गया। व्यवसाय तथा स्वैच्छिक उपनिवेशीकरण के बिना इसका आर्थिक साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के रूप में विरोध किया गया। इसके विरोधियों ने शनै: शनै: विकासोन्मुख/विकास की बजाए क्रांति व अलग होने का तर्क दिया।

उन्होंने बार-बार जोर दिया कि वहाँ अवपूँजीवाद उत्पाद बलों में जबर्दस्त परिवर्तन हो सकता है जिससे क्षेत्र तथा क्षेत्रकों की उत्पादकता से होने वाले व्यापक लाभ उन्मुक्त हो जाएंगे किन्तु एक विषम, अस्थिर प्रक्रिया से भारी व असमान लागत और पर्याप्त रूप से संकेन्द्रित लाभों का विभाजन हो जाएगा, इसके निजी स्वामित्व वाले निगमित सामाजिक सम्बन्ध अधिकाधिक विकेन्द्रित व संकेन्द्रित हो जाएँगे। परिणामस्वरूप, इसे अर्थव्यवस्था के नियंत्रण में व्यक्तियों, परिवारों तथा फर्मों का एक संकीर्ण राष्ट्रीय तथा सामाजिक आधार प्राप्त होता है। इससे अधिकाधिक विशाल संख्या में राष्ट्र, व्यक्ति व सामाजिक समूहों की हानि हुई तथा वे अभावग्रस्त हो गए क्योंकि निवेश (चाहे वह संतुलित अथवा अंसतुलित पैकेज में हो) क्रांति के माध्यम से बढ़ाये गए पुनरूत्पादन की प्रक्रिया ने संसाधन धारकों की माँगों को पूरा किया व शेष को छोड़ दिया। पूँजी, प्रौद्योगिकी, वित्त आदि के ऊपर नियंत्रण के संकीर्ण आधार से सांसकृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों का विस्तार होता है। गरीबों के ऊपर आरंभिक उद्योगीकृत अत्याधिक अमीर देशों व उनके सत्ताधारक निगमित निकायों का अधिकाधिक वर्चस्व होता है उनका अवधारण होता है। इस प्रकार के तर्क समाजवादी, केन्द्रीय रूप से

नियोजित अर्थव्यवस्था और अपने निजी कामगारों, कार्यरत गरीब लोगों तथा बुद्धिजीवी लोगों जिनमें कभी-कभी व्यापारी वर्ग भी शामिल होता है, की सहायता से पूँजीवादी विश्वव्यवस्था से पूरी तरह अलग होने का आधार बन गए। कई परिवर्तन अथवा अधूरी तस्वीर वाले पूँजीवादी उद्योगीकरण विद्यमान में शक्तिशाली व संसाधन धारक वर्गों से सहायता पर आधारित थे और उससे सहायता ले रहे थे।

यह तर्क दिया गया था कि इस दृष्टिकोण वाले इन पूर्व उपनिवेशों व वर्गों के संभाव्य अधिशेष उसी प्रकार सामने आया जिस प्रकार उन सिद्धांतों के मामले में हुआ जिनसे देश इसी प्रकार के वास्तविक गतिशील अधिशेष से ऊपर की स्थिति में पहुँच गए। इसी प्रकार, कमजोर गतिशील श्रमबल को भी संभाव्य अधिशेष के स्रोत के रूप में माना गया। इस प्रकार एक मामले में पूर्ववर्ती उपनिवेशी शक्तियों व उनके बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों की अनजबी पकड़ से अर्थव्यवस्था को मुक्त करने के लिए तर्क दिया गया था। स्पष्टत:, उससे अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के मुकाबले में देशी प्रतिद्वन्द्वियों को भूमिका में कमी आई। ये नीतियाँ संवृत अर्थव्यवस्था के लिए नहीं थीं अपितु इन्होंने निश्चित तौर पर अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के लिए एक भिन्न, अधिक समजावादी तथा व्यापक आधार वाली नई वस्तुकला के लिए तर्क पेश किया था जो नई अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) पर संयुक्त राष्ट्र के संकल्प में प्रसंगवंश प्रतिबिम्बित हुआ था। शीत युद्ध काल में सामजवादी ब्लॉक ने भी इस प्रकार के सिद्धांतों का समर्थन किया। किन्तु समाजवादी क्रांति का विकास-पथ (जो चर्चा का विषय था) के रूप में तर्क देने की बजाए उन्होंने अधिकांशत गैर पूँजीवादी विकास के एक संक्राम्य चरण के लिए तर्क दिया। अनुवर्ती स्थिति का अर्थ है विशाल व विकासोन्मुखी राज्य क्षेत्रक का सृजन, आधुनिक औद्योगिकीकरण, मौलिकता को उच्च प्राथमिकता, पूँजीगत व भारी उद्योग और बढ़ता हुआ आत्मविश्वास जो किसी के अन्तरराष्ट्रीय संव्यवहारों के लिए उसकी राष्ट्रीय भुगतान क्षमता का प्रतीक हैं।

वास्तव में महत्वपूर्ण तथा आमतौर पर अनदेखा किया गया मुद्दा है साद श्यमूलक संभावना व अपेक्षा प्रतिदर्श, उद्योगीकरण अथवा आधुनिक विकास पर नियंत्रण। सम्बन्ध-विच्छेद, चुनिन्दा सम्बन्ध-विच्छेद अथवा सम्मति के तौर पर सम्बन्धों को पुन: जोड़ने वाले विद्यालयों ने ठीक उस प्रकार के औद्योगिक व उत्पादन संरचना के लिए आवश्यकता तथा अपेक्षा को स्वीकार किया है जैसा कि बदले हुए स्वामित्व अथवा नियंत्रण, प्रबंधन शैली व परम्पराओं में परिणामी परिवर्तन, अन्त:क्षेत्रक विकास की एक भिन्न श्रृंखला नामत: भारी, मौलिक व पूँजीगत सामान वाले उद्योग और अन्तरराष्ट्रीय आन्तरिक सम्बन्धों के एक अधिक स्वयंकेन्द्रित प्रतिदर्श को छोड़कर अमीर देशों में प्रचलन में है। इस दृष्टिकोण से प्रमुखत निजी तथा निजी निगामित क्षेत्र से लोक (राज्य) स्वामित्व के बदलते हुए स्वामित्व के आधार पर सामाजिक रूप से स्वीकार्य व अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने के लिए बदले हुए प्रबंधन तंत्र पर भारी बोझ पड़ता है। स्पष्टत: उत्पाद-मिश्रण, प्रौद्योगिकीय अवसर, श्रमिक सम्बन्धों, प्रबन्धन शैली, सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उद्दीपनशीलता, पारिस्थितिकी स्थितियाँ आदि के परिप्रेक्ष्य में बदले हुए परिणामों की संभावना सीमित है विशेष रूप से जब उद्योगों का समान प्रतिदर्श दो विभिन्न स्वामित्वों व प्रबन्धन तंत्रों के तहत अनुयोजित होता है।

इस प्रकार रोजगार, कम आय वाले व्यक्तियों के लिए उपयुक्त सामान का उत्पादन, घटक आय में शेयर कामगारों की भूमिका तथा स्थान, क्षेत्रीय, प्रतिदर्श, पारिस्थितिकीय जाग्रति आदि ऐसे मुद्दे बन जाते हैं जो उनको स्वतंत्र व स्वायत्त प्रतिक्रिया की बजाए सहायक बना देते हैं अथवा प्रतिफल प्राप्त कराते हैं। इससे उन मुद्दों की प्राथमिकता कम हो जाती है जो व्यापक सामाजिक बनाम उनके वर्गीय हित वाले होते हैं जिनके पास पर्याप्त सामाजिक व आर्थिक शक्ति होती है। इस प्रकार, आवश्यक रूप से सकल घरेलू उत्पाद सूचकांक के परिप्रेक्ष्य में वर्गीय/क्षेत्रकीय/संकीर्ण 'विकास' में अन्यायपूर्ण तथा अनुप्रेक्षित बलिदान अन्तर्ग्रस्त होते हैं जिनके कारण अवश्यमेव अमीर तथा अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं। अनौपचारिक/असंगठित क्षेत्र चाहे वह उनके द्वारा उत्तरजीविता रणनीति के रूप में सामने आया हो जो विकास-केन्द्रित प्रक्रियाओं द्वारा छोड़ दिए गए थे व सीमांतक हो गए थे और/स्थिरता तथा निश्चितता अवधि की आदिकालीन गाथा के अवशेष के रूप में बना रहा, की प्रबलता, गुप्त संसाधनों के स्रोत व उन गरीबों में छुपी हुई क्षमताओं की अभिव्यक्ति है जो प्रबल

विकास प्रतिदर्शों में व्यापक रूप से पहचान नहीं बना सके। इसके प्रतिकूल, ये प्रतिदर्श तथा सिद्धांत आधुनिक उच्च उत्पादकता वाले क्षेत्रों द्वारा इनके आदि रूप के मंद गति से समावेशन के अभिग्रहण को उन्मुख हो रहे हैं। भारत के मामले से पता चला है कि यह मान्यता प्राप्त क्षेत्र नहीं है जो जनसंख्या के अधिभावी हिस्से को जो श्रमबल के 92 प्रतिशत से अधिक बनता है, जीविका दिलाने के लिए अर्थव्यवस्था का गतिशील घटक मुहैया करता है।

परन्तु चर्चा की जाती है कि विकास की कई 'संशोधित' धारणाएँ, प्रक्रियाएँ व अभिकर्त्ता अर्थव्यवस्था के विकास को उन घटकों का कम करने के कार्य से साथ-साथ अथवा बाद में जोड़ने की कोशिश करते हैं जो प्रस्तुत वास्तविकता को अस्वैच्छिक, संकीर्णत: संकेन्द्रित तथा सारी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण बनाते हैं। वे लगातार व्यापक मोहभंग (जब सकल घरेलू उत्पाद सूचकांक प्रभावी लाभ दर्शाते हों) करते रहते हैं। तथापि, इसे मान्यता देनी पड़ेगी कि विभिन्न 'विकास' सिद्धांतों द्वारा तथा विकसित विस्तार, सुधार, स्थानान्तरण की प्रक्रियाओं के तकनीकी आर्थिक पहलुओं के बारे में अन्तर्दृष्टि ने अपने सीमित मूल्य व वैधता को बनाए रखा है। किन्तु विकास की अपूर्ण कार्यसूची, उनके द्वारा उत्पन्न विकृतियाँ व अपरिहार्य मानवीय तथा सामाजिक खर्चे उन प्रयासों की आवश्यकता दर्शाते हैं जो ऐसी प्रक्रियाओं के माध्यम से व्यापक सामाजिक तथा परिप्रेक्ष्य, संघर्षो को मान्यता देने, व्यापारिक दावपेंच, पूर्वघटित प्रवृत्तियाँ, सर्वनिष्ठ तथ्य, पारस्परिकताएँ तथा प्रतीकात्मक जोड़ तोड़ों के अनुसार विकास की विषय-वस्तु तथा प्रमत्रा को बदला जा सके, जो अभिरूचि स्थान को सीमित/करके मानवीय व्यक्तित्व तथा क्षमताओं का दम घोटने की बजाए मिलनसार सामाजिक परिवेश में मानवीय क्षमताओं का विस्तार करती हैं और उनके फूलने-फलने में सहायक होती है। पूर्ववर्ती सुधारवादी वर्ग के विकास सिद्धांतों व तकनीकों के मध्य समग्र, क्षेत्रकीय एवं क्षेत्रीय विकास के विभिन्न विशाल आर्थिक प्रतिदर्श, अन्तर उद्योग सम्बन्धी प्रतिदर्श, संतुलित व असंतुलित विकास सिद्धांत विशाल धक्का सिद्धांत, मूलभूत आवश्यकता सिद्धांत, न्याय के साथ विकास सिद्धांत, स्वकेन्द्रित सिद्धांत आदि चर्चा के विषय बन सकते हैं। मुख्य मुद्दा है: वे नीति निर्णयन तथा कार्यान्वयन में सहायक बनते हैं किन्तु व्यापक अर्थ में, आधिक मौलिक सामाजिक बल व सामाजिक संरचना की अंग-प्रत्यांगों की एकता मुश्किल से ही इन सिद्धांतों तथा प्रतिदर्शों में प्राथमिकता प्राप्त करती है।

इस मुद्दे पर विकास की अन्य आंशिक, क्षेत्रक सिद्धांतों की शाखा द्वारा उठाए गए उन प्रश्नों को प्रस्तुत करना तर्क संगत है जिन पर प्रतिक्रया की गई हो। हमारा तात्पर्य विभिन्न सामाजिक व आर्थिक विकास के विभिन्न सिद्धांतों से है। PED मुश्किल से इस प्रकार के आंशिक विकृत, सीमित संदर्भ, पृथकीकृत सिद्धांतों को सुसंगत व उचित रूप से स्वीकार करेगी। परन्तु पुन: इन सिद्धांतों से मिलने वाला आवश्यक संदेश सामाजिक घटनाक्रम की आंगिक एकता पर जोर देना है। अधिक विशिष्ट रूप से उत्पादन, उत्पादकता, उत्पादन की लागत आदि को दक्षता से जुड़े हुए आर्थिक मुद्दों के रूप में रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, लैंगिक मुद्दे, बाल कल्याण आदि से सामाजिक रूप से भिन्न विचार करना आधिक्य अर्थवाद की एक बिल्कुल नई गाथा है। इसी प्रकार, राजनीतिक तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं की भूमिकाएँ विकास प्रशासन के सन्दूक में बन्द कर दी जाती हैं व जब इसका आधारिक स्तर पर सहभागिता, सापेक्ष तथा निरपेक्ष सामाजिक न्याय, शासन के स्वरूप व पद्धतियां और प्रतिविधियों की रूचि के प्रश्न को शामिल करने के लिए विस्तार किया जाता है तब उन्हें राजनीतिक विकास से सम्बन्धित प्रश्न के रूप में लिया जाता है। ये अन्य बातों के साथ-साथ विकास के साथ वृद्धि की अधिकता के रूप में पहचान के परिणाम हैं व सामाजिक व्यवस्था में अपने संरक्षकों तथा समर्थकों के साथ श्रमबल का अकादमी विभाजन अथवा अकादमी क्षेत्र में विशिष्टीकरण का प्रदर्शन करते हैं। PED ने विकास के प्रश्न पर एक एकीकृत समेकित सामाजिक परिप्रेक्षण विकसित करने का प्रयास किया है। विकास की प्रक्रिया व्यावहारिक पृष्ठपोषण के आधार पर परिमार्जन व PED से सम्बन्धित अकादमी अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप अभी अपने शैशवकाल में हैं। वैकल्पिक विकास, विकास के बाद, विकास विमुख व आधुनिकीकरण विरोधी विद्यालयों, सुनियोजित, व्यापक तौर पर विकसित सुसंगत विचारों, सिद्धांतों, धारणाओं

आदि के मुकाबले मुख्य प्रवाह के सिद्धांतों तथा आर्थिक विकास के प्रतिदर्शों से व्यापक मोहभंग का परिणाम हैं विकासोन्मुख विकास के इतिहास को जानने की प्रबल आवश्यकता को किसी भी स्थिति में अधिकल्पित नहीं कहा जा सकता।

विकास के प्रचलित अभिगमों के प्रतिकूल प्रभाव आवश्यकता पुनरावृत्ति को भी भलीभाँति ज्ञात हैं। आंशिक विशिष्ट अनुशासन (प्रमुखत: अर्थविज्ञान) आधारित अधिगमों के परिणामस्वरूप, विश्व के कई हिस्से अन्तिम शताब्दी के दौरान विशेषतया उसके अन्तिम दौर में सामाजिक व व्यष्टिगत जीवन में विकृत, निष्फल, अंशत, हिंसाग्रस्त, असंतुलित, अस्थायी, अन्याययुक्त, सामाजिक रूप से खर्चीले तथा पर्यावरण के तौर पर भयानक अथवा विनाशकारी परिवर्तनों के साक्षी थे, भारत में भी ऐसा अनुभव हुआ। इन सत्य, दूरगामी व त्वरित परिवर्तनों ने विशेष रूप से अल्पकालिक दृष्टिकोण से कुछ वर्गीय अभिरूचियों को भलीभाँति पूरा किया। किन्तु इन अस्थायी परिवर्तनों (प्राय: विकास के रूप में वर्णित) से अवमूल्यनकारी व ऋणात्मक वापसी अनदेखी नहीं रही।

अन्तरराष्ट्रीय संसाधन 'अंतरण' की भूमिका व अधिक स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय सीमाओं के पास पूँजीगत आन्दोलनों के साथ-साथ पूँजी संचयन के स्वायत्त तथा प्रेरित, दोनों व्यवहारो के संदर्भ में सकल घरेलू उत्पाद के रूपान्तरण का वास्तविक परिकलन तथा उसका परिणाम ग्राफ के रूप में उदाहरणस्वरूप दर्शाया जा सकता है।

● पूँजी संचयन : भूमिका और सीमाएँ

उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक वृद्धि की पहचान का प्रत्यक्ष प्रमाण पूँजी संचयन को निर्णायक विकास/औद्योगिकीकरण का सौंपा जाना था। कई लोग पूँजी स्टॉक की सापेक्ष अपर्याप्ता व पूँजी निर्माण के धीमी वृद्धि को कम आय, गरीबी तथा पिछड़ेपन का मुख्य कारण मानते हैं। इस प्रकार पूँजी संचयन अर्थात् बचत व निवेश की दर में वृद्धि करना तथा (सन्निहित प्रगतिशील प्रौद्योगिकी के साथ) विकास के मुख्य गतिशील घटक विकास नीति तथा नियोजन के पथ के रूप में माना गया था। आरंभ में आर्थर जैरे विकास अर्थविद् व विकास सिद्धांतों की स्थितियों ने स्पष्ट किया कि उच्च बचत तथा निवेश पद अर्थव्यवस्था को संक्रमण आय के विकास का आधार अवनिर्धारित करता है। कीनेश्यिाइ व पश्च कीनेशियाई दीर्घकालिक आर्थक सिद्धांत दोनों के आधार पर विभिन्न पूँली उपस्कर संचयन का बढ़ावा देने में त्रस्त हो गए। परन्तु अधिक पूँजी सामान्यत: उत्पादन की उच्च दर के लिए योगदान करती है, सैद्धान्तिक व वास्तविक दोनों अनुभवों से पता चलता है कि सम्बन्ध न तो निश्चित होता है न एक से एक का सम्बन्ध हमेशा स्वीकारात्मक तथा नियत होता है। तथापि इस प्रकार पूँजी आधारित संवर्धित आय के उत्पादन के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव हमेशा स्वीकारात्मक अथवा वांछित नहीं होते जैसा कि हमने आय से जुड़े हुए सूचकांकों की सीमाओं तथा अपर्याप्तता पर चर्चा करते समय देखा। पूँजीगत उत्पादन अनुपात व राष्ट्रों, उद्योगों, कालावधि, क्षेत्रकों आदि के पार परिवर्तनशीलता के बीच व्यापक अपसारिता यह विश्वास करने का कारण बताती है कि पूँजी निर्माण के विकास की धनात्मक दरें हमेशा आवश्यक रूप से संवर्धित उत्पादन प्रवाह से नहीं जुड़ी होती। कई विभिन्न प्रकार के पुनर्संगठन, पुनर्गठन, नीति हस्तक्षेप आदि से संभव है कि बिना किसी अतिरिक्त पूँजी निवेश के व्यष्टियों व समुदायों दोनों के लिए आय कल्याणकारी स्तरों में वृद्धि हो। पुनर्आबंटनीय तथा विस्तारवादी दोनों, इस प्रकार के कई हस्तक्षेप भौतिक व वित्तीय पूँजी निर्माण से मुक्त होते हैं। तथापि, काफी लम्बे समय से, सामान और सेवाओं के प्रवाह को बढ़ाने के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में पूँजी निर्माण की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है। कई अन्य प्रकार के घटक तथा परिस्थितियों पूँजी संचयन का प्रभाव अवधारित करने के क्रम में हस्तक्षेप करती हैं। X-दक्षता का सिद्धांत मूलत: ऐसे प्रभावों से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह ऐसा घटक है जिसे स्वयमेव निर्णायक नहीं माना जा सकता। पूँजी संचयन की संभावनाएँ, दर व निर्माण, आर्थिक तथा अनार्थिक, विगत व विद्यमान घटकों की भीड़ जिसमें भविष्य की उम्मीदें भी शामिल हैं, में

आकास्मिक हैं। व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रौद्योगिकी, भूमि, श्रमबल, पूँजी, प्रौद्योगिकी व संबंधित घटक के मूल्यों के बीच विद्यमान समानुपात, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठान, माँग की प्रमात्रा व प्रतिदर्श, उद्यमीय मानसिक तैयारी (पाशविक उत्साह, भूमंडलीय संरचना आदि उन बीसियों घटकों में से हैं जो पूँजी संचयन को स्वयमेव पराधीन परिवर्तनशील बना देते हैं। इस संदर्भ में, भारत के संगठित, विशेष रूप से संगठित औद्योगिक क्षेत्र में दृश्यमान स्थिति को याद किया जा सकता है जो पूँजी के विशाल भंडार व अधिकांश प्रगतिशील प्रौद्योगिकी के असमानुपातिक तौर पर हिताधिकारी होने के बावजूद रोजगार तथा सकल घरेलू उत्पाद के सापेक्षत: अल्पांश का योगदान करती है।

तब, घरेलू घटकों के साथ, वंशानुगत सामाजिक–आर्थिक संरचनाओं तथा संस्थाओं की तरह, अन्तरराष्ट्रीय घटक व पर्यावरण की पूँजी संचयन (इसकी दर प्रतिदर्श और प्रबन्धन), विशेषत भूमंडलीय असमानताओं गतिशील तुलनात्मक लाभ, श्रमबल तथा भूमंडलीय शक्ति संतुलन के अन्तरराष्ट्रीय विभाजन, विशेष रूप से आर्थिक व सैन्य शक्ति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रों के बीच दूरी पर शक्तिशाली प्रभाव डालते हैं। देश बनाम शेष का उत्पादकता विभेदन जितना अधिक होगा। इसका निरपेक्ष तथा सापेक्ष जितना छोटा होगा, विद्यमान प्रौद्योगिकीय क्षमताएँ जितना कम होंगी व उच्च उत्पादकता वाले देशों की तरह जितना अधिक अभिप्रेरणा होगी, तब निम्नस्तर वाले देश के लिए गैर–बर्हिजनित, स्वायत्त पूँजी संचयन करना उतना ही अधिक मुश्किल होगा। वास्तव में, प्रत्याशाओं में उस समय नाटकीय परिवर्तन हो सकता है यदि गुणात्मक रूप से भिन्न गैर–अनुकरणीय विकास–पथ और प्रतिदर्श का अनुयोजन हो। मुद्दा है: पूँजी संचयन एक बड़ी संख्या में आर्थिक व गैर–आर्थिक घटकों द्वारा प्रभावित स्वयमेव पराधीन परिवर्तनशील है। पूँजी संचयन का प्रतिदर्श, इसका संस्थागत संगठनात्मक स्वरूप व संरचना, प्रौद्योगिकीय स्वरूप आदि परिवर्तन तथा रूपान्तरण की प्रक्रियाओं में इसकी भूमिका का अवधारण करना कितना निर्णायक हैं। परम्परागत, मुख्य प्रवाह का विकास अर्थशास्त्र पूँजी निर्माण से ग्रसित है (जैसा कि विकास प्रतिदर्शों और सकल घरेलू उत्पाद के अवधारकों पर साहित्य से देखा जा सकता है)। यह मूलत: सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि पर आधारित अनुकरणीय, पकड़ में आने वाला औद्योगिकीकरण रूपांतरण है। यह इस बात को मान्यता नहीं देता कि विगत में सफल प्रतिद्वंद्वी जिन्होंने केवल पूर्वजों की बराबरी नहीं की थी परन्तु कइयों से आगे भी निकल गए थे जिनके साथ अपेक्षाकृत अन्तर बहुत कम था जिनकी सामाजिक–आर्थिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समान थी, अन्तरराष्ट्रीय भू–राजनीति में, किसी को पकड़ने तथा आगे निकलने में प्रबल राष्ट्रवादी भावना वाले राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी थे अथवा परम सौभाग्यशाली थे जिससे आन्तरिक व बाहय अनुकूल घटक उनके पक्ष में रहे। आज की तरह, वर्तमान में गरीबों के लिए विलम्ब से औद्योगिकीकरण, विशाल आय वाले पूर्व उपनिवेशी देश, परिसम्पत्तियों, प्रौद्योगिकी अन्तर, उपनिवेशी शोषण तथा नंगेपन की गाथा जिसके पास भौतिक व सामाजिक अवसथापना का विशाल जमावड़ा है, से पूँजीगत संचयन आधारित अनुकरणीय विकास–पथ से अन्तर बढ़ेगा अथवा मजबूत होगा तथा पराधीनता स्थायित्व प्राप्त करेगी। कुछ समय के लिए मैं ईस्ट एशियन टाइगर्स के मामले को सफल पकड़कर्ता के मामलों के रूप में हवाला देता हूँ। किन्तु हाल की घटनाओं व गहन विश्लेषण ने दर्शाया है कि विशेष तथा अपूर्व परिस्थितियों जिन्होंने इन अर्थशास्त्रों (वास्तव में, उनमें से दो छोटे शहर राज्य होने के कारण व एक प्रत्यक्ष उपनिवेश भी था, मुश्किल से किसी तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में सुसंगत है।) कुल मिलाकर स्वतंत्र, स्वायत, लोगों को शक्ति–सम्पन्न बनाने वाले पूर्णतावादी और न्यायसंगत विकास के मामले बिल्कुल नहीं हैं जिन्हें गरीब व कमजोर अर्थव्यवस्थाएँ अपनी भूमिका प्रतिदर्श के रूप में ले सकती है।

यह सत्य है कि काफी देशों के लिए समयानुक्रम तथा व्यापक प्रतिनिधित्व आँकड़े पूँजी संचयन की दर (तकनीकी व संगठनात्मक स्वरूप) में दीर्घावधि परिवर्तनों के बीच मजबूत संयोजन दर्शाते है। किन्तु यह प्रमाण पूँजी संचयन जिसमें पूँजी संचयन पर आय का प्रभाव भी शामिल है, की दर व प्रतिदर्श के अवधारकों के प्रश्न को उत्तर नहीं देता है।

● अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह

उपरोक्त उपसंहार उन सहवर्ती सिद्धांतों के साथ तालमेल बिठाता है जो विकासपरक परिवर्तनशील राशि के रूप में पूँजी संचय को प्राथमिकता व निर्णय करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस सहवर्ती प्रस्थापना के अनुसार गरीब कम विकसित विलम्ब से औद्योगिकीकृत देशों जिनकी प्रौद्योगिकीय क्षमताएँ कम व राज्य कमजोर हैं, को धनी तथा आरंभ में औद्योगिकीकृत देशों से अन्तरराष्ट्रीय पूँजी 'अंतरणों' पर निर्भर रहना पड़ता है ताकि वे कम आय, कम बचत, कम पूँजी संचयन के विद्वेषपूर्ण क्षेत्र से स्वतंत्र हो सकें व संचयी तरीके से कम आय के साथ काम कर सकें।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति हैरी ट्रूमेन के अक्सर उद्धत आरंभिक भाषण जिसमें 'कम विकास' को मान्यता दी गई थी व 'विकास' (वास्तव में, तथाकथित कम विकसित विश्व को धनी तथा पहले औद्योगिकीकृत देशों की एक हल्की अनियंत्रित रूप से जुड़ी हुई कार्बनप्रति बनाने का प्रयास), की चुनौती को स्वीकार किया था, के बाद पूँजी अन्तरणों की नीति विकास अर्थशास्त्र व नीति का एक महत्वपूर्ण आलम्ब रही है। विविध स्तरीय एजेन्सी के रूप में अपनी क्षेत्रीय सहायक शाखाओं के साथ विश्व बैंक अत्यधिक आकर्षक कारोबार में लगा हुआ है जिसे विकास वित्त-पोषण कहा जाता है। विभिन्न रूपों में जैसे सरकारी विकास सहायता (DDA) अर्थात् रियायती दर पर कर्जे, अनुदान, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) , पोर्टफोलियो निवेश, बाहरी (निजी लेखा) उधार, व्यापार क्रेडिट आदि को प्रापकों व 'आदाताओं'/उधारकर्त्ताओं/निवेशकों दोनों द्वारा अन्तरराष्ट्रीय विकास सहयोग का महत्वपूर्ण स्तम्भ माना जाता है।

ये प्रवाह द्वि-अन्तर सिद्धांत के रूप में न्यायनिर्णीत थे अर्थात् बचतों की कमी को पूरा करना (कम स्तर वाल औद्योगिकीकरण, प्राथमिक पण्यों की आपूर्ति व माँग दोनों की कम तन्यता द्वारा 'प्रभावित' निर्यात निराशावाद के क्रम में) तथापि, यह प्रतिधारित था कि पूँजी प्रवाह अपने साथ 'प्रगतिपूर्ण' उच्च उत्पादकता प्रौद्योगिकी नए उत्पाद लाते हैं जो उत्पादन चक्र को पूरा कर सकते हैं तथा अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में सहायता कर सकते हैं। इस प्रकार तर्क दिया गया था कि अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह के परिणामस्वरूप वृद्धिगत आय प्रवाह व प्रौन्नत उत्पाद-मिश्रण गरीब, औसतन कम आय वाले देश में विकास की शुरूआत तथा स्थायित्व के लिए सहायता कर सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से पूँजीगत आन्दोलन की प्रक्रियाएँ विभिन्न स्वरूपों में जारी है व आरंभ में औद्योगिकीकृत देशों में विलम्ब से हुए औद्योगिकीकृत देशों को वित्त-पोषण होता रहता है तथापि संसाधनों के प्रतिकूल प्रवाह की आशंका भी व्यक्त की गई हैं।

विभिन्न परिवर्तनशील घटकों तथा प्रक्रियाओं जो साथ-साथ काम करती हैं, के प्रभाव को पृथक करने में परेशानी के परिणामस्वरूप, अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों के प्रभाव का एक स्वतंत्र, पृथक समग्र अनुभवजन्य निर्धारण प्रस्तुत करना मुश्किल है। यद्यपि कमजोर अर्थव्यवस्थाओं की संचयात्मक ऋण देयता में उस अनुपात तक वृद्धि हुई है जितने अनुपात में प्राय: ऋण सेवा राशियाँ ताजा नए प्रवाहों से अधिक होती है। इस प्रकार, एक निर्बल आधार पर, कोई देश पूँजी-घाटे वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी-आधिक्य वाली अर्थव्यथा को संसाधनों के प्रतिकूल प्रवाह के लिए कतिपय उपाय करता है। तब सरकारी विकास सहायता के महत्व से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश व विदेशी पोर्टफोलियो निवेश में कमी आई है। अल्पकालिक प्रत्याशित पूँजी आन्दोलनों ने ज्योतिष-आधारित अनुपातों को प्राप्त कर लिया है जिससे अर्थव्यवस्थाएँ अस्थिर हुई है। विश्व विकास प्रतिवेदन 2000-01 के अनुसार, 1999 में कुल प्रवाह 8289-20 करोड़ अमेरिकी डालर थे। इनमें से निजी लेखा वाले प्रवा अधिकतम 714460 करोड़ अमेरिकी डालर जबकि सरकारी विकास सहायता 61930 करोड़ अमेरिकी डालर व गैर-सरकारी संगठनों द्वारा अनुदान 223.20 करोड़ अमेरिकी डालर थे। इन आँकड़ों में रूस तथा संक्राम्य अर्थव्यवस्थाओं की जाने वाली राशियाँ भी शामिल हैं। यह उल्लेखनीय है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अभी भी उन समद्ध देशों में अधिक है जो अमीर निवेशक तथा प्रापक अर्थव्यवस्थाओं के बीच लाभप्रदत्ता की भूमिका, माँग (बनाम आवश्यकता) व पारस्परिक संपूरकता को विशेष रूप से दर्शाते हैं।

संक्राम्य कम्पनियाँ, अपनी शाखाओं तथा जुड़ी हुई संस्थाओं के साथ, मुख्य मुद्रा सटटेबाजी में सक्रिय सहभागिता तथा जो विलयन और अधिप्राप्तियों के माध्यम से भूमंडलीय बाजार में निगमीय नियंत्रण के लिए मुख्य खिलाड़ी है। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का प्रचुर अंश उनकी शाखाओं में मूल राशि का है व कुछ लाभ अन्तरण मूल्यांकन के माध्यम से अनुचित रूप से प्राप्त किए जाते हैं। उत्पाद में मिलावट, प्रौद्योगिकी, ऊर्जा उपयोग की प्रमात्रा तथा प्रतिदर्श उत्कृष्ट, राष्ट्रीय कम्पनियों के प्रमुख प्रबन्धकों के बीच अत्यधिक वेतन व परिलब्धियों का भुगतान करने वाले छोटे देश, कर चोरी तथा अपवचन, राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों को रिश्वत उपभोक्तावाद को सक्रिया बढ़ावा, स्थानीय-राष्ट्रीय संस्कृतियों का सम्मान न करना, मानदण्ड तथा प्रसार की अर्थव्यवस्थाओं से लाभ के लिए एकसमान उपभोग प्रतिदर्श, वित्तपोषण अथवा मुद्रा बाजार से प्रत्याशित लाभ उठाना आदि उन प्रमुख राष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लक्षण हैं जो आमतौर पर निर्धन व धनी देशों के गरीब आदमी तथा औरतों के दृष्टिकोण से ऋणात्मक माने गए हैं। विशेष रूप से अपनी उत्पादन सुविधाओं की अवस्थिति को हस्तांतरित करके श्रमबल तथा रोजगार पर उनके प्रभाव को स्वीकारात्मक नहीं माना गया है। इसी प्रकार, उन्होंने गरीब देशों की राष्ट्रीय संप्रभुता को विभिन्न तरीकों से कमजोर किया है व अन्तर्मुखी ओर लोग-संकेन्द्रित नीतियों के बलों को कमजोर किया है। इनमें सर्वाधिक गंभीर स्थिति उनकी बढ़ती हुई पराधीनता के रूप में उनका प्रभाव है। किसी भी मामले में, उनका अनुभव समामेलित आधुनिकीकरण के गैर-संभव व गैर-अनपेक्षित दोनों को विशेष रूप से दर्शाया है। भारत जैसे देश में, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश तथा बाहरी वित्त-पोषण अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं क्योंकि विदेशी पूँजी को लाल-चटाई व्यवहार खोलने व देने के बाद भी, उन्होंने आमतौर पर 25 प्रतिशत से अधिक के निवेश की समग्र दर की तुलना में मुश्किल से सकल घरेलू उत्पाद के 2 प्रतिशत से अधिक प्राप्त किया है।

● राज्य की भूमिका

उपरोक्त पूँजी संचयन व अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलनों की भूमिका के निदर्शी, संक्षिप्त विश्लेषण से विकास के प्रमुख इंजन (आरंभिक औद्योगिकीकृत पूर्व-उपनिवेशी शक्तियों के प्रभुत्व के अधीन अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों द्वारा अनेक तरीकों से समर्थित) के रूप में पूँजी संचयन के माध्यम से विकसित करने के लिए सीमाओं, विकृतियों, तात्कालिक तथा संचेतन प्रयासों की गैर-वांछनीयता को दर्शाए जाने की आशा की जाती है। वास्तविक उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए व इस प्रयोजनार्थ, आमतौर पर पूँजी संचयन की विशेष रूप से उस समय आवश्यकता होती है जब उत्पादन के अन्य घटक उपलब्ध हों। किन्तु यह अनेक उच्च परिणामों का उपाय है व गरीब देशों में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक संस्थागत ढाँचे में परिवर्तनों का ऐसा परिणाम होना चाहिए जो दीर्घ तथा अल्प स्तरों पर विकास का विरोध करते हैं। अपरिवर्तित को छोड़कर व वास्तव में, विद्यमान दुष्क्रियात्मक, विकृत और विकास विरोधी संरचनाओं, प्रतिष्ठानों तथा सम्बन्ध को मजबूत बनाकर व इस प्रकार के फ्रेमवर्क में प्रभुत्व, मुख्य उपस्कर के रूप में पूँजी निर्माण पर निर्भर करते हुए निराशाजनक स्थिति, संक्राम्यता, उत्पीड़न और मानवीय व राष्ट्रीय क्षमता से इंकार को मजबूती प्रदान होनी चाहिए। विकास मौलिक रूप से एक सामाजिक-आर्थिक अभ्यास है (सारांश में, विकास राष्ट्रीय, सामुदायिक तथा व्यष्टि की शक्ति सम्पन्नता का श्रेष्ठतम जोड़ हैं।), इसके तकनीकी आर्थिक पहलुओं को उनके अन्यायपूर्ण, उत्पीड़क, लक्षणों को अलग करके पहले द्वारा नियंत्रित सहायक पहलुओं के रूप में शामिल किया जाना चाहिए तथापि सशक्त पुनर्गठन एक आवश्यक पूर्वापेक्षा हो सकती है। संसाधन अंतरण नीति की लोकप्रियता, संयुक्त राष्ट्र संघ के कभी न पूरे होने वाले अमीर से गरीब देशों को सहायता के लक्ष्य ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे उन्हें तथाकथित दाता व प्रापक देशों में शासक प्रतिष्ठानों के हितों को पूरा करने के लिए उसकी वंशानुगत क्षमता से व्युत्पन्न किया गया हो। पहली स्थिति में, इन अंतरणों से अपने माल तथा सेवाओं (निर्यात) के लिए माँग व बाजार पैदा होता है। गरीब देशों के प्रतिष्ठित लोगों के लिए क्षेत्र के साथ कठोरता से पेश आने और बचतों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यकता को कम करने से अलग ऐसे प्रवाहों से प्रौद्योगिकी ब्राण्ड नाम व उपभोग के

ऐशो-आराम वाले स्तरों के लिए अवसरों तक पहुँच बनाते हैं अथवा विकास का भ्रम पैदा करने में सहायता करते हैं। किसी भी हालत में एक असमान समाज में, संस्थागत संरचनात्मक परिवर्तन किए बिना संसाधन का अन्तर्विष्टीकरण उत्कृष्ट स्थिति में बैठे हुए लोगों को असमानुपाती लाभ देता है।

परम्परागत विकास अर्थशास्त्र की PED समालोचना परिवर्तनशील पूजी संचयन की नीति की निर्णायक जाँच से परे है। यह सच है कि जब तक 1970 वें दशक के प्रथम अर्द्धश में विकास अर्थशास्त्र में प्रति-क्रांत नहीं हुई तब तक जिसमें सामाजिक कल्याण प्रतिष्ठानों को संतुष्ट करने के साथ-साथ, पूँजी संचयन, औद्योगिकीकरण व आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं को सक्रिय बनाने, निदेशित करने अथवा प्रत्यक्ष तौर पर प्रेरित करने में राज्य की मुख्य तथा अग्रणी उत्प्रेरणात्मक, उद्यमी भूमिका पर थोड़ा मतभेद था। सक्रिय स्थायी विकास नीति के व्यापक मानदंड़ों के भीतर, वास्तव में, प्राबल्यता पर थोड़ा मतभेद था। सक्रिय स्थायी विकास नीति के व्यापक मानदंड़ों के भीतर, वास्तव में प्राबल्यता में अंतर, सूक्ष्म भेद, एजेंसियों की अभिरूचियाँ, उपस्कर व संगठनात्मक स्वरूप स्थायी व्यवधानों का टिकाऊपन अथवा उनके विभिन्न घरेलू व बाहरी सामाजिक और आर्थिक समूहों से सम्बन्ध थे। आत्मविश्वास तथा राष्ट्रमंडली में सापेक्षत: स्वतंत्र स्थान हेतु संघर्ष के लिए उपनिवेशवाद के बाद के आवेश पर भी कुछ अपवाद थे उन समाजों में जहाँ राज्य शुरूआती उद्योगपतियों के ऐतिहासिक अनुभव से निरावत अपने संघटकों के साथ अपेक्षाकृत प्रगतिशील व बेहतर संगठित संस्थाओं में था, राज्य ने संचयन की प्रक्रियाओं को निदेशित किया और उन पर नियंत्रण रखा व सफलतापूर्वक शक्ति तथा सक्षमता के अन्य वैकल्पिक केन्द्रों का, विशेष रूप से उन देशों में सृजन किया जिनकी विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के प्रति प्रतिबंधित पहुँच थी। किसी भी मामले में प्रमुखत: राज्य से राज्य स्तर पर 'अनुदान' और रियायती विदेशी सहायता ने उस समय के विकास की गति बढ़ाने में निर्णायक भूमिका निभाई जब तक 1970 वें दशक के शुरूआत में प्रथम तेल आघात नहीं लगा। भारत में, मूलभूत आर्थिक व भौतिक अवसंरचना मुहैया कराने अथवा भारी व मौलिक पूँजीगत और अन्तवर्ती सामान उद्योगों की स्थापना करने, बचत एवं निवेश की दर में वृद्धि करने, क्षेत्रों में निजी उद्योग क्षेत्र के विकास का विनियमन, मार्ग निदेशन तथा समर्थन करने एवं विशेष रूप से कमजोर वर्गों के लोक कल्याण के कुछ नियोगों को लागू करने के लिए लोक क्षेत्र को अग्रणी भूमिका, विशेषतया प्रत्यक्ष उद्यमी भूमिका दी गई थी। इन ऐतिहासिक कार्यों को पूरा करने में वास्तव में काफी लम्बा रास्ता तय करना पड़ा तथापि यह प्रक्रिया स्थायी रूप नहीं ले सकती व लोक क्षेत्र एवं राज्य आर्थिक क्षेत्र में प्रचंड आक्रमण का शिकार हुई।

● विकास के अर्थशास्त्र में प्रतिकारी क्रांति: उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण(LPG) पैकेज

विकास प्रक्रियाओं में राज्य की क्रियाशीलता पर व्यापक सामंजस्य में, राज्य के चरित्र एवं राज्य की क्षमताओं व शक्तिसम्पन्न सामाजिक समूहों जो विकास स्थिति के प्रतिद्वन्द्वी थे, की भूमिका, स्वरूप, निपुणता और रणनीतिक स्थिति के प्रश्न पर शुरूआती दौर में अधिक ध्यान नहीं दिया गया। दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में व्यापक, सामान्य सामाजिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक वर्ग तटस्थ राज्य जो विद्यमान व भविष्य की बहिर्मुखताओं को हिसाब में लेकर और संकीर्ण दृष्टि पर काबू पाते हुए हुज्जती बाधाओं पर सहयोजित कार्य करने में सक्षम था, विकास कार्यों को करने के लिए प्रभावी एजेंसी के रूप में माना गया था। इसका कार्य, आम सामाजिक सामंजस्य, विशेष रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की आरंभिक अवधि में राष्ट्रवादियों के शुरूआती उल्लास उन्माद पर नियंत्रण रखना माना गया था। भारत के कारोबारी वर्गों की लोक क्षेत्र के प्रति भूमिका व दृष्टिकोण, आरंभिक समर्थन किन्तु इसे कम करने के लिए स्थायी संघर्ष व इसकी व्यापक अभिरूचियों के तालमेल से इसके वास्तविक कार्यों में जोड़-तोड़ करना राज्य की भूमिका के प्रति आरंभिक उल्लासमूलक अभिगमों की सहजता को विशेष रूप से प्रकट करते हैं। परन्तु अनुभव प्राप्त होने पर राज्य के वास्तविक लक्षण, क्षमताओं समाज, विशेष रूप से करोबारी वर्ग व संगठित कर्मी वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध तथा इसकी आन्तरिक संगठनात्मक गतिशीलता के प्रभाव से सम्बन्धित अनुभूतियाँ हुई जिनके कारण कुछ मामलों में

चरित्र-चित्रण हुआ जैसे सौम्य-राज्य एवं ऐसा राज्य जहाँ कोई समाधान न हो अपितु समस्याएँ जन्म लेती रहें व राज्य का विकास और सुधार करने की आवश्यकता जिससे उसे विकास के अग्रदूत के रूप में प्रभावी तौर पर इस्तेमाल किया जाए। राज्य आविष्कारों को कुछ निर्णायक पहलुओं की नजरन्दाजी ने निराशा, मोहभंग को जन्म दिया जो राज्य के प्रबल समर्थकों की आवाज को दबाने के लिए पर्याप्त मजबूत थी। अमीर, शक्तिसमपन्न राष्ट्रों में कई परिवर्तन जैसे पूँजीवादी विस्तार के स्वर्णिम युग का अंत, बढ़ती हुई बेरोजगारी व मुद्रास्फीति, शीतयुद्ध, भू-राजनीति का बोझ, नव औद्योगीकृत देशों के निर्यातों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्तियों को उभरना व अपेक्षाकृत सफल पूर्व एशियन आटइगर्स द्वारा कुछ अन्तरिक्ष पर कब्जा करना और इसी के साथ निकट भविष्य में पूर्ण रोजगार के कलए लोकव्यय और कर्मी वर्ग के दावे द्वारा वर्चस्व प्राप्त कर रही घरेलू अर्थव्यवस्था व गंभीर सामाजिक सुरक्षा के लिए अवलम्ब धनी अमीर देशों में स्थायित्व विरोधी निगमित बलों का मजबूत करने को प्रवत्त हुए। इससे कमजोर देशों में असंतोष एवं मोहभंग की मजबूत धारा प्रकट हुई। उनकी वृद्धि महँगे व अस्थायी रूप में बदल गई। उनकी गरीबी, बेरोजगारी, अभावग्रस्तता एवं असमानताओं की मुख्य समस्याएँ राज्य क्षेत्र की अप्रत्याशित वृद्धि दर, उद्योगीकरण व विकास के हेाते हुए भी स्वराघात अंकित कर रही थी। अपेक्षाकृत कई गरीब देशों में अधिक मजबूत कारोबारी व औद्योगिक वर्ग प्रतीत हुए जो राज्यवाद के अन्दर औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से अपने नियंत्रण वाली दोनों युक्तियों के सहारे फले फूले। प्रत्येक स्थिति में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों का बदला हुआ संकेन्द्रन व केन्द्रीकरण था। लोकप्रिय बलों ने किसी महत्वपूर्ण डिग्री को लाभ नहीं पहुँचाया, विशेष रूप से सापेक्ष तौर पर उनकी वृद्धि संक्रिया में प्रमुखत उद्देश्यपरक सीमित सहभागित थी व इसी कारण वे परिवर्तनशील प्रमुख लक्ष्य के रूप में राज्य के नेतृत्व वाले उद्योगीकरण तथा सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के प्रति कोई गहरे सम्बन्ध एवं वचनबद्धता विकसित नहीं कर पाए। संगठित क्षेत्र बहुत छोटा था व विशाल और विकासोन्मुख अनौपचारिक क्षेत्र संवर्धित तौर पर सीमांतक हो रहा था।

कई पहलुओं वाली उलझनों से प्रेरित होकर व उनका लाभ उठाकर विकास सिद्धांत में 'प्रति-क्रांति' ने समाजभर में राज्य नेतृत्व वाली (लोकक्षेत्र और लोक निवेश आधारित) विकास प्रक्रियाओं जो अभी तक प्रमाण थीं की सीमित चिन्ताओं को दूर करने का प्रयास किया। ऋण बोझ की चमत्कारिक वृद्धि, विदेशी खाते की अन्तिम सुभेद्यता व राज्य का तेज वित्तीय संकट उन शक्तिशाली बहुस्तरीय वित्तीय संकट उन शक्तिशाली बहुस्तरीय वित्तीय संस्थानों के लिए फायदेमंद सिद्ध हुआ जो बढ़ते हुए क्रम में भूमंडलीय वित्तीय संस्थाओं तथा TNCs की उस कार्यसूची को अपना रहे थे जिससे, विशेष रूप से विद्यमान समाज वादियों के पतन से पैदा हुई वैचारिकी सुखभ्रान्ति के क्षणों में, विश्व अर्थव्यवस्था पर काबू पाने की अनियंत्रित कार्यसूची को आगे बढ़ाया जा सके। इससे बार-बार बाजार आधारित नई उदारवादी कार्यसूची जो नई 'विकास नीति' के रूप में वांशिंटन कान्संसस के नाम से लोकप्रिय थी, को अपनाया गया। इसी के साथ इसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा निधि-विश्व बैंक की शर्तों पर दर्जनों ऋण-ग्रस्त, गरीब तथा कमजोर अर्थव्यवस्थाओं पर लागू किया गया जिससे उन्हें उनके विदेशी मुद्रा नकदी संकट से निजात मिल सके। भारत में, ढाँचागत समायोजन का यह कार्यक्रम समान संकट जैसी स्थिति की प्रतिक्रया में 1990 के दशक के आरंभ में अपनाया गया था। इससे मुख्य घटक थे। अविनियमित, बाजार नियंत्रित विदेशी एवं स्थानीय पूँजी के पक्ष में प्रमुखत: पहली स्थिति में प्रत्यक्षत: भागीदारी तथा नियामक दोनों भूमिकाओं से राज्य की महत्वपूर्ण वापसी। इसी नीति में उन लोक उद्यमों का निजीकरण भी अन्तर्ग्रस्त था जिन्होंने अब तक कई अर्थव्यवस्थाओं पर वर्चस्व बनाए रखा था। विश्व व्यापार संगठन के नियमों (भूमंडलीकरण) के अनुसार, कमजोर देश की अर्थव्यवस्थाओं को मुक्त करने व बाजार बलों की अनियंत्रित कार्यवाही पर सुविधाजनक प्रतिबंधों का लगाया जाना नए-उदारवादी विकास एजेंडों के अन्य घटक थे। इस पैकेज से अवांछित उच्च विकास के युग में प्रवेश की कल्पना की गई थी जिससे बदले में, अधोपन एवं उत्कर्षण प्रक्रियाओं से गरीबी को कम करने की उम्मीद की गई थी। 1990 का सम्पूर्ण दशक इस प्रतिदर्श को विशाल पैमाने पर लागू करने का साक्षी था किन्तु इसका परिणाम अधिक कुंठाग्रस्त अस्थायी व गरीब विरोधी

एवं कर्मी वर्ग विरोधी था। वास्तव में विकास गति को जारी रखना मुश्किल हो गया क्योंकि उदारवादी नीतियों के संकीर्णत: केन्द्रित विकास व रोजगार विरोधी होने के कारण क्षमताएँ अप्रयुक्त रहीं तथा निवेश के लिए माँग कमजोर पड़ गई एवं वित्तीय रूप से बांधित राज्य मशीन उद्योग के पुनरूत्थान का कार्य नहीं कर सके। इस प्रकार के विनाशपूर्ण परिणामों की प्रतिक्रिया में उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (LPG) पैकेज से व्यापक मोहभंग हुआ है जो विकास अर्थशास्त्र में प्रति-क्रांति का मूल है। उसके विरोध में व असैनिक समाज संस्थाओं की पहल के रूप में, कई आधारभूत आन्दोलनों ने मिथ्या विकास सिद्धांतों एवं उनके नीति पैकेज को निरावत करने अथवा लोकप्रिय जनसमुदाय को अपने हितों, स्वतंत्रता व लोकतांत्रिक व्यवस्था के बचाव में सक्रिय होने के लिए अपने प्रयासों में छोटी-सी शुरूआत है। वास्तव में, अन्तरराष्ट्रीय ऋण संकट तथा वाशिंगटन कान्संसस के बीच मजबूत सम्बन्ध होने के कारण, यह तर्क दिया गया है कि LPG पैकेज नीति मूल रूप से अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संसाधनों के अन्तरण की माँग को बनाए रखने के साथ-साथ ऋण-संग्रहण युक्ति है। निश्चित तौर पर, यह विकल्प लंगड़ाते हुए, आधे-मन से अप्रभावी राज्य नियंत्रणवाद में वापस जाने के लिए नहीं है जो इसके सकल-घरेलू उत्पाद केन्द्रित रूपान्तरण एवं शक्तिशाली वर्गों, ऋणों, अभिप्रेत व्यवसायों के कारण मजबूतों को मजबूत व कमजोरों को कमजोर बनाती है। कमजोरों को शक्तिशाली बनाने के स्थान पर उन्हें एवं शक्तिहीन करना विकास अर्थशास्त्र में प्रति-क्रांति का परिणाम था। उन विकल्पों के लिए खोज जारी है जो पैत्रिकतावादी, ऊपर-नीचे, जिज्ञासु, अर्थ-विरोधी व अत्यधिक केन्द्रित नहीं है, जो दक्षिण देशों में प्रतिकृति नहीं करते हैं, निराशाजनक और संक्राम्यता-त्रस्त गलत-विकास नहीं है जैसा कि उत्तर में देखा जाता है। यह निश्चित रूप से प्रमुख कार्य है जिसके सामने विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की चुनौती है। चूँकि उदारीकरण अवधि की विकास गति को जारी नहीं रखा जा सकता एवं एक विलम्बित अवस्फीति व अधोन्मुखी चरण स्थापित हो चुका है जो रोजगार में प्रतिकूल रूझान के साथ भारत में लोगों की जीविका तथा सुरक्षा के लिए खतरा बना हुआ है और इसके लिए विकल्पों की तलाश करना भारत में वैध कारवाई है।

● राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम की रूपरेखा

पूर्वगामी विश्लेषण स्पष्ट रूप से ऐसा एजेंडा निर्धारित करता है जिसे PE अभिगम द्वारा सम्बोधित किया जाए। विश्व में लगातार बढ़ती हुई असमानताओं के परिणामस्वरूप विकास संभाषण में राष्ट्र विश्लेषण की इकाइयों (उदाहरणार्थ प्रगतिशील' और 'पिछड़े' राष्ट्र) के रूप में जाने जाते हैं। राजनीतिक विजय की ऐतिहासिक विश्वस्तरीय प्रक्रियाओं, प्रजातीय मार्जन, वस्तुओं, घटकों व वित्तीय बाजार में विभिन्न प्रकार के आर्थिक संव्यवहारों के माध्यम से एकपक्षीय लाभकारी आर्थिक वर्चस्व और सांस्कृतिक प्रभुत्व जैसा कि विगत पाँच शताब्दियों व उससे पहले ध्यानपूर्वक देखा गया है, ने वर्चस्व एवं शक्तिहीनता के इन प्रतिदर्शों को बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। किन्तु एक राष्ट्र के भीतर क्षेत्रीय, अन्तर-राज्यीय अन्तर-वैयक्तिक, अन्तर-वर्गीय, अन्तर-व्यवसायी व कई अन्य आयामों में विभेदन एवं स्तरीय-विन्यास विद्यमान युग के उद्घोषित लक्षण नहीं है। विगत पाँच शताब्दियों का ऐतिहासिक पर्यावलोकन निश्चित रूप से दर्शाएगा कि सम्बद्ध देशों की आन्तरिक सामाजिक-आर्थिक स्थिति व संस्कृति की तीव्र अंतरराष्ट्रीय विषमताओं एवं आधुनिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया तक असमान पहुँच और उनसे लाभों को किस प्रकार योगदान दिया है। ब्रोडेल के अनुसार इस अवधि को पूँजीवादी विकास का युग माना जा सकता है जिसका विसरण सम्प्रेषण बलपूर्वक अधिरोपण व संचेतन अपनाया जाना अपूर्ण, विषम, विभाज्य तथा संतुलन की स्थिति में ऐसा बना रहता है जिसने तब तक अत्यधिक बहुआयामी लागती खर्चे पर अप्रत्याशित क्षमता व अवसरों का सृजन किया जो एक अत्यधिक छोटे अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा राष्ट्रों के अन्दर एवं उनकी सीमाओं से बाहर किए गए आधिपत्य नियंत्रण के कारण मानवता के अत्यंत विशाल बहुसंख्यक वर्ग के लिए भ्रांतिमात्र बने रहते हैं। PE अभिगम इस ऐतिहासिक, पूर्णतावादी, दीर्घकालिक, बहुमूल्य परिप्रेक्ष्य में विकास की चुनौती पर विचार व इसके अुनसार PE विकास निरूपण ओर नीति जो अपने स्वभाववंश ''अपनी निजी एकीकृत योजनाबद्ध प्रणाली'' (एस.टी.सुरू) अपनाता

है तथा कई अनुशासनों को परिवेष्टित करता है व उन्हें समेकित करता है, विकास का ऐसा अधिगम तलाशता है जो एक साथ आक्रमणकारी और अनाक्रमणकारी दीर्घ, सूक्ष्म व अति सूक्ष्म है एवं संकीर्ण तथा बनावटी अनुशासनात्मक सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। यह अवश्यमेव सार्वभौमिक रूप से वैध और सुसंगत विकास–पथव से निर्धारित नहीं करता है अपितु इसे स्वयं विकास से अपवंचित लोगों के लिए छोड़ देता है क्योंकि वे स्वयं चुने हुए तथा स्वयं निर्मित पथ पर यात्रा करते हैं।

PED का कार्य अवश्यमेव व मात्र वैचारिक नहीं है (निश्चित रूप से किसी संकीर्ण गैरमिलनसारी विचाराधारा की बाध्यता से परे है)। इसे व्यावहारिक दैनिक जीविका के मुद्दों एवं विभिन्न स्तरों पर दीर्घकालिक अनिवार्यताओं एवं रूझानों से संतुष्ट होना पड़ता है। इसे मान्यता दी जानी चाहिए। कि बौद्धिक तथा व्यावहारिक क्षेत्रों पर इसकी स्पष्ट श्रेष्ठता के बावजूद, यह प्रचलित आदेश के शक्तिशाली सटटेबाजों के हितों के साथ भलीभाँति संसक्त नहीं हो पाता। इस प्रकार यह विकास के संकीर्ण, विकृत सिद्धांतों व नए–प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रों में आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट विकास की तुलना में कम लोकप्रिय एवं शक्तिशाली है। वास्तव में बहुत कम राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमों ने आधुनिक समतुल्य उद्योगीकरण के एजेंडा को अपनाया अथवा विभिन्न मूल्यों व प्राथमिकताओं के बावजूद, स्वयं के लिए पृथक स्वतंत्र एवं व्यापक रूप से स्वीकार्याताक तराश नहीं कर सके। विश्व के कई हिस्सों में कई विद्यमान समाजवाद की विफलता कुछ PE अभिगमों द्वारा अपनाए गए अपूर्व, आंशिक व अनुकृत एजेंडा का प्रमाण हैं। इतना इसलिए ताकि राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमों के कई किनारों पर भी, विकास की विषयवस्तु तथा ऐजेंडा असमान भूमंडलीय व्यवस्था की चोटी पर स्थित आरंभिक उद्योगीकृत पूँजीवादी देशों ने अनुभव से व्यावहारिक तौर पर थोक में उघार लिया जाता है। कई बार, ऐसा वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति की सार्वभौमिकता के नाम दर किया जाता है। इस प्रकार, वैकल्पिक उद्योगीकरण तथा उद्योगीकरण के विकल्पों की वकालत करने की बजाए एवं जहाँ तक उद्योगीकरण और विकास को पर्यायवाची माना जाए, विकास के विकल्प और आर्थिक अर्थव्यवस्था के कतिपय विद्यालय, वास्तव में कुल सकल असमानताओं जिन्होंने पूँजीवादी विकास–पथ को विशिष्ट पहचान दी, से बचने की उम्मीद की प्रक्रिया में, प्रमुखत: अग्रणी उद्योगपतियों के तीव्रता से व निश्चित रूप से बराबर आने एवं उनसे आगे बढ़ने के दृष्टिगत वैकल्पिक संस्थागत एजेंसियों (जैसे राज्य, सहकारिताएँ/सामूहिकताएँ) और उनके परिणाम की दलील देते हैं। अत्यधिक उच्च गति से प्रक्रिया की दूरदर्शिता के लिए उत्पादन बलों की प्रगति को दुहराने के उद्देश्य को सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के ऐसे भिन्न समूह का साथ चाहिए था जो अवश्यमेव, एक न्यायिक रूप से अथवा औपचारिक रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक व राज्य के स्वामित्व तथा केन्द्रीकृत, सुनियोजित लोक प्रबंधन पर आधारित हो। इसमें जीवनशैली के शब्दों में परिणामों की एकरूपता अन्तर्ग्रस्त थी जैसा कि उपभोग प्रतिदर्श में प्रतिबिम्बित था परन्तु बड़े पैमाने पर, अन्यायपूर्ण किन्तु स्वत: प्रवर्तित असमानताओं के बिना व्यापक अभावग्रस्तता तथा वाष्पशीलता में परिणत हो गया। इस प्रकार विकास का विकास का प्रतिदर्श, कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं में, विशेष रूप से भौतिक–तकनीकी कार्य स्थितियों के अनुसार उपभोग प्रतिदर्शो, उत्पाद–मिश्रण व जीवनशैली के प्रमुख पहलुओं को प्रभावित करने वाले भौतिक–आर्थिक पहलुओं में, औद्योगिक प्रगति के अनुकूल व्यवसाय विशेषता ऊर्जा के बहुत ऊँचे स्तरों व उतपादन की भौतिक तीव्रता तथा स्थानिक संकेन्द्रीकरण में अन्तर्ग्रस्त पारिस्थितिक स्थायित्व की अवहेलना के आधार पर प्रौद्योगिकीय तौर पर अवधारित किया गया था।

सैद्धान्तिक प्रणालियों के परिणामस्वरूप, कड़ी दस्तक व उत्कृष्ट लोकतांत्रिक चेतनता तथा वचनबद्धता के विद्यालय के पाठों, विकास के ज्ञात और अनुभवगम्य प्रतिदर्शों की पूर्व–अवधारिता अनुकृति त्वरित, कम लागत पर, अवमान्य अधिक लोकतांत्रिक एवं जवाबदेह संस्थागत अवसर्जनों के बढ़ते हुए वकील बहुत कम हैं। स्पष्टत: एक दवा सभी अभिगमों को उपयुक्त है सिवाय उनके जो विभिन्न तथा परिवर्तनशील हालातों अथवा संदर्भों में अभेद्य हैं, ऊपर–नीचे विषय–वस्तु व डिजाइन में पित्रसत्ताविद् हैं और अत्यधिक केन्द्रीकृत हैं तथा अव्यवहारिक व अलोकतांत्रिक हो चुके हैं। एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम जो लोगों की

लोकतांत्रिक शक्तिसम्पन्नता के मूल्यों का समर्थन करता है, उनकी स्वतंत्रता, गरिमा व तालमेलपूर्ण सामाजिक अस्तित्व का सम्मान करता है ऐसे विकास रूपान्तरण के लिए स्थायी नहीं हो सकता है जो अस्वैच्छिक परिणाम देता है, विदेशीकरण तथा निराशाजनक स्थिति को बढ़ावा देता है। एवं लोगों की स्वतंत्र अभिरूचि के स्थान पर प्रतिबन्ध लगाता है चाहे वह व्यष्टिगत हो एवं सामूहिक जनसामान्य के विशाल सामुदायिक प्रतिष्ठानों से संबंधित हो।

विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था तार्किक व युक्तिसंगत आधार पर विकास के निर्धारणात्मक, पूर्व-अवधारित, सार्वभौमिक धारणा/प्रतिदर्श के सापेक्ष में कार्य नहीं कर सकती है। व्यष्टिगत, पारिवारिक अथवा सामुदायिक स्तर पर कोई भी अच्छे स्वास्थ्य जीवन का प्रतिदर्श सार्वभौमिक तौर पर स्वीकार्य/वांछनीय नहीं हो सकता है न लोगों की स्वायत्तता, स्वतंत्रता तथा आवाश्यकताओं का सम्मान कर सकता है, उदाहरणार्थ किसी एक को इन धारणाओं/प्रतिदर्शों में सामूहिक रूप से व मुश्किल कर सकता है, परिवर्तनों को मुहैया कराएँ। अत: आवश्यकता उन लोगों के अनुभव की अनुकृति में भौतिक समृद्धि के सार्वभौतिक प्रजातिकेन्द्रित अस्वैच्छिक एजेंडा से मात्र छुटकारा पाने के लिए नहीं है जिन्होंने उसमें जल्दी शुरूआत की जिसे आधुनिकीकरण व उद्योगीकरण तथा आर्थिक-विकास/वृद्धि, निस्संदेह एक लाकुझनेट की आधुनिक आर्थिक वृद्धि के रूप में जाना गया है। निर्णायक पहलू जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं में रूपान्तरण के आवश्यक संघटक हैं व निष्पक्षता, स्वतंत्रता, मानवीय गौरव, तालमेल, प्रसन्नता आदि के उन मूल्यों पर आधारित हैं जो मानव व्यक्तित्व को पूरी तरह फलने-फूलने की अनुमति नहीं देते हैं और उसी समय सामूहिक हित के लिए योगदान करते हैं। अवश्यमेव PE अभिगम विचार की दुहरी स्थिति से बचाता है और इस प्रकार व्यष्टिगत और सामूहिक रूप से उन परिस्थितियों का प्रावधान करने के साथ-साथ मुक्त, बहु अभिरूचियों वाले उपलब्ध स्थान का दायरा बढ़ाता है जिनमें लोग अभिरूचि के अपने अधिकार का इस्तेमाल करने में सक्षम होते हैं। यह न्यायसंगत, सामूहिक शक्तिसम्पन्न होने का एजेंडा है जिसके साथ उसके महत्वपूर्ण अंग के रूप में नियामक सामान भी है।

इसके अनुसार विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था उन विषमताओं तथा विकृतियों के उन्मूलन की पूर्व क्रिया के बिना विकास बातचीत को व्यापक बनाने व समृद्ध करने के दौरान अपने एजेंडा के साथ आगे नहीं बढ़ सकती है, जिन्होंने इसके भीतर अपना रास्ता तलाश किया है तथा वस्तुत: अकादमी व नीति स्तरीय विकास वार्ता एवं व्यवहार दोनों पर वर्चस्व बनाया है। इस प्रकार एजेंडा का स्वीकारात्मक घटक उन दिशाओं में जो अब तक विकास वार्ता में बचे हुए अथवा मंद अभिनीत चुनौतियों का मुकाबला कर सकती हैं, विद्यमान लोकप्रिय विकास वार्ता पुन: परिभाषित/पुन: अधिकल्पित करके लाभकारी अवसरों और उपस्करों को मुहैया कराता है।

● सारांश

- विकसित तथा विकासशील दोनों देशों में अमीर और गरीब के बीच भूमंडलीय दरार तथा इस तथ्य की ओर इशारा करते हुए कि विकास और आय के स्तर जीवन स्तर में अवश्यमेव सुधार सूचक नहीं है, इस इकाई में विकास की अर्थव्यवस्था और विकास की राजनीतिक के सिद्धांतों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं और विशेष रूप से भारत के सम्बन्ध में इसकी अनुप्रयोज्यता की चर्चा की गई है। आय को एकमात्र विकास घटक नहीं बनाया जा सकता है जो अर्थशास्त्र द्वारा विशेष रूप जिस प्रकार यह धनी देशों में विकसित थी ऐसा विकास मुद्दों के एकाधीकरण के परिणामस्वरूप प्रतीत होता है। आय का अधिगम आधारभूत रूप से धनी देशों में आधारित बड़े निगमों के नियंत्रणाधीन पूँजी संचयन की प्रक्रियाओं को पूरा करता है इस इकाई से पता चलता है कि एक नियामक पूर्णतावादी सामाजिक प्रक्रिया तथा परिणाम के रूप में विकास इसकी परिभाषा से व इसके आवश्यक तर्क के आधार पर विकास की आर्थिक व्यवस्था (PED) अथवा विकास अध्ययनों के चिन्तन का विषय है। PED अपेक्षा करती है कि राज्य एवं

बाजार के अतिरिक्त, इसे असैनिक समाज प्रतिष्ठानों की सम्पूर्ण रेंज को सम्बोधित करना चाहिए व अनन्य रूप से राज्य, बाजार तथा गैर सरकारी संगठनों पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए। इकाई विकास के उपाय के रूप में पूँजी संचयन और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) प्रवाह की सीमाओं के बारे में भी बताती है। गरीब और कमजोर अर्थव्यवस्थाओं को उनके संकट से निजात दिलाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) तथा विश्व बैक द्वारा सुझाए गए उदारीकरण–निजीकरण–भूमंडलीकरण (LPG) पैकेज जिसने राज्य को बड़ी वापसी का सुझाव दिया था, की मात्र मोहभंग में परिणिति हुई है। एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम उस विकास युगान्तर के लिए खड़ा नहीं रह सकता जो लोगों की स्वतंत्र अभिरूचियों पर प्रतिबन्ध लगाता हो और जिसके पास विकास का कोई पूर्व–निर्धारित सार्वभौमिक प्रतिदर्श न हो।

छात्र–क्रियाकलाप

1. क्या देशों में आय के स्तरों के प्राक्कलन विकास के स्तर के यथार्थ सूचकांक के रूप में लिए जा सकते हैं? चर्चा कीजिए।
2. विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था (PED) के सिद्धांतों का क्या एजेंडा है? प्रकाश डालिए।
3. आर्थिक विकास में पूँजी संचयन व अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह की क्या सीमाएँ हैं? चर्चा कीजिए।
4. विकास अर्थशास्त्रों में LPG पैकेज पर चर्चा कीजिए।

● अभ्यास–प्रश्न

1. बुनियादी ढांचे के अर्थ को समझाइए।
2. भारत में शहरी शैक्षिणक बुनियादी ढांचे पर टिप्पणी कीजिए।
3. अन्तराष्ट्रीय पूंजी प्रवाह को समझाइए।
4. राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमन की रूपरेखा स्पष्ट कीजिए।

●

इकाई-II

6

शिक्षा, स्वास्थ्य व आवास

(EDUCATION, HEALTH AND HOUSING)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- शहरीकरण में आवास
- स्वास्थ्य
- शहरीकरण समाज की अवधारणा
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- शहरीकरण के अन्तर्गत आवास, स्वास्थ्य व शिक्षा को।
- शहरीकरण समाज की अवधारणा को।

● प्रस्तावना

मानव जीवन की तीन मूलभूत आवश्यकताएँ हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। पौष्टिक भोजन, स्वच्छ वस्त्र तथा साफ-सुथरा आवास मानव की कार्यक्षमता एवं जीवन को सुचारू रूप से सक्रिय रखने के लिए न्यूनतम एवं वांछनीय आवश्यकताएँ हैं वर्तमान युग में मशीनीकरण का युग है। औद्योगिकीकरण के जितने भी आयाम हैं, सब मशीन पर निर्भर हैं, लेकिन इन मशीनों की कार्यक्षमता को बनाये रखने अथवा अनुकूल दशाओं के विकास के लिए श्रमिकों का संतुलित एवं पौष्टिक आहार शरीर ढकने को पर्याप्त मात्रा में वस्त्र और प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षित रखने के लिए स्वास्थ्यकर आवास की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। लेकिन औद्योगिक प्रगति के बाद आज श्रमिकों के आवास की व्यवस्था अच्छी नहीं है। उन्हें गंदी बस्तियों में ही रहना पड़ता है। अत: वर्तमान युग में गंदी बस्तियों की समस्या बढ़ती जा रही है। इसी कारण हाउस ने शहर को ''जीवन और समस्याओं का विशिष्ट केंद्र'' माना है।

● शहरीकरण में आवास

जहाँ तक भारत जैसे विकासशील देश का प्रश्न है, गंदी बस्ती की समस्या यहाँ अत्यधिक गंभीर है। लोगों को बुरी आर्थिक दशा के कारण यह बढ़ती हुई जनसंख्या, उन्नत तकनीकी और धीमी प्रगति से होने वाले औद्योगिकीकरण का ही परिणाम है। भारत में गंदी बस्ती का उदय कब हुआ, इसका निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता है। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है नई-नई गंदी बस्तियों का विस्तार हो रहा है। इस प्रकार गन्दी बस्तियाँ प्राय: सभी बड़े शहरों में विकसित हुई हैं।

दुनिया में कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ गन्दी बस्ती की समस्या का निराकरण कर दिया गया हो। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस आर्थिक और तकनीकी रूप में उन्नत देश हैं, फिर भी सस्ते और

स्वस्थ आवास व्यवस्था की समस्या विभिन्न उपायों को अपनाकर भी नहीं सुलझाया जा सका है। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में विज्ञान, उद्योग और शिक्षा में अत्यधिक वृद्धि हुई। चिकित्सा विज्ञान ने व्यक्ति को दीर्घायु बनाया है। पिछले 100 वर्षों में संसार की जनसंख्या दुगुनी हो गयी है। भारत में जनसंख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। पिछले 10 वर्षों की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 1981 में 84.4 करोड़ हो गई। यह वृद्धि 23 प्रतिशत की दर से है। ग्रामीण जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है किन्तु अत्यधिक निर्धनता के कारण ग्रामीण निवासी बहुत बड़ी तादाद में शहरों में काम की तलाश में आ रहे हैं। इससे शहरों में आवास की समस्या उत्पन्न हुई है। औद्योगिक शहरों में जनसंख्या का दबाव अत्यधिक बढ़ गया है। मलिन एवं गंदी बस्तियाँ मूलत: औद्योगिक नगरों एवं महानगरों की उपज है। यहाँ व्यक्तियों को छोटा बड़ा काम मिल जाता है पर रहने को घर नहीं मिलता। इसलिए इन महानगरों को मलिन बस्तियों में शरण मिलती है।

शहरीकरण और औद्योगिकीकरण ने जहाँ व्यक्तियों को विज्ञान, तकनीकी ज्ञान, शिक्षा और एक अच्छी वैज्ञानिक समझ दी है वहीं करोड़ों व्यक्तियों को नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया है। इस नारकीय जीवन को गंदी बस्तियों में देखा जा सकता है। एक छोटी-सी झोपड़ी, कच्चे मकान अथवा एक कोठरी में 10 से 15 व्यक्ति तक रहते हैं। जल निकासी का कोई प्रबंध नहीं होता। कूड़े, कचरे का यहाँ ढेर लगा रहता है। शौच की कोई व्यवस्था नहीं होती। बैठने के लिए इनके पास खुला स्थान नहीं है। तंग संकरी मलिन बस्तियाँ जहाँ जीवन कम और बीमारियाँ अधिक हैं। पीले, मुर्झाये चेहरे, चिपके गाल, उभरती हड्डियाँ, फटे गंदे कपड़े यहाँ का सौंदर्य है। इन्हें पता नहीं ये कब जवान होते हैं और कब बूढ़े हो जाते हैं। कब इन्हें टी०बी० हो जाती है और कब कैंसर। ये तो मौत के मुँह में जन्म लेते हैं। इनका जिंदा रहना और मरना समाज के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। आखिर गरीब के मरने का कोई अर्थ नहीं होता है। गंदी बस्तियों में इनका जीवन नाली के कीड़ों जैसा ही है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कानपुर के अहाता को देखकर एक बार कहा था—"आदमी-आदमी को इस रूप में कैसे देखता है।" इस तरह गंदी बस्तियों का सीधा संबंध बढ़ती हुई जनसंख्या और आवास व्यवस्था की कमी से है जो समय के साथ और गहरी होती जा रही है।

गंदी बस्ती का सामान्य अर्थ प्रत्येक तरह की कठिनाईयों जैसे जर्जर आवास व्यवस्था और गंद्गी युक्त पर्यावरण तथा वातावरण से है। गंदी बस्तियों की सामान्य परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि प्रत्येक देश आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही गंदी बस्तियाँ स्थापित होती हैं। गंदी बस्तियाँ झोपड़ी सराय, छोटी-छोटी कोठरियाँ, खपरैल और बाँस से बने हुए कच्चे मकान, टिन शेड से निर्मित मकान, लकड़ी के छोटे केबिन आदि से स्थापित हो जाती हैं। एक स्थान पर बस्तियों की उत्पत्ती के लिए कोई निश्चित पर्यावरण निर्धारित करना कठिन है। यह कभी भी विकसित हो सकती है। फिलिपाइन्स के दलदली क्षेत्रों में, छोटे-छोटे पहाड़ी क्षेत्रों में और युद्ध में जो स्थान नष्ट हो गए थे वहाँ गंदी बस्तियाँ स्थापित हो गई हैं। लैटिन अमेरिका में छोटे-छोटे पहाड़ों की ढलान पर गंदी बस्तियाँ हैं। कराँची में कब्रिस्तान और सड़क के किनारे इन्हें देखा जा सकता है। भारत में भी इसे इस रूप में देखा जा सकता है। रावलपिंडी और दक्षिणी स्पेन में प्राचीन गुफाओं में इनके दर्शन किए जा सकते हैं। अहमदाबाद, कानपुर, कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई के एक कमरे की अँधेरी कोठरियों की गंदी बस्तियों में संख्या अत्यधिक है। **गिस्ट** और **हलबर्ट** गंदी बस्तियों को विशिष्ट क्षेत्रों का विशिष्ट स्वरूप बताते हैं, तथा **कीन** एवं **थॉमस** गंदी बस्तियों को और रोगग्रस्त क्षेत्रों में पर्यायवाची समझते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि गंदी बस्तियों के स्वरूप में विविधताएँ हैं। प्रत्येक देश की गंदी बस्ती का अपना स्वरूप है किन्तु उसका पर्यावरण और रहने की दशाएँ लगभग समान हैं। इसमें निवास करने वाले निर्धन, बेरोजगार और कम आय वाले व्यक्ति हैं जिनका न कोई मकान है और न मकान होने की आशा है। यह वह आवासीय अनाथालय है जहाँ जमीन की समस्त असुविधाएँ एक साथ देखने को मिलती हैं, जहाँ व्यक्ति नहीं, व्यक्ति के नाम पर वे पशु की तरह जीवन-यापन करते हैं। औद्योगिक क्रांति के विकास ने उद्योगों का विकास किया किन्तु अपने करोड़ों श्रमिकों को रहने के लिए घर नहीं दिया। गंदी बस्तियाँ बहुत कुछ इस औद्योगिक क्रांति का परिणाम है।

गंदी बस्तियों के कारण—गंदी बस्तियों का जन्म अचानक ही नहीं हो गया है वरन इसकी पृष्ठभूमि में अनेक मौलिक तत्व हैं जो इनकी वृद्धि के कारण बने हैं। यह निम्नलिखित हैं—

1. निर्धनता—निर्धनता अभिशाप है। निर्धन व्यक्ति के लिए यह भू-लोक ही नरक है। निर्धन, बेरोजगार, दैनिक वेतनभोगी श्रमिक ये सब उस वर्ग के व्यक्ति हैं जो कठोर परिश्रम करने के पश्चात भी दो समय का भोजन अपने परिवार को नहीं दे पाते हैं। परिणामत: इनके बच्चे कुपोषण का शिकार बन जाते हैं। बढ़ती महँगाई, कम आमदनी, निर्धन को उच्च पौष्टिक मूल्यों वाले भोज्य पदार्थों को खरीदने के योग्य नहीं छोड़ती है। अभावों में जीना इनकी मजबूरी है।

2. शहरों में आवास समस्या—शहरों में भूमि समिति है और माँग अत्यधिक है। भूमि का मूल्य भी यहाँ आकाश छूता है। सामान्य व्यक्ति भूमि क्रय करके शहर में मकान नहीं बना सकता है। शहर में किराये के मकान भी समान्य व्यक्ति नहीं ले सकता है। लाखों श्रमिकों जिनके साधन और आय सीमित हैं उन्हें विवश होकर गंदी बस्तियों में रहना पड़ता है। मकान कम हैं और रहने वाले व्यक्ति कहीं अधिक हैं और परिणामस्वरूप गंदी बस्तियों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। स्थानाभाव के चलते संक्रमण तथा रोग व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। छोटे-छोटे बच्चे अपने परिवार के साथ तंग जगह में रहते हैं। परिवार में पड़े बीमार व्यक्तियों के साथ रहने पर संक्रामक कीटाणु उन्हें भी संक्रमण के जाल में फँसा लेता है। फलत: डायरिया, मीजल्स आदि के बाद भूख खत्म हो जाती है और शरीर निर्बल होकर कुपोषण की स्थिति में चला जाता है।

3. शहरी जनसंख्या का दबाव—बढ़ती जनसंख्या के साथ जमीन तो बढ़ी नहीं फलस्वरूप रोजगार की खोज में लोग गाँव से शहरों की तरफ भाग रहे हैं। जहाँ उन्हें राहत के स्थान पर तमाम तकलीफों का सामना करना पड़ता है। रहने को मकान नहीं, खाने को अच्छा खाना नहीं, शुद्ध पानी नहीं, गंदगी से भरा वातावरण तथा भीड़-भाड़, इन सबके कारण उनका स्वास्थ्य गिरता जाता है फलत: वे कुपोषण के शिकार हो जाते हैं, जिसका प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता है।

4. औद्योगिक क्रांति—गंदी बस्तियों की उत्पत्ती में औद्योगिक क्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका है। औद्योगिक शहर में जीविका के उनके विकल्प उपस्थित होते हैं। लाखों की संख्या में ग्रामीण व्यक्ति यहाँ अधिक-से-अधिक धन अर्जित करने की कल्पना सजाए आता है परंतु उसे यहाँ निराशा ही हाथ लगती है। वह मिल, फैक्टरी, कारखाना या और किसी प्रकार का श्रम करके पेट भरता है। निर्धनता उनका स्थायी धन है। इसे औद्योगिक महानगरीय सभ्यता और संस्कृति में उसे तो गंदी बस्तियों में रहना पड़ता है। उसके पास इसके अतिरिक्त विकल्प ही क्या है?

5. शिक्षा और जागरूकता का अभाव—शिक्षा और जागरूकता के अभाव में गंदी बस्तियों के विकास में वृद्धि हुई है। वे व्यक्ति जो निर्धनता के शिकार हैं, वे गंदी बस्तियों की गंदगी से भी अनभिज्ञ हैं। जहाँ सुविधाएँ नाम को भी नहीं हैं और बीमारियाँ और सामाजिक बुराइयाँ असीमित हैं फिर भी यहाँ इसलिए आते हैं क्योंकि उन्हें नाम मात्र का किराया देना पड़ता है। अशिक्षा के चलते भोजन के पौष्टिक तत्वों के संरक्षण की विधि से लोग वाकिफ नहीं हैं। भोजन को तलकर खाने में उन्हें, इस बात का अंदाजा नहीं लगता है कि वे अपने ही हाथों से, जो कुछ उन्हें मिल सकता था, उसे भी नहीं ले रहे हैं। भोजन में पकाया पानी या माड़ आदि निकालकर, न जाने कितने पोषक तत्व वे स्वयं नष्ट कर देते हैं। शिक्षा और जागरूकता के अभाव में वे अपने ही हाथों से अपनी ही क्या, अपनी अगली पीढ़ी की भी हानि कर रहे हैं।

6. गतिशीलता में वृद्धि—पहले व्यक्ति को अपनी जमीन और घर की ड्योढ़ी से अत्यधिक लगाव था। वह किसी भी दशा में अपना गाँव, कस्बा छोड़ना नहीं चाहता था, किन्तु औद्योगिक क्रांति और आवागमन की सुविधाओं ने व्यक्ति को शहरों में काम खोजने और नौकरी करने के लिए उत्प्रेरित किया। नित्य लाखों की संख्या में व्यक्ति एक गाँव से एक शहर, एक शहर से दूसरे शहर और शहर से महानगर में काम की तलाश में जाते हैं। इतने व्यक्तियों के रहने के स्थान कोई भी शहर, अबालक कैसे बना सकता है। अस्तु वे गंदी बस्तियों के शरण में जाते हैं। इस तरह गंदी बस्तियों का विकास निरन्तर होता जा रहा है।

शोषण की प्रवृति—उत्पादन का महत्वपूर्ण अंग श्रमिक, मलिन बस्तियों में रहता है और मालिक वातानुकूलित बंगलों में। पूँजीवादी व्यवस्था की यह बुनियादी नीति है कि आप आदमी की रोजी-रोटी की परेशानियों में फसाये रखें। भूखा व्यक्ति अपने परिवार के पेट भरने की चिंता पहले करता है और कुछ बाद में। उसे जीने की इतनी सुविधाएँ नहीं देते जिससे की वह दहाड़ने लगे और बाजू समेटकर अपने अधिकारों की माँग करने लगे। इसलिए उसे अभाव में जीने दो जिससे कि वह सदैव मालिकों का दास बनकर रहे। उसकी स्थायी नियत शोषण करना है, श्रमिकों को सुविधायें पहुँचना नहीं। अंतत: निर्धन शोषित श्रमिक रहने के लिए मलिन बस्तियों की शरण में ही जाता है।

सुरक्षा का स्थल है—गाँव छोड़कर ग्रामीण इसलिए भी शहर आ रहा है क्योंकि वहाँ सुरक्षा नाम की कोई चीज नहीं है। चोरी और डकैती सामान्य बात है। डकैतों का बढ़ता हुआ आतंक ग्रामीणों को गाँव छोड़ने के लिए मजबूर करता है। शहर में प्रशासक, पुलिस की व्यवस्था है जो उनके जान-माल की रक्षा करती है। इसलिए शहर की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और इसी के साथ गंदी बस्तियों में भी वृद्धि हो रही है।

ग्रामीण बेरोजगारी—भारतीय निर्धन गाँव जहाँ वर्ष में कुछ ही महीने व्यक्ति को काम मिलता है और शेष माह वह बेरोजगारी के अभिशाप को भोगता है। ग्रामीण क्षेत्र में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है कि व्यक्ति को खाली समय में काम मिल सके। इसलिए खेती के समय जो ग्रामीण व्यक्ति गाँव में उपलब्ध रहता है उसके पश्चात वह शहरों में काम करने आ जाता है। इनमें से अधिकांश व्यक्ति रिक्शाचालक, ठेले खींचने वाले, खोमचा लगाने वाले या मिल में श्रमिक होते हैं अथवा कोई छोटा-मोटा कार्य करके अपनी जीविका अर्जित करते हैं। उनमें से अधिकांश व्यक्ति गंदी बस्तियों में रहते हैं। यह उनकी विवशता भी है।

शहर नियोजन का अभाव—शहर में गंदी बस्तियों का यदि विकास हो रहा है तो इसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व नगरपालिका और सरकार पर है। यदि शहर का विकास सुनियोजित और योजनाबद्ध ढंग से किया जाए तो गंदी बस्तियों का विकास शायद इस रूप में संभव न हो पाता और ये शहर और मानवता के कलंक न बन सकते।

दुष्परिणाम—धरती के ये नरक सभ्य मानव जाति के लिए कलंक हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ से असंख्य बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं और सम्पूर्ण समाज को निगल जाती हैं। गंदी बस्तियों के दुष्परिणाम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझे जा सकते हैं।

विशेष

यह वह स्थान है जहाँ कमरों में भीड़ रहती है और व्यक्ति एकांत के लिए व्याकुल रहता है। एक-कमरे में 10-15 व्यक्ति रहते हैं। इनमें कुछ भी गोपनीय नहीं रहता है। शीघ्र ही बच्चे बुरी आदतों को ग्रहण कर लेते हैं।

गन्दगी से परिपूर्ण यह स्थान बीमारियों के केंद्र हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह मानव समाज नरक है। यहाँ सब कुछ प्रदूषित है। न यहाँ शुद्ध जल है न वायु और न वातावरण बच्चे इस नारकीय स्थान में रहते हैं। यहाँ क्षय रोग सामान्य बात है। पेचिश, डायरिया तथा अनेक रोग यहाँ के बच्चों की विशेषता है।

बच्चे सामाजिक बुराइयों के बीच जन्म लेते हैं। इनके चारों तरफ असामाजिक वातावरण होता है। ये सहज ही बुराइयों को अपना लेते हैं और बचपन से ही ये सब करने लगते हैं जो अपराध है। इनके माध्यम से ही चरस, गाँजा कच्ची शराब बेची जाती है। यह अनैतिक यौन संबंधों की दलाली करते हैं। जुओं के अड्डों की देख-रेख करते हैं। इन्हें इसी रूप में प्रशिक्षित किया जाता है। आगे चलकर यह गंभीर अपराधी बनते हैं।

यहाँ व्यक्तित्व और परिवार का निर्माण होता। अधिकांश परिवार अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उचित व अनुचत सभी प्रकार के कार्य करते हैं। शराब, जुआ, अनैतिक यौन संबंध, चोरी आदि व्यक्ति को

जहाँ नष्ट करते हैं वही परिवार को भी विघटित करते हैं। बच्चे इसे देखकर अपने पूर्वजों की परंपरा का निर्वाह भविष्य में भी करते हैं।

ये वे स्थान हैं जहाँ सामाजिक आदर्श, मूल्य, नैतिकता, सहिष्णुता आदि के दर्शन नहीं होते हैं। ये अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। इन्हें खरीदकर इनसे कुछ भी कराया जा सकता है। अराजक तत्व यहाँ बनाये जाते हैं। ये वे व्यक्ति हैं जो समाज में गड़बड़ियाँ उत्पन्न करने के लिए खरीदे जाते हैं। इस प्रकार के कार्यों से समाज विघटित होता है।

गंदी बस्तियों की व्याख्या करते हुए डॉ राधा कमल मुखर्जी ने लिखा है—''औद्योगिक केंद्रों की हजारों मलिन बस्तियों ने मनुष्यत्व को पशु बना दिया है, नारीत्व का अनादर होता है और बाल्यावस्था को आरम्भ में ही विषाक्त किया जाता है। ग्रामीण सामाजिक सहिता श्रमिकों को औद्योगिक केंद्रों में अपनी पत्नियों के साथ रहने के लिए हतोत्साहित करती है। ऐसी दशा में जहाँ कम आयु में विवाह प्रचलित है, वहाँ युवा श्रमिक, जिन्होंने अपना वैवाहिक जीवन प्रारंभ ही किया है, शहर के आकर्षण से प्रभावित होते हैं।

भारत में गंदी बस्तियों की समस्याएँ पाश्चात्य देशों की बस्तियों की समस्याओं से भिन्न हैं। यहाँ गंदी बस्ती का अर्थ गन्दगी और बीमारी से बसर कर रहे छोटे-छोटे, टूटे-फूटे मकानों में रह रहे लाखों लोगों से है, जो गरीबी रेखा के नीचे बसर कर रहे हैं, सीमांत जन समूह हैं। अंग्रेजी में इसे 'मारनल पोपुलेशन' कह सकते हैं। जो भी हो इन सब गंदी बस्तियों की जीवन प्रणाली अलग ही है। इन बस्तियों में निवास कर रहे लोग अलग है तथा इन लोगों का दृष्टिकोण और इनकी सामाजिक व्यवस्था समाजशास्त्रियों के अध्ययन के लिए रूचि कर विषय है।

गंदी बस्ती का विकास शहर के विकास के साथ जुड़ा हुआ है और इसके साथ तरह-तरह की समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि शहरीकरण ने गंदी बस्तियों को जन्म दिया है और इन गंदी बस्तियों ने नई समस्याएँ एवं चुनौती पैदा की है। मैक्स वेबर के अनुसार ''जब-जब शहर से महानगरों का विकास होता है, तब-तब भ्रष्टाचार के नये-नये रूप भी प्रकाश में आते हैं।''

गंदी बस्ती तथा उनके जैसी सघन मुहल्लों की संख्या भारत के शहरों से दिन-व-दिन बढ़ती जा रही है। 1969 के एक सर्वेक्षण के अनुसार मुम्बई में कुल 206 बस्तियाँ थीं जिसमें कुल 6,31,000 लोग रहते थे। 1991 के जनगणना के अनुसार पटना शहर की आबादी लगभग 9.18 लाख थी। इनमें से 3.43 लाख आबादी पटना की 68 गंदी बस्तियों में रहती थी। यह शहर की कुल जनसंख्या का 37.3 प्रतिशत था। इन केंद्रों में प्रति वर्ग किलोमीटर जनसंख्या का घनत्व 44-84 था।

वर्तमान आर्थिक स्तर पर भारत कुपोषण की समस्या को कुछ कारगर तथा उपयुक्त योजनाओं के द्वारा 50 प्रतिशत तक खत्म कर सकता है। बच्चों में समुचित पोषण मूल्य को सुनिश्चित करने के काम में महिलाएँ ही महत्वपूर्ण कदम उठा सकती हैं। बच्चों तथा परिवार के पोषण के स्तर में सुधार लाने के लिए महिलाओं को पोषण संबंधी जानकारी अच्छी तरह देनी होगी जिससे वे उन्हें अपनी रोजमर्रा की आदतों में शामिल कर सकें।

मनुष्य की तीन मूलभूत आवश्यकताएँ हैं—भोजन, वस्त्र और आवास।

भोजन करना प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन का एक अनिवार्य भाग है। भोजन के बिना कोई व्यक्ति कुछ ही दिनों तक जीवित रह सकता है तथा कुछ समय में शरीर में उपस्थित भोज्य तत्व निरन्तर व्यय होते रहते हैं व अंत समय तक व्यक्ति कंकाल मात्र ही रह जाता है। अत: यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ व क्रियाशील रखना है तो प्रतिदिन आवश्यकतानुसार भोजन लेना अनिवार्य होगा।

भूख लगना प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों में से एक है। भूख मिटाने के लिए हम भोजन करते हैं। भोजन न करने से हमारा शरीर दुर्बल हो जाता है तथा हम विभिन्न प्रकार के रोगों के शिकार हो जाते हैं। इस तरह भोजन न केवल हमारे भूख को मिटाता है बल्कि यह हमारे शरीर का निर्माण करता है, शरीर को ऊर्जा यानि शक्ति प्रदान करता है तथा हमारे शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

भोजन ही आहार है, हम आहार को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटते हैं—(क) अपर्याप्त आहार तथा (ख) पर्याप्त या सन्तुलित आहार।

अपर्याप्त आहार वह आहार है जो भूख को शांत करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के भोजन से हमारी भूख तो मिट जाती है एवं शरीर क्रियाशील रहता है पर ऐसे भोजन में पौष्टिक तत्वों की कमी के कारण शरीर में रोग निरोधक क्षमता नहीं रहती है।

दूसरी ओर सन्तुलित आहार वह भोजन है जिसमें सभी पौष्टिक तत्व उचित मात्रा में रहते हैं। दूसरे शब्दों में ये कहा जा सकता है कि सन्तुलित आहार है जिसमें शरीर में समस्त पोषण-संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सभी पोषक तत्व उचित मात्रा में उपलब्ध रहता है। इसलिए सुपोषित भोजन हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है, पोषण उन प्रतिक्रियाओं का संयोजन है जिनके द्वारा जीवित प्राणी अपनी क्रियाशीलता को बनाये रखने के लिए तथा अपने अंगों की वृद्धि एवं उनके निर्माण हेतु आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करता है एवं उनका उपभोग करता है। इस प्रकार पोषण शरीर में भोजन के विभिन्न कार्यों को करने की सामुहिक प्रतिक्रियाओं का ही नाम है।

अपर्याप्त भोजन या कुपोषण के दुष्परिणाम निम्नलिखित लक्षणों के रूप में प्रकट होते हैं—

- शरीर कमजोर होने लगता है क्योंकि शरीर को पर्याप्त ऊर्जा प्रदान करने वाले भोजन तत्वों की कमी के कारण पूरी शक्ति नहीं मिल पाती है।
- शरीर में रक्त की कमी होने लगती है।
- शरीर में वजन क्रमशः कम होने लगता है।
- त्वचा, शुष्क, खुरदुरा एवं झुर्रीदार हो जाती है।
- मांसपेशियाँ ढीली-ढाली एवं शिथिल हो जाती हैं।
- अस्थियों की वृद्धि एवं विकास की गति में रुकावट हो जाती है जिसका शारीरिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
- नेत्रों की ज्योति कम हो जाती है और बच्चे रतौंधी के शिकार हो जाते हैं।
- शरीर की रोग-निरोधक क्षमता का ह्रास हो जाता है जिससे बच्चे बार-बार बीमार पड़ते हैं।
- थकान का अनुभव बड़ी शीघ्रता से होने लगता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि भोजन में कई रासायनिक पदार्थ उपस्थित होते हैं ये भोज्य तत्व ही हमारे शरीर को स्वस्थ रखने व क्रियाशील रखने के लिए उत्तरदायी होते हैं। ये तत्व कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज तत्व, विटामिन व जल है, जो भोजन में विभिन्न अनुपातों में उपस्थित रहते हैं। इन तत्वों से शरीर को क्रियाशील रखने के लिए ऊर्जा तथा शरीर को गर्म रखने के लिए ऊर्जा की प्राप्ति होती है। निरन्तर परिवर्तन होते रहना जीवित पदार्थों का एक विशेष गुण है। मनुष्य के शरीर में भी निरंतर परिवर्तन होते रहता है। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में शरीर में बराबर वृद्धि व विकास होता रहता है तथा विभिन्न अंगों के क्रियाशील रहने के कारण उनकी कोशिकाओं से बराबर टूट-फूट का निर्माण करने में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त भोज्य के तत्व हमारे शरीर में होने वाली विभिन्न जटिल प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित करता है जिससे हमारा स्वास्थ्य उत्तम रहता है तथा रोगादि से बचा रहता है।

गंदी बस्तियों में निवास करने वाले परिवारों में निर्धनता के परिणामस्वरूप समुचित मात्रा में भोजन उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। श्रम के अनुरूप शरीर में ऊर्जा प्राप्त करने के लिए प्रचुर मात्रा में भोजन नितांत आवश्यक है। गंदी बस्तियों में निवास करने वाले दैनिक मजदूर, ठेला मजदूर, रिक्शाचालक, खोमचावाले तथा निम्न आय वर्गीय व्यक्ति होते हैं। अशिक्षा एवं अज्ञानतावश इनके परिवारों की संख्या अधिक होती है। अपनी

सीमित आय से वे अपने परिवार का भरण-पोषण सही ढंग से नहीं कर पाते हैं। निर्धनता इनके लिए अभिशाप है। भोजन की समुचित मात्रा उपलब्ध नहीं होने से ये बच्चे अपने बाल्यकाल में ही अनेक रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। इनका शारीरिक एवं मानसिक विकास शिथिल पड़ जाता है। आवश्यकता इनके लिए समुचित भोजन उपलब्ध करवाने की है। वर्तमान में सरकार ने इन गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों को लाल कार्ड वितरण की व्यवस्था करने का प्रयास किया है, जिसके अंतर्गत उन्हें उचित मात्रा में उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराये जायेंगे। लेकिन सरकारी तंत्र उन्हें सही तरीके से उपलब्ध करा पायेगा या नहीं विचारणीय प्रश्न है? द्वितीय, वस्त्र मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है। गंदी बस्तियों में निवास करने वाले लोगों की यह एक समस्या है। वे मैले कुचैले कपड़े धारण करते हैं। लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जिन निर्धन व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा में भोजन उपलब्ध नहीं होता है उन्हें अच्छे वस्त्र नसीब कहाँ होंगे उनके बच्चे नंग-धड़ंग अवस्था में इन बस्तियों में रहते हैं, कुछ पहनते भी हैं तो वे मैले-कुचैले होते हैं जिससे महामारी तथा अन्य रोग होने का खतरा रहता है। इस अवस्था में इनके बच्चे प्राय: अस्वस्थ रहते हैं। समुचित चिकित्सा व्यवस्था के अभाव में वे अकाल ही काल कवलित हो जाते हैं। इस असहनीय पीड़ा से त्रस्त इनके परिवार के अन्य सदस्य चोरी, डकैती एवं अन्य अनैतिक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं।

तृतीय, गंदी बस्तियों में निवास करने वाले लोगों की मुख्य समस्या आवास की समस्या है। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण ने अनेक समस्याओं को शहर में उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त किया है। निर्धन ग्रामीण व्यक्ति जीविका की खोज में शहरों और विशेषतया औद्योगिकनगरों में बड़ी संख्या में आ रहे हैं। उसे पेट भरने के लिए यहाँ कोई-न-कोई काम मिल जाता है किन्तु रहने के लिए स्थान नहीं मिल पाता है। उसे इतना भी स्थान नहीं मिलता, जहाँ वह खाना बना सके, रात में सो सके और अपना खाली समय व्यतीत कर सके। निर्धन श्रमिक और वेतन भोगी व्यक्ति की इतनी आय नहीं है कि वह भूमि का क्रय करके अपना मकान बना सके और यदि किसी प्रकार उसने कोई टुकड़ा भूमि खरीद भी लिया तो उस पर मकान बनाना उसकी शक्ति के बाहर होता है। आवास की सुविधाएँ नाम की कोई चीज यहाँ नहीं होती। यह वे स्थान हैं जहाँ जिंदगी चिरस्थायी है। यह शहर के नरक, कलंक और अभिशाप हैं।

गंदी बस्तियों को साफ करने पर नियुक्त परामर्शदाता समिति के अनुसार औद्योगिक शहरों में 6 प्रतिशत से 7 प्रतिशत से लोग बस्तियों में रहते हैं। ग्रामीण व्यक्ति छोटे-से कच्ची मिट्टी के मकान में रहता है अथवा वहाँ असंख्य घास, फूस के छप्पर वाले मकान हैं। मिट्टी के बने मकानों में बारहों मॉस सीलन बनी रहती है। इसके साथ ही उस छोटे-से मकान में अनेक व्यक्ति रहते हैं। निर्धन ग्रामीण बड़े मकान की कल्पना भी नहीं कर सकता है। जिन मकानों में निर्धन रहता है वहाँ अँधेरा उसका साथी है और जीवन सुरक्षा नाम की कोई चीज इन मकानों में नहीं होती है। शहर और महानगरों में आवास समस्या के अनेक कारण हैं जो परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह एक सामान्य तथ्य है कि किसी भी गंभीर समस्या का जन्म किसी एक कारण से नहीं वरन अनेक कारणों से होता है।

सरकार द्वारा आवास समस्या के निराकरण के प्रयास गंदी बस्तियों को हटाने और उनका सुधार करने के लिए सरकार कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। गंदी बस्तियों को हटाने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 20 करोड़ रुपये निश्चित किये गये। वर्तमान में 114.86 करोड़ रुपये राज्यों के लिए आवास योजनाओं के लिए आवास योजनाओं में व्यय करने हेतु प्रदान किये गये हैं। सरकार आवास समस्या के समाधान हेतु सदैव जागरूक रही है। उसने कमजोर वर्ग और औद्योगिक श्रमिकों के लिए अनेक शहर और महानगरों में मकानों का निर्माण किया है। उसने निम्न और मध्यम आय वर्ग के लिए विशेषतया लाखों मकानों का निर्माण करके उन्हें सरल किश्तों पर बेचा जा रहा है।

गंदी बस्ती में पोषाहार एवं कुपोषण-पोषण राष्ट्रिय विकास का मूल घटक है। कुपोषण पर ध्यान देना एक नैतिक आवश्यकता है। कुपोषण समाज में अस्वीकार्य है क्योंकि वह व्यक्ति के उपयुक्त पोषण के अधिकार का हनन करता है। यह पोषण मानव संसाधनों की गुणवत्ता पर आधारित होती है जो कि आबादी के

स्वास्थ्य तथा पोषक स्तर द्वारा देखभाल। इसकी पूर्ति के लिए संसाधनों की पहचान तथा साथ-साथ समुदायों का सशक्तिकरण और गरीब वर्गों के लिए सहायक योजना का होना जरुरी है।

कुपोषण और लघु पोषण अपूर्णता, कार्य के परिणाम तथा गुणात्मक उत्पादकता के संदर्भ में, निम्न श्रम उत्पादकता का कारण होता है। इसके कारण बच्चों में शैक्षणिक उपलब्धियाँ निम्नतम होती जाती हैं, स्कूलों में नामांकन तथा उपस्थिति की दर कम होती है। तथा बच्चों में स्वास्थ्य तथा मृत्यु दर में बढ़ोतरी होती जाती है। जिस प्रकार उन्नत उत्पादकता ज्यादा मुनाफा देती है उसी प्रकार उन्नत पोषण उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ श्रम आय में वृद्धि करेगा। इस प्रकार उन्नत पोषण दो महत्वपूर्ण तथ्यों को प्राप्त करने में मदद करता है—उत्पादकता में वृद्धि तथा उससे उत्पन्न लाभों का वितरण।

कुपोषण नियंत्रण नीतियों की मूलत: दो विचारधाराएँ हैं। पहले सिद्धांत के अनुसार कुपोषण मूलत: गरीबी का परिणाम है। अत: इसे दूर करना गरीबों की उत्पादकता में वृद्धि, आय के स्तर को ऊँचा करने एवं खाद्य प्रणाली के वितरण पर निर्भर करता है। दूसरा सिद्धांत इस अवधारणा पर आधारित है कि लोग कुपोषण के शिकार इसलिए होते हैं क्योंकि वे समुचित पोषण स्तर तथा स्वस्थ वातावरण को सुनिश्चित करने वाले संसाधनों का उचित उपयोग नहीं कर पाते। इसलिए कुपोषण का सामना करना घरेलू संसाधनों का उपयोग, निरक्षरता के समापन, पोषण संबंधी जानकारियों में वृद्धि तथा सही आदर्शों के विकास पर ही निर्भर करता है।

नया विकास प्रतिमान गरीबों द्वारा पोषण-संबंधी समस्याओं के समाधान पर जोर देता है। उनकी सामना करने की रणनीतियों को पहचानकर सशक्त बनाया जा रहा है। सबकी भागीदारी मुख्यत: महिलाओं की भागीदारी सशक्तिकरण की ओर ले जाएगी जिससे स्थानीय संसाधनों को कायम तथा संघटित रखा जाएगा। ज्ञान और जानकारी, जो कि सशक्तिकरण का मुख्य घटक है, समस्याओं की जड़ों के विश्लेषण में मदद करता है तथा संसाधनों द्वारा उपर्युक्त कार्यवाही में मदद करता है।

6 वर्ष से कम उम्र में बच्चों में शारीरिक विकास का अभाव देखा गया है जो कुपोषण के कारण पूरे देश में व्याप्त है। नवजात शिशुओं और बच्चों में मृत्यु का कारण यह है कि करीबन 30 प्रतिशत बच्चे 2.3 किलोग्राम से भी कम वजन के होते हैं। अधिकांशत: स्कूल जाने से पूर्व की उम्र के बच्चों में करीब 69 प्रतिशत कम वजन के, जिसमें 9 प्रतिशत गंभीर कुपोषण से ग्रस्त रहते हैं तथा 65 प्रतिशत अविकसित तथा 20 प्रतिशत अत्यंत दुर्बल होते हैं। 6 महीनों की उम्र वह नाजुक समय है जब शिशु होता है और 24 महीने की उम्र तक चलता है। कुपोषण 6 महीने से 2 वर्ष की उम्र के बच्चों को ज्यादा प्रभावित करता है।

प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण विकास में अवरोध व शरीर के वजन में कमी तथा अन्य दुर्बलताएँ विशेषतया छोटे बच्चों में मृत्यु के खतरे को बढ़ाता है।

यह बात प्रमाणित हुई है कि कुपोषण से ग्रस्त बच्चों को भविष्य में अपकर्षक बिमारियों जैसे उच्च रक्तचाप तथा मधुमेह होने की संभावना रहती है। बच्चों के विकास को कायम रखने में परिवारों की अक्षमता के ये कारण हो सकते हैं।

- खिलाने की गलत आदतें।
- माता की तरफ से अनजाने में होने वाली बाधाएँ।
- संक्रमण बीमारियों का बार-बार होना।
- कई बार शरीर की ऊर्जा संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए क्रयशक्ति का अभाव।
- अपर्याप्त भोजन लेना, उन घरों में जहाँ भोजन की कमी न हो।
- बच्चों के विकास और देख-रेख संबंधी जानकारी एवं कुशलताओं का अभाव एवं कमी।
- बच्चों के जीवन की अच्छी शुरुआत को बढ़ावा देने के लिए 6 से 24 महीनों के बीच बच्चों को कुपोषण का शिकार होने से बचाना होगा।

कुपोषण को कम करने के लिए उसके कारणों पर ध्यान देना होगा, जैसे अपर्याप्त औजार और संक्रमण/बीमारी तथा खाने-पीने की सही आदतों को डालने में तेजी लानी होगी। कुपोषण की स्थिति में सुधार लाना एक चुनौती है। यह परिवार के सदस्यों, समुदायों तथा इस क्षेत्र में काम करने वालों पर निर्भर करता है। कुपोषण की रोकथाम या उसको नियंत्रण में लाने के लिए उनको जागृत होना होगा।

बिहार की आबादी का 40.8 प्रतिशत गरीबी रेखा से नीचे जी रहा है। हालाँकि समूचे राज्य के लिए कोई प्रमाणिक आँकड़ा उपलब्ध नहीं है फिर भी राष्ट्रीय पोषण संस्थान द्वारा नमूने के तौर पर किये गए अध्ययन से ज्ञात होता है कि राज्य में लगभग 11 प्रतिशत बच्चे श्रेणी तीन और श्रेणी 4 के कुपोषण से, 32 प्रतिशत बच्चे दो के कुपोषण से तथा 36 प्रतिशत बच्चे श्रेणी एक के कुपोषण से ग्रसित हैं। सिर्फ 12 प्रतिशत बच्चे ही सामान्य श्रेणी के हैं। इस प्रकार यह लगता है कि बिहार में लगभग 79 प्रतिशत बच्चे किसी न किसी श्रेणी के कुपोषण के शिकार हैं।

एक अन्य विश्लेषण बच्चे के जीवन के दूसरे वर्ष के निर्णायक महत्त्व के बारे में बताता है कि 1 से 2 वर्ष के आयु वाले 86 प्रतिशत बच्चे कुपोषित पाये गए हैं, जिसमें से 18 प्रतिशत गंभीर कुपोषण के शिकार हैं। तदापि 1 वर्ष की आयु वाले लगभग 36 प्रतिशत बच्चे पोषण के मामलों में सामान्य स्तर के हैं। यह आँकड़ा 1 से 2 वर्ष के बच्चों के मामले में 14 प्रतिशत तक कम हो जाता है।

हालाँकि शिशु जन्म के समय तथा उसका वजन को जानने के लिए राज्य में कोई प्रमाणिक आँकड़ा उपलब्ध नहीं है फिर भी ऐसा अनुमान है कि लगभग एक तिहाई जन्म लेने वाले बच्चे सामान्य से कम, यानी 2.5 के० जी० से कम वजन के होते हैं। हाल ही में राज्य के विभिन्न जिलों में एक अध्ययन किया गया था, जिसमें पाया गया था कि उनमें 59.6 प्रतिशत महिलाओं ने अपने पहले बच्चे को जन्म अपने 20 वर्ष पूरे होने के पूर्व ही दे दिया था।

किशोरावस्था की गर्भावस्था और यह तथ्य कि तीन चौथाई गर्भवती महिलाएँ पोषाहारीय, रक्ताल्पता की शिकार होती हैं, इस संभावना को बल देता है कि जन्म के समय कम वजन वाले बच्चों का प्रतिशत अधिक है।

एक उम्र के विवाह और कम उम्र के गर्भाधान, यानी ''काफी पूर्व काफी नजदीक काफी अधिक काफी विलम्ब'' के परिणामस्वरूप ही राज्य में माताओं के पोषण का स्तर अत्यन्त ख़राब है जैसा कि ऊपर अंकित है, राज्य का लगभग तीन चौथाई गर्भवती महिलाएँ रक्ताल्पता से ग्रसित हैं और उसमें सुधार के कोई आसार नजर नहीं आते हैं।

सूक्ष्म पोषक पदार्थों का अभाव

विटामिन 'ए'—हालाँकि बिहार के लिए अलग से कोई आँकड़ा मौजूद नहीं है फिर भी ऐसा अनुमान लगाना वास्तविकता से बहुत भिन्न नहीं होगा कि पोषाहार की कमी के कारण भारत में हर वर्ष जो 40000 लोग अन्धे हो जाया करते हैं उनमें से 10 प्रतिशत बिहार के ही होंगे। इसी प्रकार देश में विटामिन 'ए' के अभाव से ग्रसित जो लगभग 10 लाख बच्चे हैं उनमें से निश्चित तौर पर 10000 बिहार के होंगे। राँची में किये गए एक छोटे अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि बच्चों में अधिकतर बालिकाएँ ही विटामिन 'ए' की कमी से ग्रसित होती है।

आयोडीन की कमी से होने वाले विकार—समूचा बिहार आयोडीन की कमी से होने वाले विकारों के दायरे में है। इसकी कमी से घेघा जैसे बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, जो बच्चे के विकास में बाधक है।

इस तरह माताओं की अशिक्षा, अज्ञानता अंधविश्वास, रूढ़िवादिता के चलते बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि इनकी आर्थिक स्थितियाँ दयनीय होती हैं तथा परिवार में बच्चों की संख्या अधिक होती है। जिसके चलते बच्चे को उपयुक्त आहार उपलब्ध नहीं हो पाता है। अपर्याप्त आहार के कारण बच्चों को पौष्टिक तत्व नहीं मिल पाते जिसके कारण रोग निरोधक क्षमता कम हो जाती है और वे अनेक बीमारियों तथा शारीरिक विकास का अवरुद्ध होना, रक्तहीनता का शिकार, मांसपेशियों का शिथिल हो जाना, मानसिक विकास अवरुद्ध होना, चिड़चिड़ापन आना आदि से ग्रसित हो जाते हैं।

भोजन तथा उसके पोषक तत्व—मनुष्य जो भोजन करता है उसका शरीर में पाचन हो जाता है। और वह उतकों के विकास तथा रख-रखाव में प्रयुक्त होता है। भोजन के बिना जीवन नहीं चल सकता। इसीलिए, प्रत्येक जीवधारी अपनी भोजन आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित अतिमात्र प्रयत्न करता है। वनस्पति वर्ग तो मिट्टी, पानी और हवा की कार्बन डाईआक्साइड से अपने लिए यथेष्ट भोजन का निर्माण करता है किन्तु पशुओं में भोजन के निर्माण करने की क्षमता नहीं होती। इसलिए वे वनस्पति जगत व अन्य पशुओं पर निर्भर रहकर अपना भोजन प्राप्त करते हैं।

पशु जगत अपनी भोजन आवश्यकताओं की पूर्ति मुख्यत: प्राकृतिक वरण के सिद्धांत के अनुरूप करता है अर्थात् वह उन पौधों और पशुओं का चयन करता है जो विकासवादी सिद्धांतों के अनुसार जीवित रहने के योग्य नहीं हो। परन्तु मानव को अपनी आहार पूर्ति के लिए अनेक खाद्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें से वह इच्छानुसार चुनाव कर सकता है। चूँकि सारे ही खाद्य पदार्थ एक से पोषक मूल्य के नही होते हैं, अत: मानव स्वास्थ्य उन खाद्य द्रवों की संरचना तथा उनकी मात्रा पर निर्भर रहता है जिन्हें वह अपनी क्षुधातृप्ति के लिए चुनता है। भूख एक जन्मजात प्रवृति है। भोज्य पदार्थों को जीवन के रूप में ग्रहण किया जाता है। इनमें से कुछ शरीर निर्माण तथा मरम्मत के लिए जरूरी है, कुछ से ऊर्जा यानि कार्य करने की शक्ति मिलती है। कुछ खाद्यों से शरीर को रोग अवरोधक शक्ति मिलती है जिससे वह वातावरण के सूक्ष्म जीवाणुओं से अपनी रक्षा करके, अपने को स्वस्थ बनाए रख पाता है।

हमारे जीवन में कुछ स्वास्थ्यप्रद पदार्थ होते हैं जिन्हें पोषक तत्व कहा जाता है। पोषक तत्व हमारे शरीर के लिए निम्नलिखित कार्य करते हैं—

- शरीर को सुविकसित करते हैं।
- व्यक्ति का भार उसकी ऊँचाई एवं आयु के अनुकूल रखते हैं।
- मांसपेशियों को सुदृढ़ एवं सुविकसित करते हैं।
- पोषक तत्वों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य हमारे शारीरिक गठन को ठीक बनाए रखना है जैसे की सीधा ताना हुआ, सीना ताना हुआ, कंधे सपाट, पेट अन्दर की ओर तथा लचीले कदम।
- पोषक तत्व त्वचा को चिकनी एवं स्वस्थ बनाए रखते हैं।
- ये हमारे बाल को चिकने एवं चमकीले रखते हैं।
- पोषक तत्वों से हमारी आँख की ज्योति ठीक रहती है।
- ये हमारे शरीर को शारीरिक एवं मानसिक रूप से क्रियाशील रखते हैं।
- इस तरह कहा जा सकता है कि विभिन्न पौष्टिक तत्वों की उचित मात्रा में लेने से।
- हमारा शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य ठीक रहता है।
- हमारे शरीर में रोग निरोधक क्षमता आती है।
- हमारी शारीरिक कार्यक्षमता एवं कुशलता में बढ़ोत्तरी होती है।
- मानसिक संतुलन बना रहता है।
- हम दीर्घायु होते हैं।

भोज्य पदार्थों में कई पोषक तत्व होते हैं तथा ये विभिन्न कारकों से हमारे स्वास्थ्य के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं—

प्रोटीन—प्रोटीन हमारे लिए एक महत्वपूर्ण पोषक तत्व है क्योंकि (क) यह हमारे शरीर की कोशिकाओं का निर्माण, वृद्धि, गठन एवं उसकी क्षति पूर्ति करता है जिससे हमारे अंग-प्रत्यंगों का उचित गठन

एवं विकास होता है। (ख) यह बच्चों की शारीरिक वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। (ग) रोग निरोधक क्षमता को बढ़ाता है।

कार्बोहाइड्रेट—यह एक महत्वपूर्ण पोषक तत्व है इसका मुख्य काम शरीर के लिए ऊर्जा उत्पन्न करना है। ऊर्जा ही शरीर की सभी ऐच्छिक एवं अनैच्छिक क्रियाओं के लिए गति एवं शक्ति प्रदान करता है।

वसा—वसा भी एक ऊर्जा पोषक तत्व है क्योंकि (क) वसा से अधिक मात्रा में अधिक समय तक स्थायी ऊर्जा उत्पादित होती है, (ख) हृदय की मांसपेशियों को मुख्य रूप से ऊर्जा वसा से ही प्राप्त होती है, (ग) आंतरिक अवयवों के चारों ओर जमा होकर स्थिरता प्रदान करते हैं, (घ) कोशिकाओं की रचना में भाग लेते हैं, (ङ) आकस्मिक आघात के समय शरीर की यथाशक्ति रक्षा करते हैं।

विटामिन 'ए'—हमारे स्वास्थ्य के लिए यह एक अति आवश्यक पौष्टिक तत्व है क्योंकि—

यह शरीर वृद्धि में सहायक होता है उसकी लम्बाई ठीक तरह से होती है।

यह रात में अँधेरे में अच्छी तरह दिखाई देने के लिए दृष्टि शक्ति बनाए रखता है।

उपकला की कोशिकाओं को मजबूत बनाने में और उसके पुनर्निर्माण में सहायक होता है।

विटामिन 'डी'—हमारे स्वास्थ्य के लिए विटामिन 'डी' कई तरह से लाभदायक होते हैं—

यह रक्त में कैल्सियम की मात्रा को नियमित बनाए रखता है।

यह रक्त में ऐलकेलाइन फास्फेटेन एंजाइम को भी नियमित बनाए रखता है जिससे यह एंजाइम कैल्सियम एवं फास्फोरस को हड्डियों एवं दाँतों से संचित किये रखता है।

विटामिन 'डी' कैल्सियम एवं फास्फोरस के अवशोषण में सहायक होता है, जिससे हड्डियों एवं दाँतों को यह खनिज पदार्थ उचित मात्रा में मिलता रहता है।

विटामिन 'के'—यह रक्त स्राव को रोकता है।

थायामिन—थायामिन से तंत्रिका दर्द या न्यूराइटिस को दर्द नहीं होने देता है।

राईवोकलेविन—यह विटामिन हमारे आँख, मुँह एवं त्वचा की उचित देखभाल करता है।

नियासिन—यह रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा को कम करता है।

फोलिक एसिड—यह रक्त कणियों का निर्माण करता है और उन्हें परिपक बनाता है।

विटामिन 'सी'—यह कई प्रकार से हमें लाभान्वित करता है, जैसे—

यह कोयलेजन की मजबूती एवं उसका नवनिर्माण करता है।

रक्त धमनियों की भीतरी भित्तियों पर कोलस्ट्रोल के जमाव को रोकता है।

नाक, गले एवं साँस नलिकाओं की कोशिकाओं को दृढ़ता प्रदान करता है।

कैल्सियम—कैल्सियम हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि—

यह हड्डियों को बनाने एवं दृढ़ता प्रदान करने के लिए काम करता है।

शरीर की वृद्धि करता है।

दाँतों का निर्माण एवं मजबूती प्रदान करता है।

आंतरिक ग्रंथियों की स्राव निर्माण में सहायक है।

लोहा—यह हिमोग्लोबिन का निर्माण करता है, रक्त के लाल कणियों के मुख्य तत्व हैं जिसके अभाव में रक्त कणियाँ अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर पाती हैं।

ऊर्जा प्राप्ति के लिए भोजन की आवश्यकता—भोजन से जो मुख्य चीज हम प्राप्त करते हैं वह ऊर्जा है। जिस प्रकार मोटर कार पेट्रोल का प्रयोग करती है, उसी प्रकार हमारा शरीर ऊर्जा के रूप में भोजन प्राप्त करता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि शरीर ऊर्जा के लिए भोजन को जलाता है। सुप्रवस्था में भी

शरीर के कुछ अवयव सक्रिय रहते हैं दिल धड़कता रहता है, फेफड़े सांस लेते हैं और पाचन प्रक्रिया कार्यरत रहती है। अत: बुनियादी तौर पर कुछ ऊर्जा की जरुरत होती है। जितना अधिक शारीरिक परिश्रम होगा उतनी ही अधिक ऊर्जा की और उसी अनुपात में अधिक भोजन की आवश्यकता होगी, इस ऊर्जा को मापा कैसे जाता है? जिस प्रकार कपड़े को मीटरों में और समय को घंटों और मिनटों में मापा जाता है उसी प्रकार ऊर्जा को कैलोरीयों में। उसे लगभग 1500 कैलोरी बुनियादी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त 100-1300 कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता सामान्य शारीरिक क्रियाओं के लिए होती है। अत: एक सामान्य व्यक्ति को 2600-2800 कैलोरी ऊर्जा की जरुरत होती है। छोटा आकार के होने के कारण महिलाओं को कैलोरी की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम होती है, परन्तु गर्भाधारण और बच्चे को स्तनों से दूध पिलाने की अवधि में यह बढ़ जाती है। बच्चों की आवश्यकता उनके आकार तथा आयु पर निर्भर करती है।

मात्रक शरीर भार के आधार पर व्यक्ति की अपेक्षा एक शिशु तथा छोटे बच्चों के लिए पौष्टिक भोजन की अधिक मात्राओं में आवश्यकता होती है। वयस्कों की भाँति, एक क्रियाशील और स्वस्थ बच्चे की ऊर्जा तथा ऊतकों की टूट-फूट की मरम्मत के लिए भोजन चाहिए। इसके अतिरिक्त शरीर के अंग प्रत्यंग की निरन्तर वृद्धि की पूर्ति के लिए फालतू पोषण की आवश्यकता होती है। बच्चा जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अपनी क्रियाशीलता के क्षेत्र को बढ़ाता जाता है। यह नन्हा सा बालक जितनी देर जागता है, उतनी देर उद्यम मचाता रहता है। परिणामत: उसकी ऊर्जा मांगे अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी हो जाती है, यहाँ तक की मात्रक भार के हिसाब से, शिशु और टूरकते बच्चे के लिए, एक वयस्क की अपेक्षा, ''ऊर्जा उत्पादक'' तथा ''शरीर रचनात्मक'' कार्यों की ज्यादा जरुरत होती है। ऊतक सवर्धन की तीव्र गति तथा ऊर्जा के अधिक व्यय के कारण विभिन्न शारीरिक क्रियाओं के नियमन के लिए तथा बच्चे के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए संरक्षी पोषकों में अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है।

अनुपयुक्त भोजन का प्रभाव—यदि बच्चे को आवश्यकतानुसार पोषण न मिले, तो उस पर किसी-न-किसी प्रकार के कुपोषण का दुष्परिणाम अवश्यम्भावी है। यह दुष्परिणाम आहार में किसी-न-किसी विशेष पोषक तत्व के अभाव के कारण होता है। शिशु का पोषण सही नहीं होने का सुराग हमें उसकी वृद्धि गति में कमी हो जाने से मिलता है तथा कभी-कभी तो उसकी वृद्धि रुक जाती है। यह शिशु कुपोषण के प्रारंभिक लक्षण होते हैं।

निम्नलिखित तालिका 1.1 में वजन और लम्बाई में वृद्धि के आँकड़े दिए गए हैं—

तालिका 1.1 : वजन और लम्बाई में वृद्धि

आयु (महीने)	शरीर ल० बालक	से० मी० बालिका	बालक	भार (कि०ग्र०) में
जन्म के समय	50.6	50.2	3.4	3.4
3	60.4	59.5	5.7	5.6
6	66.4	65.2	7.6	7.3
9	71.2	70.1	9.1	8.7
12	75.2	74.2	10.1	9.8

आरम्भिक सप्ताहों में या तो स्तन्य दुग्ध की कमी से या सही ढंग से यथेष्ट मात्रा में ऊर्जा उत्पादक सम्पूरक आहारों के शुरू करने में देर होने से, यदि उसे ऊर्जा की पूर्ति करने वाले आहार न मिले तो वह थोड़े समय तक अपनी निजी ऊर्जा भंडार से खर्च करके अपना काम निकालता रहता है।

स्तन आहार—माता का दूध शिशु के लिए सर्वोत्तम प्राकृतिक आहार है जिसमें सभी पौष्टिक तत्वों का उचित अनुपात में समावेश रहा है। यह दूध बच्चों के मानसिक एवं शारीरिक विकास के लिए उपयोग होता है।

विशेषता—

- यह प्रकृति प्रदत्त सर्वोत्तम आहार है जो बच्चों के पाचन योग्य होता है।
- यह पूर्णत: जीवाणुरहित होता है और इसमें सभी पोषक तत्व उचित अनुपात में बच्चों की आवश्यकतानुसार होते हैं।
- यह उचित ताप पर बच्चों को हर समय प्राप्त हो जाता है।
- माता के दूध पर अधिक दिनों तक रहने वाले बच्चों में प्राकृतिक रोग प्रतिरोधक क्षमता आ जाती है और वे वायरस रोग तथा गलफुल्ली, मिज्लिस, पोलियों एवं कुछ पाचन-संबंधी रोगों से मुक्त रहते हैं।
- दुग्धपान कराने से माता एवं बच्चे दोनों को मानसिक संतुष्टि मिलती है।

गंदी बस्तियों में रहने वाले बच्चे स्तन-आहार प्रचुर मात्रा में करते हैं, लेकिन निर्धनता के चलते माताएँ सन्तुलित आहार प्रचुर मात्रा में नहीं ले पाती है फलत: उनमें दूध की कमी होती है। परिणामस्वरूप गंदी बस्तियों में रहने वाले बच्चे प्राय: असामान्य किस्म के तथा अनेक रोगों से ग्रस्त रहते हैं। जहाँ तक गंदी बस्तियों में स्तन पान कराने की अवधि का प्रश्न है हमने यह पाया कि आम तौर पर बच्चों को तब तक स्तनपान कराया जाता है, जब तक कि बच्चा स्वयं दूध पीना बंद न कर दे।

स्तनपान करने की अवधि–

अवधि	बारंबारता
6 महीने की उम्र में	5
9 महीने की उम्र में	9
1 वर्ष की उम्र में	29
1-2 वर्ष की उम्र में	38
जब बच्चा पीना बंद कर दे (जब दूध आना बंद हो जाए या माँ पूर्ण)	52
गर्भवती हो जाए	42

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट होता है कि परिवारों में अधिकांश परिवार ऐसे हैं जहाँ बच्चों को स्तनपान करना बंद करने की कोई समय सीमा नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि 26.0 तथा 21.0 प्रतिशत परिवारों में अर्थात् 46.0 प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जहाँ तब तक स्तनपान जारी रखा जाता है जब तक या तो बच्चा स्वयं दूध पीना न बंद कर दे या माँ का दूध आना ही न बंद हो जाए। हालाँकि माँ का पूर्ण गर्भवती होना स्तनपान करना एक प्रक्रिया है जिसके लिए किसी अतिरिक्त धन की आवश्यकता नहीं होती। इन दिनों प्रचार माध्यमों द्वारा भी इससे होने वाले रोगों की जानकारी दी जाती है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि अधिकांश महिलाएँ अज्ञानतावश स्तनपान के संबंध में कई गलत धारणाएँ पास रखती हैं। इनमें मुख्यत: प्रसव के कई घंटे या दिनों के बाद स्तनपान प्रारंभ कराना या अपने बच्चे को प्रथम दूध न पिलाना आदि का कालान्तर में बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है।

तालिका–1.3 जन्म के बाद स्तनपान प्रारंभ करने की अवधि

अवधि (घंटा में)	बारंबारता	प्रतिशत
1-3	48	24.0
4-6	36	18.0
7-12	38	19.0
13-24	28	14.0
24 से ऊपर	50	25.0

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट होता है कि गंदी बस्तियों में लगभग 25 प्रतिशत परिवारों में प्रसव के 24 घंटे बाद बच्चों को माँ के दूध से वंचित रखा जाता है जबकि लगभग इतने ही परिवारों में जन्म से 1-3 घंटे के अंदर स्तनपान प्रारंभ कर दिया जाता है। जन्म के तुरंत बाद स्तनपान करना बच्चों के स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता है जिसकी जानकारी परिवारों को नहीं है। बच्चों के लिए माँ का प्रथम दूध कई रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान करता है तथा प्रतिरोधक शक्ति में विकास करता है, परन्तु अज्ञानतावश कई बार माताएँ इसे फेंक देती हैं।

तालिका–1.4 : बच्चे को प्रथम दूध देना

अवधि	बारंबारता	प्रतिशत
हाँ	86	43.0
नहीं	114	57.0

उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि गंदी बस्तियों में लगभग 43.0 प्रतिशत परिवारों में ही बच्चों को प्रथम दूध दिया जाता है। हालाँकि वैसे परिवारों जहाँ प्रथम दूध पिलायी जाती है उनसे बात करने पर ज्ञात हुआ कि वैसे परिवार जो प्रथम दूध पिलाते हैं कि उन्हें इससे होने वाले रोगों की जानकारी है बल्कि इसके लिए उनकी आर्थिक स्थिति अधिक जिम्मेदार है। साथ ही जब वैसे परिवारों में जो श्वीस नहीं मिलते उनसे पिलाने का जब कारण पूछा गया तो इसके कई कारण बताए जिन्हें नये सारणी में दर्शाया गया है—

तालिका–1.5

कारण	बारंबारता
बच्चा नहीं पचा सकता	42
बच्चे के लिए हानिकारक	36
बच्चे को स्वयं पीने में कठिनाई	32
बुजुर्गों की सलाह पर	28

उपरोक्त सारणी से यह ज्ञात होता है कि वैसे परिवार जिनमें बच्चों के जन्म के बाद श्वीस नहीं दिया जाता है। उसका मुख्य कारण उनमें यह धारणा कि बच्चे नहीं पचा सकते। यह लगभग 30 प्रतिशत परिवारों में है तथा 26.0 प्रतिशत परिवार इसे बच्चों के लिए हानिकारक मानते हैं। लागभग 23 प्रतिशत परिवारों में इसे पीने में बच्चे को कठिनाई होती है।

यदि उपरोक्त कारणों पर गंभीरता से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि ये सभी कारण अज्ञानता या अंधविश्वास की देन है जिनका सीधा संबंध अशिक्षा से है जिसकी गंदी बस्तियों में बहुलता है।

बच्चे के अच्छे स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि 3-4 माह की आयु होते ही उसे पूर्णत: दूध पर न रखकर धीरे–धीरे अर्ध ठोस आहार देना प्रारंभ कर दिया जाए लेकिन गंदी बस्तियों में आमतौर पर ऐसा नहीं किया जाता है।

तालिका–1.6 : बच्चों को पूरक पोषाहार प्रारंभ करने का समय

अवधि	बारंबारता	प्रतिशत
3-4 माह बाद	68	34.0
5-6 माह बाद	48	24.0
7-9 माह बाद	30	15.0
9-12 माह बाद	6	3.0
12 माह से अधिक	2	1.0

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि गंदी बस्तियों में रह रहे लगभग 58.0 परिवारों में 6 माह के अंदर ही बच्चों को पूरक पोषाहार दिया जाना प्रारंभ कर दिया जाता है जबकि 23.0 प्रतिशत इस संबंध में कोई जानकारी नहीं रखते। वैसे परिवार जहाँ 3-4 माह बाद बच्चों को अतिरिक्त पोषाहार दिया जाना प्रारंभ कर दिया जाता है उसका कारण उनकी इस बात के प्रति चेतना न होकर कोई अन्य कारण रहा है जिनमें मुख्यत: दूध पिलाने में आर्थिक कारणों का अभाव जान पड़ा। अत: वे अपनी मजबूरियाँ वश दूध कम होने के बाद धीरे-धीरे चावल का पानी या पतली खिचड़ी आदि जैसी चीजें बच्चे को पेट भरने हेतु देना प्रारंभ करते हैं। अत: इसका अर्थ नहीं होता है कि वे पूर्णत: पोषाहार संबंधी जानकारी रखते हैं और उससे प्रेरित होकर ऐसा किया जाता है।

यदि हम बच्चों को ठोस आहार में दिए जाने वाले वस्तुओं पर गौर करें तो इससे यह स्पष्ट होता है कि इनमें अधिकांश ऐसे ही पदार्थ हैं जिनके लिए कोई विशेष या अतिरिक्त खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती तथा कुल मिलाकर ये बहुत हद तक बच्चों की जरूरतों को भी पूरा करने में समर्थ हैं।

तृणधान्य के पोषक मूल्य—धान्य ऊर्जा के सस्ते एवं महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इसका प्रमुख पोषक तत्व जो ऊर्जा प्रदान करता है वह है स्टार्च, जिसकी औसत मात्रा लगभग 75 प्रतिशत रहती है जिनका प्रमुख भोजन अन्न होता है। उनके लिए यह प्रोटीन का महत्वपूर्ण स्रोत होता है क्योंकि इसमें लायसिन नामक एमिनोएसिड का पूर्णत: अभाव रहता है। जब भोजन में अनाजों से बने व्यंजनों को तरकारी, दाल, दही और दूध आदि के सहत ग्रहण किया जाता है तो यह कमी पूरी हो जाती है और इनका पोषण मूल्य बहुत बढ़ जाता है। अनाजों में पाए जाने वाले प्रोटीन की मात्रा अलग-अलग प्रकार के अनाजों में भिन्न रहती है। ये उनमें उपलब्ध विभिन्न एमिनोएसिड पर निर्भर करती है।

अनाजों के पौष्टिक मूल्य इस बात पर निर्भर करते हैं कि उनका कौन-सा अंश प्रयोग किया जाता है सम्पूर्ण अन्न प्रोटीन और स्टार्च को मुख्य रूप से उपलब्ध करता है। परन्तु परिष्कृत अनाजों में से प्रोटीन खनिज (आयरन तथा फास्फोरस) तथा बी० काम्प्लेक्स का अंश मिलिंग के समय नष्ट हो जाता है। ये मशीनों द्वारा दोनों से अलग कर दिए जाते हैं तथा छानने से उनको हम अपने ही हाथों में फेंक कर अपने को उनसे वंचित कर देते हैं। वस्तुत: ये अनुचित काम है। सम्पूर्ण अनाजों के अपेक्षा अधिक ही विटामिन, खनिज तथा तन्तु रहते हैं तथा ये आहार द्वारा उपलब्ध आयरन फास्फोरस, थायामिन तथा तन्तु के मूल्यवान स्रोत हैं। अनाजों बिना टूटे साबित दोनों में से उपरोक्त सभी पोषक तत्व रहते हैं पर कूटने-पिसने से तथा छानने की क्रियाओं के अंतर्गत इनका कुछ अंश नष्ट हो जाता है। जब इन्हें अधिक परिष्कृत रूप दिया जाता है तब इनसे बने व्यंजन देखने में और खाने में अच्छे जरूर लगते हैं, परंतु तब इनकी पौष्टिकता में बहुत कमी आ जाती है। सम्पूर्ण अनाज की भूसी खाने से कब्ज़ से बचाव होता है।

दालों का पोषक मूल्य—दालें अत्यधिक पौष्टिक भोज्य पदार्थ हैं। दालों में 20 से 25 प्रतिशत प्रोटीन रहता है। ये प्रोटीन के अच्छे स्रोत हैं। परंतु इनका प्रोटीन अपूर्ण श्रेणी का होता है। इसमें जो प्रोटीन की मात्रा रहती है वह प्राणी जगत के प्राप्त होने वाले भोज्य पदार्थों के प्रोटीन से अधिक होती है, परन्तु अन्तर इतना है कि दालों में मेथियोबिन नामक अनिवार्य एमिनोएसिड का अभाव रहता है। यही कारण है कि कुछ अंश का समावेश किया जाये तो मेथियोबिन की कमी को पूरा किया जा सकता है। दालों में गंधक के एमिनोएसिड और टिप्तोफैन कम मात्रा में पाए जाते हैं, जबकि अनाजों में इनकी अच्छी मात्रा रहती है। स्वामीनाथन के अनुसार इसलिए अनाज और दालों के प्रोटीन मिलकर मात्रा की प्रभावक पूर्ति कर देते हैं। दालों में वसा की मात्रा कम होती है। ये 1-2 प्रतिशत ही रहती है। इसमें 55 से 61 प्रतिशत स्टार्च रहता है। प्रति 100 ग्राम दाल में 50 से 10 मि० ग्राम आयरन होता है। इस तरह से ये आयरन के अच्छे स्रोत हैं। लगभग 6-240 मि० ग्राम कैल्शियम रहता है। दालों में विटामिन 'बी$_1$', 'बी$_2$' तथा निकोटिनिकएसिड की अच्छी मात्रा रहती है। दालों में विटामिन 'सी' की कमी होती है। अंकुरित होने पर उनमें विटामिन 'सी' की मात्रा बढ़ जाती है।

तरकारियों के पोषक मूल्य–

हरी पत्ती वाली तरकारियाँ—हरी पत्ती वाली तरकारियों में जल का अंश अधिक रहता है। इनमें सेल्युलोस और रेशे भी अधिक रहते हैं। जल की अधिकता के कारण इनका शक्ति देने वाला गुण बहुत कम होता है। परन्तु इनमें खनिज, लवण और विटामिन प्रचुर मात्रा में रहते हैं। इनमें सामान्यत: आयरन, विटामिन 'ए', थायमिन, रिबोफ्लोबिन तथा एस्कर्षिक एसिड (विटामिन 'सी') अच्छी मात्रा में रहते हैं। इनमें कैल्सियम भी रहता है। हरे रंग की गहराई के साथ-साथ विटामिन की मात्रा बढ़ती जाती है। ऐसी तरकारियों के रेशे आंतों में अपच अवस्था में रहते हैं और अभिपचन क्रिया में पचते हुए भोजन को पाचक नली में आगे बढ़ने में मदद करते हैं। फूल के अपेक्षा पत्तियों में चार गुणा अधिक कैल्सियम और दुगना विटामिन 'ए' और रिबोफ्लोबिन रहता है।

फूल कली और डंठली वाली तरकारियाँ—कई तरकारियों के फूल, कली व डंठल प्रयोग किए जाते हैं। फूलगोभी से थायमिन, रिबोफ्लोबिन अच्छा मिलता है। एस्पेरेगस में विटामिन 'ए' बहुत अधिक रहता है। हरी अवस्था में तो नायसिन और विटामिन 'सी' बहुतायत से मिलती है।

फल तरकारियाँ—फल तरकारियों में टमाटर, बैंगन, लौकी, तुरई, निनुआ, भिन्डी, परवल, ककरी, खीरा आदि आते हैं। इसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण टमाटर है क्योंकि इसमें विटामिन 'ए' और 'सी' भरपूर रहता है। धूप लगकर पके टमाटरों में विटामिन 'सी' की मात्रा और अधिक बढ़ी रहती है। कोहड़े में रजक तत्व (कैरोटिन) अधिक रहता है। अत: यह विटामिन 'ए' का अच्छा जरिया है।

कंदमूल वाली तरकारियाँ—अधिकांश जड़वाली तरकारियाँ थाईमिन की प्राप्ति के अच्छे साधन होते हैं। गाजर में कैराटिन नामक तत्व अधिक रहता है। इसलिए ये विटामिन 'ए' के अच्छे स्रोत हैं। पीले रंगवाली शकरकंद में भी विटामिन 'ए' अधिक रहता है। कच्चे शलजम में विटामिन 'सी' पर्याप्त मात्रा में रहता है। कंद-मूल तरकारियों में स्टार्च और शर्करा रहती है फलत: इनसे कैलोरी भी मिलती है। शलजम, चुकन्दर, आलू आदि विटामिन 'सी' के सस्ते साधन हैं।

बीजवाली तरकारियाँ—बीजोसहित फलियों को या केवल बीजों को भी तरकारी बनाई जाती है। हरी फलियों की अपेक्षा परिपक्व फलियों में अधिक पोषक तत्व संग्रहित हो जाते हैं अन्यों के अपेक्षा इस वर्ग की सब्जियों में प्रोटीन की मात्रा भी मौजूद रहती है। किसी फलियों में प्रोटीन की मात्रा मांस से अधिक रहती है। मटर के हरे दानों में धामिन, रिबोफ्लोबिन, नायसिन और विटामिन 'सी' अच्छी मात्रा में मिलते हैं।

फलों के पोषक तत्व—दैनिक आहार में फलों का महत्व बहुत अधिक है। विटामिन 'सी' प्रधान फलों का प्रयोग प्रतिदिन थोड़ा बहुत अवश्य ही करना चाहिए। जैसे—नींबू, नारंगी, टमाटर आदि। फलों का कुछ भाग भोजनीय होता है और कुछ व्यर्थ का होता है। फलों में प्रमुख शक्तिदायक तत्व शर्करा के रूप में रहता है। फलों में वसा नहीं रहता है तथा विटामिन 'सी' और 'बी' प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अधिक समय तक संग्रह करने से इनमें विटामिन कम हो जाते हैं। गलत ढंग से काटने से और उद्भासित रखने से भी उनके विटामिनों की कमी आ जाती है। फलों में विटामिन की भिन्नता के प्रमुख कारण हैं, उनके जलवायु, सूर्य का प्रकाश तथा उनकी परिपक्वता की अवस्था। फलों में लवण भी रहते हैं। साइट्रस फलों में कैल्सियम रहता है। कैल्शियम, सोडियम और पोटेशियम के अम्लीय लवणों के रूप में फलों में ऑर्गेनिक अम्ल रहते हैं। फल इसलिए रक्त के 'एसिड बेस' संतुलन को बनाये रखते हैं। रसीले फलों में टारटरिक, आक्जोलिक और मोलक एसिड रहते हैं। कुछ के अतिरिक्त सभी सूखे फल उन पोषक तत्वों से युक्त ही रहते हैं, जिनसे कि ताजे फल, विटामिन उनकी सुखेरण की प्रक्रिया पर निर्भर करते हैं। गंधक द्वारा सुखाए फलों में थायमिन कम हो जाता है परंतु विटामिन 'ए' ज्यों का त्यों बना रहता है। धूप में सुखाने से धायमिन बना रहता है परंतु विटामिन 'सी' और 'ए' नष्ट हो जाता है।

फलों में शर्करा की मात्रा अधिक रहती है। किन्हीं फलों में प्रोटीन भी रहता है, परन्तु वसा प्राय: अनुपस्थित रहती है। केले में 4 प्रतिशत प्रोटीन, 5 प्रतिशत वसा तथा 2 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट रहता है। सभी रस

वाले मीठे फल ऊर्जा के अच्छे साधन हैं; अधिक पकने पर फल के पौष्टिक मूल्य में अन्तर आ जाता है। अत: उचित रूप से पके फल का प्रयोग ही करना चाहिए। कच्चे या अधिक पके फल सरलता से नहीं पचते हैं और वे पाचन संस्थान के लिए उतने लाभकारी नहीं सिद्ध होते हैं जितने कि उचित रूप से पके हुए फल होते हैं। गंदी बस्तियों में रहने वाले बच्चे प्राय: अधिक पके हुए फलों का इस्तेमाल करते हैं। नतीजन डायरिया तथा अपच जैसे संक्रामक रोगों का अविभार्व होता है। फल में स्थित स्टार्च ही पकने पर शर्करा में बदल जाता है इसलिए उनमें मिठास बढ़ जाती है। ताजे फलों में विटामिन 'सी' भी रहता है। संग्रहीकरण और पकाने के विधियों से इनकी मात्रा कम भी हो जाती है जिससे स्कर्वी रोग से बचाव होता है। खट्टे फलों में आक्जैलिक, स्टिरिक, टारटरिक तथा मौलिक एसिड रहते हैं। इनमें कुछ पके फलों में भी रह जाते हैं। फलों में थायमिन, रिबोफ्लोबिन आयरन कैरोटिन भी रहते हैं। परन्तु विटामिन 'डी' का इनमें अभाव रहता है। नींबू, आँवला, नारंगी, अमरूद, बेर, अंजीर, अंगूर में कैल्शियम रहता है। आम विटामिन 'ए' एवं 'सी' तथा कैलोरी का उत्कृष्ट स्रोत है। पपीता में कैरोटिन बहुत होता है। सेव में प्रोटीन, अनार में टेनिन, अमरूद में विटामिन 'सी' प्रचुर मात्रा में रहता है। बेल का औषधीय मूल्य बहुत अधिक है क्योंकि इसमें पैक्टिन, म्युसिजेलिन्स, प्रिंसिपल और टेनिन रहता है। नीचे तालिका में विभिन्न फलों के पोषक मूल्यों को दर्शाया गया है—

इस तरह हम देखते हैं कि शरीर के पोषक तत्वों संबंधी दैनिक आवश्यकता की भी पूर्ति हेतु फलों का अपने भोजन में समावेश जरूरी है। रस निकालकर खाने की अपेक्षा फल का सम्पूर्ण भोजनीय अंश खाना अच्छा रहता है, क्योंकि गंदे और छिल्के से सटे हुए विटामिन 'सी' और आयरन रहते हैं, जो रस निकलने पर अवशिष्ट के साथ व्यर्थ चले जाते हैं। फलों का सलाद, आइसक्रीम, कस्टर्ड आदि के रूप में अन्य विविध रूपों में प्रयोग अनुशंसा की गई है।

दूध के पोषक

दूध का प्रयोग विश्व भर में व्यापक रूप से किया जाता है। दूध एक आदर्श भोज्य पदार्थ है। अधिकांश प्राणियों में शिशु का प्रथम आहार दूध ही रहता है। यह सभी आयु के व्यक्ति के बुद्धि, विकास और रोगों से रक्षा के लिए आदर्श सहायक खाद्य पदार्थ है। दूध में सामान्य रूप से जल के अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज तथा विटामिन पाये जाते हैं। इन्हीं सबकी सहायता से दूध के द्वारा शरीर की ऊर्जा पुनर्निर्माण संबंधी तथा सामान्य बुद्धि के लिए सयंत्र प्रदान होते रहते हैं। सभी के आहार को पौष्टिक और असंतुलित बनाने में दूध का विशेष महत्त्व है। रोगी और अतिवृद्ध के लिए भी दूध का महत्व है। इससे यह स्पष्ट है कि इसमें जो पोषक तत्व हैं और पोषक तत्व इसके अभिपाचन के बाद शरीर में आत्मसात होते हैं वे किसी अन्य एकाकी वस्तु से नहीं मिल सकते हैं, क्योंकि यह भी अवस्थाओं के सर्वथा अनुरूप है। दूध के पोषक तत्व निम्नलिखित हैं—

प्रोटीन—दूध में औसत रूप से 3-4 प्रतिशत मात्रा प्रोटीन की रहती है। दूध का प्रोटीन दूध का मुख्य नाइट्रोजन युक्त घटक है। दूध में प्रमुख प्रोटीन, केसिन, लेक्टेअलव्युमिन्स तथा लेक्टेग्लोब्यूलिन्स है। इनमें से अंतिम दो दूध की सीरम में घुलनशील है। दूध में सभी अनिवार्य अमिनोएसिड पाये जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दूध का सर्वश्रेष्ठ तत्व प्रोटीन है दूध का प्रोटीन अनाजों, दालों में प्राप्त प्रोटीन से बहुत अधिक उच्च कोटि का है क्योंकि इसमें अनिवार्य अमिनोएसिड मौजूद रहते हैं। अन्य पदार्थों की अपेक्षा दूध का प्रोटीन सरलता से पच जाता है, इसमें अनावश्यक पदार्थ नहीं के बराबर होते हैं और लगभग सम्पूर्ण ही शरीर द्वारा अवशोषित हो जाता है। दूध के प्रोटीन में लायसिन और थिग्रोनिन की मात्रा पर्याप्त होती है। अत: इन्हें अनाज प्रोटीन का प्रभावशाली पूरक माना जाता है। 100 ग्राम दूध लेने पर 3.5 ग्राम श्रेष्ठ प्रोटीन उपलब्ध होता है।

कार्बोहाइड्रेट—दूध में 4-5 प्रतिशत तक कार्बोहाइड्रेट रहता है। दूध का शर्करा लेक्टोस कहलाती है। ये दूध को उसकी प्राकृतिक मिठास प्रदान करती है। ये ड्राई सैकेराइड शर्करा है और पाचन में ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाती है। ये गन्ने के रस की चीनी सी मिठास से कम होती है। अधिक ताप पर गर्म करने से ये भूरा

रंग ग्रहण कर लेती है। लेक्टोज एक लाभकारी ज्वलनशील पदार्थ है जिससे शरीर को ऊर्जा मिलती है। लैक्टोवैसिलस जीवाणु इस शर्करा को लेक्टिक अम्ल में बदल देते हैं जिससे दूध खट्टा हो जाता है।

वसा—वसा की मात्रा अलग-अलग जीवों में दूध से भिन्न-भिन्न होती है। भैंस के दूध में सबसे अधिक 7.0 प्रतिशत वसा रहती है। माता के दूध में वसा सबसे कम रहती है। गाय के दूध में वसा की मात्रा 3-5 प्रतिशत होती है। दूध की वसा पायस रूप में रहती है। दूध वसा में 9.32 कोलेस्ट्रोल होता है ये हार्मोन तथा विटामिन 'डी' से सम्बंधित है। यह वस्तुत: दूध के स्टीटल ही होते हैं।

खनिज लवण—दूध में खनिज लवण अच्छी मात्रा में मिलते हैं। इनमें सबसे अधिक कैल्शियम फास्फेट रहता है जो अस्थियों की समुचित वृद्धि क लिए जरुरी है। यही कारण है कि वृद्धि काल में दूध का बड़ा महत्व होता है। दाँतों, माँसपेशियों, रक्त तथा शरीर के संगठन तथा स्वास्थ्य के लिए दूध अनिवार्य है। वैसे तो दूध के लवण सभी के स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। एक लीटर दूध में लवणों की मात्रा प्राय: इस प्रकार होती है। कैल्शियम 1.162 ग्राम, फास्फोरस 0.907 ग्राम, लोहा 0.002 ग्राम, सोडियम 0.497 ग्राम। इसके अतिरिक्त आयोडीन, कॉपर तथा कई अन्य लवण भी दूधों में रहते हैं। मैग्नेशियम एवं पोटैशियम भी थोड़ी मात्रा में दूध में रहते हैं। माता के दूध में अन्य जीवधारियों के दूध की अपेक्षा खनिज लवण कम रहते हैं। परन्तु फिर भी शिशु का छ: महीने तक इसी से काम चल जाता है क्योंकि उसके शरीर में, जन्म के पूर्व ही, आवश्यक लवण, कुछ समय तक, काम चलाने लायक संग्रहित हुए रहते हैं।

विटामिन—दूध में विटामिन सबसे अधिक मात्रा में तथा उचित अनुपात में रहते हैं। दूध में विटामिन 'ए', 'बी$_6$' तथा 'बी$_2$' तथा फौलिक एसिड अच्छी मात्रा में रहते हैं। वसारहित दूध में इसकी कमी हो जाती है। दूध का महत्त्व उसमें उपस्थित विटामिन और रिबोफ्लोबिन के कारण बहुत अधिक आँका गया है। उबालते समय 'बी' समूह के तथा 'सी' विटामिन नष्ट हो जाते हैं। इसलिए दूध पीते बच्चे के लिए एसकार्बिक एसिड पूरक आहार के रूप में उपलब्ध कराना अनिवार्य है।

शर्करा तथा गुड़—स्वाद को बढ़ाने के लिए पेय तथा अन्य खाद्य पदार्थों में मिठास के लिए शर्करा और गुड़ का प्रयोग किया जाता है। ये मुख्यत: ऊर्जा के साधन हैं, यद्यपि गुड़ से ऊर्जा में अतिरिक्त लौह भी होता है।

वसा और तेल—आहार में काम आने वाली वसाएँ मक्खन, घी तथा अन्य नाना प्रकार के वनस्पति तेलों में पायी जाती है और कभी-कभी हाइड्रोजनिकृत वनस्पति तेलों से भी प्राप्त होती है। वसा चाहे किसी भी प्रकार का हो समस्त तेल और चिकनाईयाँ हमें ऊर्जा की एक सी मात्राएँ देती हैं। हमारे आहार में वनस्पति तेल आवश्यक रूप से 15 ग्राम प्रतिदिन के हिसाब से सम्मिलित किये जाने चाहिए जिससे हमारे शरीर को आवश्यक वसा अम्लों की उचित मात्राएँ प्राप्त होती रहें। वनस्पति तेल, विशेषत: करडी का तेल बहुसंतृप्त वसा अम्लों से भरपूर होते हैं।

मांस—मांस भोजनों तथा मछली और मांस में उच्च जैविक मान के प्रोटीन और 'बी' विटामिनों की प्रचुरता होती है। विशेषत: विटामिन बी$_{12}$ तो केवल जंतु जन्य भोजनों में ही होता है। मांस में प्रोटीन, वसा, खनिज, लवण, कार्बोहाइड्रेट, एंजाइम, विटामिन तथा जल रहता है। मांस में उत्तम वर्ग का प्रोटीन 18 से 23 प्रतिशत रहता है। इस प्रोटीन का जैव मूल्य बहुत अधिक होता है, क्योंकि इसमें सभी अनिवार्य एमिनोएसिड रहते हैं। इनसे उच्च श्रेणी का मानसिक और शारीरिक विकास होता है। ये प्रोटीन चार प्रकार के होते हैं—एक्टिन और मायोसिन मांस उतकों में रहते हैं। ये पानी में घुलनशील हैं परन्तु पकाने पर थक्के के रूप में जम जाती हैं। कैलेगन और इलास्टिन प्रोटीन मांस के संयोजक उतकों में रहता है। सफेद उतकों में कैलेगन तथा पीले उतकों में इलास्टिन रहता है। ये पकाने पर जिलेटिन में परिवर्तित हो जाते हैं। पेशी के रेशों के भीतर विशेष प्रकार के तत्व रहते हैं। ये कुछ नाइट्रोजन विहीन और कुछ नाइट्रोजन युक्त होते हैं। नाइट्रोजन विहीन में लेक्टिक एसिड प्रमुख है। मांस को उबालकर औषधियों के लिए सत्व प्राप्त किए जाते हैं। इन तत्वों में पाचक रसों को श्रावित होने में मदद मिलती है। मांस में वसा की मात्रा 10 से 13 प्रतिशत होती है। यह स्टिरोत के रूप में रहती है। वसा के कारण मांस में स्वादिष्ट और सुगंध मिलती है। मांस की शक्ति मूल्य उसमें रहने वाली वसा की मात्रा पर निर्भर करता है। प्रत्येक प्रकार के मांस में वसा प्राय: प्रर्याप्त मात्रा पर निर्भर करता है। वसा के

अच्छे साधन होने के कारण मांस शक्ति प्राप्ति के अच्छे साधन माने जाते हैं। पशु के मांस को आद्रता प्रदान करती है। मादा पशुओं के मांस में वसा बहुत अधिक रहती है। मांस में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा बहुत कम होती है जो कुछ कार्बोहाइड्रेट रहता भी है, वह भी ग्लाइकोजन के रूप में रहता है। ये अंश यकृत में संग्रहित रहता है। मांस में रहने वाले रक्त के हिमोग्लोबिन में आयरन रहता है। सबसे बड़ी बात है कि मांस के खनिज जरा-सा भी नष्ट नहीं होता है। इसका पकाया तरल अंश यदि प्रयोग कर लिया जाए तो सम्पूर्ण मात्रा में खनिज प्राप्त हो जाती है। तरल अंश के प्रयोग से साधे पुरे के पुरे विटामिनों के अंश प्रयोग में आ जाते हैं। पकाने से मांस का स्वाद बढ़ जाता है तथा उसमें उपस्थित रोगाणु भी नष्ट हो जाते हैं। मांस को भूनकर, ग्रिल करके, तलकर, स्टू बनाकर, उबालकर शोरबेदार कैसा भी बनाया जा सकता है। पकाने से मांस के पेशीय रेशों का प्रोटीन कोलूलेट कर दिया जाता है तथा संजोल ऊतक कैलेगेन फूलकर जिलेटिन में बदल जाते हैं। इसकी वसा पिघल जाती है और जलीय अंश कम हो जाता है। इसे अधिक देर तक पकाने से पेशी तन्तु पृथक-पृथक हो जाते हैं। एसिड के कारण ऐसा परिवर्तन होता है। पकाने से मांस के पोषक मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है।

मछली—मछली प्रोटीन का श्रेष्ठ स्रोत है। इसका मुख्य पोषक तत्व ही प्रोटीन है। मछली के पेशियों में उत्तम श्रेणी का प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। शरीर में उपयोगिता की दृष्टि से इसके अनिवार्य एमिनो एसिडों का बहुत मूल्य है। इसमें प्रोटीन 16.20 प्रतिशत होता है जिसका उच्च जैविक मूल्य रहता है। स्वस्थ व्यक्तियों के लिए अधिक चर्बी युक्त मछली, प्रोटीन, वसा, विटामिन 'ए', 'डी' तथा खनिज लवणों की प्राप्ति का अच्छा साधन है। अधिक वसामय मछलियों का कैलोरी मूल्य बढ़ जाता है। मछली का सैलगन, इबोट, वाटर फिश, कैटे फिशों में 11-20 प्रतिशत वसा होती है। मछली में कार्बोहाइड्रेट ग्लाइकोजन के रूप में रहता है। परन्तु इसकी मात्रा बहुत कम होती है। कई प्रकार की शैल फिश का स्वाद कुछ मीठा होता है। इसका कारण इन्जाइम की क्रिया के द्वारा ग्लाइकोजन का ग्लूकोज में परिणत हो जाना है। समुद्री मछलियाँ आयोडीन के उत्तम स्रोत है मछली में कॉपर तथा आयरन भी अधिक मात्रा में मौजूद रहता है। मछलियों में रिबोफ्लोबिन, थायमिन तथा नायसिन भी रहता है। कुछ मछलियाँ विटामिन 'डी' की प्राप्ति के बहुत अच्छे स्रोत हैं। सभी मछलियों के यकृत में कम या अधिक मात्रा में विटामिन 'डी' जरुर रहता है। मछली का कैलोरी मूल्य उसमें मौजूद वसा पर निर्भर करता है।

अंडा—अंडा ऐसे प्रोटीन का उत्तम स्रोत है जिसका जैव मूल्य उच्च अशांक का रहता है। अंडे में 80 से 88 प्रतिशत अंश जल का रहता है। जल के माध्यम से ही अंडे के भीतर विभिन्न रासायनिक और भौतिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। प्रोटीन के स्रोत के रूप में देखा जाए तो अंडे में दो प्रकार की प्रोटीन पायी जाती है। साधारण वर्ग की प्रोटीन है ओवोल न्युमिन जो सभी अंडे के सफेद भाग में रहती है। सफेद भाग में ही कुछ संयुक्त प्रोटीन भी पायी जाती है, जैसे ओबोक्युसिड तथा ओवोक्युसिन। इन सब संयुक्त प्रोटीन जैसे ओवोविटैलिन तथा लिवोर्टन अंडे के पीले भाग में भी रहती है। अंडा अत्यधिक पोषक खाद्य पदार्थ है। शरीर निर्माण के लिए इसमें सब कुछ रहता है। इसमें वृद्धि कारक सभी तत्व रहते हैं। यह ऐसा खाद्य पदार्थ है जिसके पोषक मूल्य को दूध की टक्कर में रखा जा सकता है।

आचार चटनी तथा मसाले—ये सहायक खाद्य पदार्थ मुख्यत: व्यंजनों को स्वादिष्ट बनाने में प्रयुक्त होते हैं। मिर्च और धनियाँ कैरोटिन के अच्छे साधन हैं। हरी मिर्च, विटामिन 'सी' और हल्दी तथा इमली लौह के अच्छे स्रोत हैं। चूँकि मिर्च मसाले बहुत थोड़ी मात्रा में खाये जाते हैं। इसलिए वे आहार के पोषनिक मान को विशेष रूप में नहीं बढ़ाते। हींग और लहसुन जैसे कुछ मसालों में ऐसे सक्रिय तत्व पाये जाते हैं जो आंतों में सड़ान पैदा करने वाले जीवाणुओं की वृद्धि का संदमन करते हैं।

सामान्य आहार का संघटन और उसका मोटे तौर पर पौष्टिक मान को निम्न तालिका द्वारा दर्शाया जा सकता है—

संतुलित आहार जिसमें दूध तथा अन्य खाद्य सामग्री दुगुनी या उससे भी अधिक लागत वाला होगा। ऐसी स्थिति में पोषण कार्य करने वालों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। भारत में बच्चों के आवास गृहों में प्राय: धन की कमी होती है। जबकि कम लागत में वस्तुत: संतोषजनक आहार देना प्राय: असंभव हो, उसे

समय कुछ बातें इस प्रकार के आहारों के संशोधन-प्रयास में ध्यान में रखने योग्य होती है। बच्चों को प्रतिदिन कम-से-कम 8 औंस (250 मि०ली०) मिलना चाहिए, यद्यपि वास्तव में यह मात्रा पोषण कार्यकर्ता द्वारा प्रस्तावित 'युक्ततम' मात्रा में बहुत ही कम है।

अन्य ध्यान देने योग्य बातें इस प्रकार हैं—यदि खाद्यान्न मशीनी चावल हो, तो आहार के पौष्टिक मान में संशोधन करने के लिए उक्त चावल की जगह, समग्र रूप से अथवा आंशिक रूप से, कम कटा हुआ चावल या सेला चावल, सम्पूर्ण गेहूँ या मोटे अनाजों में से कोई एक विशेषतया ज्वार का प्रयोग करना चाहिए। यदि मशीन का कुटा हुआ चावल ही आहार का आधार रहता है तो यह समझ लेना चाहिए कि मशीनी चावल खाने वाले को सम्पूर्ण गेहूँ या रागी खाने वाले की अपेक्षा अधिक संरक्षित भोजनों की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे—दालें, दूध, हरी तरकारियाँ फल इत्यादि। जब आहार में चावल के अतिरिक्त और कुछ भी न हो और लोग इतने निर्धन हो कि कभी-कभार अन्य भोजनों की कुछ मात्राओं को छोड़ अन्य भोज्य खरीद ही न सके, तो जिस दशा में चावल खाया जाता हो वह दशा ही सबसे अधिक महत्त्व की है।

दालों में प्रोटीन तथा 'बी' वर्ग के कुछ विटामिनों की प्रचुरता होती है और 2-3 औंस (70 ग्राम) दाल प्रतिदिन लेने से खाद्यान्न प्रधान आहारों का पौष्टिक मान बहुत उन्नत हो जाता है। सोयाबीन में प्रोटीन तथा वसा अधिक होती है और हमारे देश में इसकी खेती उतरोत्तर बढ़ती जा रही है। यदि सोयाबीन का प्रयोग भारत में व्यापक रूप से होने लगे तो उसकी स्वादिष्ट तथा ग्राह रूप में बनाने विधियों की ओर ध्यान देना पड़ेगा।

भारतीय बच्चों के आहार संबंधी विकारों में प्रोटीन और कैलोरी का अपूर्णता से उत्पन्न होने वाले विकास सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रोटीन कैलोरी कुपोषण ही गरीब बच्चों की इतनी अधिक मृत्यु दर तथा अस्वस्थता दर के लिए कुछ जिम्मेदार है। अभी हाल में ऐसे प्रमाण भी हो रहे हैं जो हमें समझाते हैं कि शुरू की जिन्दगी कुपोषण बच्चे के उत्तरकालीन विकास पर भी चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है। बचपन में भीषण प्रोटीन कुपोषण की घटना के उपरान्त बालक की न केवल शारीरिक उन्नति पर, वरन मानसिक और सीखने की क्षमता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

प्रोटीन कैलोरी कुपोषण की समस्या एक से पाँच वर्ष तक के आयु काल में खास तौर से तीव्र होती हैं प्रारंभिक शैशवकाल में माता का दूध बच्चे के प्रोटीन आवश्यकताओं को पर्याप्त मात्रा में पूरा कर देता है। निर्धन भारतीय समुदायों की पौषनिक हैसियत के बावजूद माताएँ जो दूध प्रदान करती हैं वह केवल थोड़े से विटामिनों की कमी को छोड़कर बढ़िया किस्म का होता है और पर्याप्त मात्रा में होता है तो भी इतने यथेष्ट मात्रा में दूध पिलाने के बावजूद छठे महीने के बाद केवल माँ के दूध पर ही बच्चे का विकास यथावत कायम रखना असंभव हो जाता है। अत: इस समय के पश्चात पूरक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ने लगती हैं बच्चों में प्रोटीन कैलोरी का दारुण कुपोषण दो रूपों में दिखाई देता है। एक रूप तो वह है जिसे कवाशियोरकर कहते हैं। इसके लक्षण तथा पहचान वृद्धि का रुक जाना, दस्त लग जाना, बालों का विवर्णता तथा बिखरापन, त्वचा विवर्णता और उसका उतरना, अरक्तता, शरीर की सूजन और भावहीन है। दूसरे रूप में मरास्मस (सूखा रोग) में, शुद्ध वृद्धि के अतिरिक्त शरीर के मांसपेशियों का चरम अपव्यय होने लगता है।

इस तरह भोजन के रूप में उपयुक्त विभिन्न खाद्य पदार्थ का अपना पोषक मूल्य होता है जिसके उपयोग से मनुष्य का शारीरिक विकास होता है।

● शहरीकरण समाज की अवधारणा

शहरीकरण समाजशास्त्र एक नवीन सामाजिक विज्ञान है। शहरीकरण का उत्तरोतर विकास होने के कारण शहरीकरण अध्ययनों का महत्व काफी बढ़ गया है। इसलिए आज शहरीय क्षेत्रों में व्यापक रूप से अनुसंधान व सामाजिक गवेषणाओं की प्रबल आवश्यकता हो गई। परन्तु इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए अनेकानेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों में सबसे प्रमुख इस क्षेत्र की प्राथमिक अवधारणाओं की समस्या है। इस दृष्टि से बौद्धिक व समाजशास्त्रिय दृष्टि से शहरीय समाज व अविस्थापना

संबंधी अवधारणायें अभी स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाई हैं। इस संदर्भ में देश, काल व संस्कृति की छाप दृष्टिगोचर होती है। इस अध्याय में तथा आगामी अध्याय में हम इसी दृष्टिकोण से विचार करेंगे। प्रथम हम कुछ सैद्धांतिक अवधारणाओं पर ध्यान आकर्षित करेंगे।

शहरीकरण—शहरीकरण शब्द की अवधारणा का संबंध मानवीय अविस्थापना के विशिष्ट रूप से भी है। परन्तु शहरीकरण अवस्थापना या शहरीकरण स्थान की अवधारणा भी विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। इसके अलावा शहरीकरण अविस्थापना की कोई सार्वभौम परिभाषा सर्वत्र अभाव पाया जाता है। शहरीकरण समाजशास्त्र में शहरीकरण अविस्थापना की परिभाषा का सर्वत्र प्रयोग होता है। सामान्यत: शहरीकरण विश्लेषण की दृष्टि से दो क्षेत्रीय, शहरीकरण प्रशासनिक इकाईयों को सर्वमान्य माना गया है। प्रथम, शहरीकरण अविस्थापना इकाई और द्वितीय, शहरीकरण प्रशासनिक इकाई है। परंतु इस दृष्टि से भी विभिन्न समाजों में परस्पर विषमतायें पाई जाती हैं। शहरीय प्रशासनिक इकाई के अंतर्गत राज्य, प्रांत, कन्टोस, डिपार्टमेंट आदि भिन्न-भिन्न अवधारणाओं का प्रयोग होता है। इसी प्रकार शहरीकरण प्रशासनिक उप-इकाइयों जैसे काउनटीज, म्युनिसिपैलिटिज आदि अवधारणायें प्रचलित हैं। इसी प्रकार टाउनशिप, केंट एरिया आदि अवधारणायें भी इसी संदर्भ में प्रचलित है।

शहरीकरण समाजशास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि ये यद्यपि शहरीकरण प्रशासनिक इकाइयों का आधार ही सर्वमान्य रूप से अपनाया जाता है। शहरीकरण शोध में प्रयुक्त ये अवधारणायें ही प्रयुक्त होती हैं तो भी इनसे अन्तराष्ट्रीय दृष्टि से कोई सर्वमान्य अवधारणा प्रचलित नहीं है। इस समस्या का समाधार करने की दृष्टि से राष्ट्र संघ के माध्यम से प्रयास किये गये। राष्ट्रसंघ की एक विज्ञप्ति में बताया गया है कि 250 और अधिक निवासियों की इकाई को डेनमार्क की शहरीय इकाई माना जाता है। कोरिया में इस दृष्टि से 40,000 से कम आवासीय क्षेत्रों को शहरीकरण माना जाता है।

राष्ट्रसंघ के जनसंख्या आयोग ने 'शहरीकरण' शब्द की अवधारणा संबंधी विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से यह सुझाव दिया गया है के शहरीकरण अवस्थापना में आवासीय सम्पूर्ण जनसंख्या को शहरीकरण मानना उचित रहेगा। इस दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र को जनसंख्या सम्बन्धि आँकड़ों के आधार पर 'शहरीकरण' की अवधारणा स्वीकार करनी चाहिए।

शहर की समाजशास्त्रीय अवधारणा—शहरीकरण का अर्थ शहर में रहने वाले समुदाय से है। शहर क्षेत्र की अवधारणा स्पष्ट हो जाने के बाद शहरीकरण की समाजशास्त्री अवधारणा स्पष्ट की जा सकती है अर्थात 'शहरीकरण' शब्द का प्रथम स्थान है। यह समुदाय विशेष का सूचक शब्द है। सम्पूर्ण मानव समाज को किन्हीं लाक्षणिक आधारों पर शहरीकरण तथा ग्रामीण समुदायों में विभाजित किया जा सकता है। 'शहरीकरण' शब्द शहरीकरण समुदाय विशेष को इंगित करता है जो शहरीकरण क्षेत्र में निवास करता है। शहरीकरण समाज की विशेषताओं और लक्षणों का समाजशास्त्रियों ने अध्ययन करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से सोरोकिन, जिम्मरमेन, पार्क, बर्गस तथा विर्थ के कार्य उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। शहरीय समाजशास्त्र में 'शहरीय' शब्द की अवधारणा का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। यहाँ शब्द समुदाय तथा समाज विशेष के लिए प्रयुक्त किया गया है। शहरीय क्षेत्र उस परिपूर्णता के रूप में समझा जाता, है, जो मुख्यता उद्योग, व्यापार, नौकरी तथा अन्य व्यवसायों में संलग्न होता है। शहरीय समाज का सम्बन्ध कृषि व्यवसायों से नहीं होता है। यह समुदाय प्रमुखत: वस्तुओं के निर्माण तथा तकनीकी कार्यों से सम्बंधित रहता है। शहरीय जीवन ग्रामीण जीवन से बिल्कुल भिन्न होता है। शहरीय समाजशास्त्र में 'शहरीय' शब्द मानव जीवन से सम्बंधित है। जीवन का एक विशेष ढंग या प्रणाली जीवन के ढंग या प्रणाली से भिन्नता रखती है, शहरीय कहलाती है।

शहरीय मानव जीवन का एक विशिष्ट ढंग है। इस जीवन की विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था होती है। शहरीय परिवार के सदस्यों का व्यवसाय करने वाले सदस्य के व्यावसायिक गतिविधियों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। शहरीय पारिवारिक इकाई एक व्यावसायिक इकाई नहीं है। शहरीय सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को व्यवसायिक क्रियाएँ करने की स्वतंत्रता होती है। शहरीय जीवन मानवीय औद्योगिक अवस्थाओं का एक

संकुल है। इस संकुल में अनेकानेक आर्थिक क्रियाएँ संचालित होती हैं जो एक-दूसरे के लिए पूरक होती हैं। इन क्रियाओं में व्यक्तियों के मध्य किसी प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं होती है।

शहरीय व्यक्ति, परिवार और समुदाय की प्रकृति से एकान्तता होती है। यहाँ भौतिक जीवन प्रकृति प्रधान नहीं होता, अपितु मानवकृत होता है। 'शहरीय' शब्द वातावरण एवं पर्यावरण का सूचक भी है। शहरीय पर्यावरण मानव निर्मित होता है। इसमें प्रकृति का प्रभाव नहीं होता है। लोहे और पत्थर से बनी मानव निर्मित भौतिकता का यहाँ बाहुल्य होता है। यहाँ परिस्थिति चंचल, भावना प्रधान और शोर-गुल से आच्छादित होती हैं यहाँ भूमि का अधिक महत्त्व होता है और जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। शहरीय समुदाय का आकार विशाल होता है। इस भांति से स्पष्ट है कि शहरीय समाजशास्त्र में 'शहरीय' शब्द की अवधारणा के अंतर्गत व्यक्ति, समुदाय परिवार, परिस्थिति और सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था संबंधी तत्वों का प्रमुख स्थान है।

शहरीय की अवधारणा—शहरीय समाज की दूसरी प्राथमिक अवधारणा के सम्बन्ध में भी नगरिय समाजशास्त्रियों के मध्य विभिन्न विचार प्रचलित हैं। क्वीन और कारपेंटर ने शहरीयता को शहर निवास की एक प्रघटना बताया है। इन्होंने लिखा है, ''हम शहरीयता का प्रयोग शहर निवास की प्रघटना को पहचानने के लिए करते हैं।'' इस प्रकार शहरीयता एक स्थायी घटना है अथवा शहरीयता परिस्थितियों का एक स्थायी रूप है। विर्थ ने शहरीयता को बिल्कुल भिन्न अर्थों में परिभाषित किया है। उसने लिखा है, शहरीयता की परिभाषा करते हुए स्पष्टतया लिखा है, ''शहरीयता लक्षणों का वह पुंज है जो शहरों में एक विशिष्ट प्रकार का जीवन उत्पन्न करता है।'' इस प्रकार शहरीयता की परिभाषा के सम्बन्ध में विर्थ के विचार प्रमुख स्थान रखते हैं। उनके अनुसार शहरीयता जीवन का एक ढंग है। इस विचार का समर्थन बर्गल व एंडरसन ने भी किया है। इस विचार पर हम यहाँ तनिक विस्तार में विचार करेंगे।

शहरीयता : जीवन की एक प्रणाली—विर्थ ने शहर में पायी जाने वाली नागरीयता को जीवन का एक ढंग कहा है। उन्होंने इसकी विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार शहरीयता के निम्नलिखित लक्षण तथा विशेषताएँ हैं।

- विषमता
- दूसरों पर निर्भरता की ऊँची दर

ऊपरी दिखावे के अनेकानेक सामाजिक सम्बन्ध एवं व्यवहार और उनकी तथाकथित सभ्य और बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन प्रणाली।

विषमता—विर्थ के अनुसार 'शहर की विषमता' दूसरे पर अत्यधिक निर्भरता ऊपरी दिखावे के अनेकानेक सामाजिक सम्बन्ध एवं व्यवहार और उनकी तथाकथित सभ्य और बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन प्रणाली—ये सब शहरीयता के परिचायक लक्षण हैं। ये उसे भेद को उत्पन्न करते हैं जो ग्रामीण व शहरीय जीवन में होता है। शहरवासी ही नहीं, आज एक ग्रामवासी कृषक भी अपने आधुनिकतम कृषि साधनों तथा ट्रेक्टर, उसके पुर्जे व साथ ही अन्य मशीनें, फर्टिलाइजर, विद्युत, अणुशक्ति, उत्तम बीज, आवागमन के स्थानों आदि के लिए उतना ही दूसरों पर निर्भर है जितना कि एक शहरवासी। इसी कारण उसे अनेकानेक सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं और उनकी जटिलताओं में प्रवेश करना पड़ता है। यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि एक सीमा एक विर्थ के कथन में सत्यता है। ग्राम व शहर जीवन प्रणाली के अंतर के विषय में कोई दो राय नहीं हो सकती (चाहे इस अन्तर की मात्रा कम अथवा अधिक क्यों न हो)।

निर्भरता—शहरवासियों और ग्रामवासियों में मुख्य अन्तर निर्भरता का है। शहरवासी अधिक मात्रा में और अधिक विषयों में एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और साथ ही प्रकृति से दूर होते हुए अप्राकृतिक साधनों, तथा विद्युत व इससे बने साधन साइकिल, कार, मनोरंजन के साधनों आदि पर अपना जीवन निर्भर रखते हैं। ग्रामवासियों और शहरवासियों में यह निर्भरता की मात्रा जीवन से भी व्यापक अंतर ला देती है। ग्रामवासियों के विपरीत शहरवासी प्रकृति पर कम निर्भर रहते हैं और अनेक बार वे प्रकृति के सामीप्य का अनुभव नहीं कर पाते। वे मनुष्यों पर, सामाजिक सम्बन्धों पर और अप्राकृतिक साधानों पर निर्भर रहते हैं।

दिखावा—शहरवासियों को अनेक ऐसी समस्याओं का सामना करना होता है जो तत्काल समाधान चाहती हैं। इसी आधार पर ग्रामवासियों को प्राय: सुस्त व न्यून बौद्धिक स्तर कहा जाता है। वास्तव में शहर में मनुष्य को परिश्रमी और सावधान रहते हुए जीवन व्यतीत करना होता है। इस कारण शहरवासियों में व्यवहार और प्रवृत्तियों के कुछ प्रतिमान निश्चित हो जाते हैं जिन्हें जीवन की शहरीय प्रणाली कहा जाता है। शहरीय आधुनिक समय की देन नहीं है। प्राचीनकाल में ही ग्राम की परिधियों से दूर ऐसे मानव समूह का अस्तित्व रहा है, जिसने ग्रामों की समस्या को सुलझाया और शक्ति सम्पन्न होने के नाते संस्कृति को विकसित किया। इस अलग बने शक्ति सम्पन्न समूह ने ''शहरीयता'' की परम्परा को सदैव जीवित रखा है। यह शहरीयता कभी-भी शहरों तक सीमित नहीं रही। सदैव से ही शहर ग्रामों को प्रभावित करते रहे हैं और ग्राम शहर की जीवन प्रणाली को अपनाते रहे हैं। आज के ग्रामों में कल के शहरों की बहुत सी बातें द्रष्टव्या हैं। आज भी यही स्थिति विकसित देशों में दृष्टिगत होती है जहाँ शहरीकरण बहुत अधिक मात्रा में हो चुका है। इन देशों में ग्राम और शहरों में यदि मुख्य भेद हैं तो वह उद्योगों का है। अन्यथा ग्रामवासी भी प्रर्याप्त सीमा तक ''शहरीयता'' को अपनाते जा रहे हैं, लेकिन साथ ही, जैसा कि स्पष्ट है, यह भेद सनातन है और विकसित एवं अविकसित समूह के मध्य सदैव बना रहेगा। शहरीयता की अवधारणा के विश्लेषण में विर्थ ने कुछ सीमा तक अतिश्योक्ति की है। यह आवश्यक नहीं है शहरों में सदा विषमता ही परिलक्षित होती हो। कई शहर ऐसे हैं जहाँ सजातीयता पायी जाती है। द्वितीय, शहर में लोगों की एक दूसरों पर निर्भरता की प्रकृति की ऊँची दर के सम्बन्ध में भी विर्थ का कथन पूर्णत: सार्वभौमिक प्रतीत नहीं होता है। आज ग्रामों में भी कृषि के यांत्रिकरण के कारण वहाँ के लोगों में परस्पर निर्भरता दृष्टिगोचर होती है। तृतीय, शहरों में ऊपरी दिखावे के सामाजिक सम्बन्ध और बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन प्रणाली के तत्व भी आजकल ग्रामीण लोगों में भी विकसित हो गये हैं। आधुनिक कृषक भी दिखावे के सामाजिक सम्बन्ध रखता है। फिर भी विर्थ के विचारों में शहरीयता अवधारणा को स्पष्ट करने की एक दिशा हैं इसने शहरीयता की इन विशेषताओं का विश्लेषण करके ग्राम और शहर में भेद करने के आधार सुझाये हैं। ये आधार कुछ सीमा में अवश्य शहर और ग्राम के मध्य अन्तर रेखा खींचने में सहायता प्रदान करते हैं। विर्थ द्वारा प्रतिपादित निर्भरता का तत्व इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। शहर के लोग ग्रामीण लोगों की तुलना में अवश्य एक-दूसरे पर अधिक निर्भर रहते हैं। ये अपने जीवन में कई ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं जिन पर उन्हें सदा निर्भर रहना पड़ता है। कृषक मौलिक रूप से प्रकृति से सम्बन्धित रहता है तथा उसी पर निर्भर रहता है जिन पर उन्हें सदा निर्भर रहना पड़ता है, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता है। दुर्खीम ने भी अपने शोध प्रबन्ध ''समाज में श्रम विभाजन'' में इसी तथ्य की पुष्टि की है। आधुनिक शहरीय समाजों की यह एक विशेष प्रकृति है। शहर में लोग प्रकृति पर निर्भर नहीं रहते हैं तथा उनको प्रकृति का ज्ञान नहीं होता है। वे मनुष्यों पर और उनके सामाजिक संबंधों पर तथा भौतिक साधनों पर निर्भर रहते हैं। वे सदा इन तत्वों के सहारे अपना जीवन-यापन करते हैं। ग्रामीण लोग प्रकृति के व्यवहारों पर निर्भर रहते हैं जबकि शहरीय लोग मनुष्यों के व्यवहारों पर निर्भर रहते हैं।

इस प्रकार शहरीयता जीवन का एक विशिष्ट अंग है। मनुष्य जब इस ढंग को अपना लेता है तो उसे आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता, चाहे वह ग्राम में रहे अथवा शहर में। शहरीयता के तत्व सदा उसके साथ रहते हैं। इस सम्बन्ध में एंडरसन ने लिखा है, ''शहरीयता जीवन के ढंग के रूप में शहरों एवं कस्बों तक ही सीमित नहीं है यद्यपि वह बड़े शहरीय केंद्रों से ही प्रारंभ होती है। यह व्यवहार का एक ढंग है और इसका तात्पर्य यह होता है कि एक व्यक्ति यद्यपि एक ग्राम में रहता है तथापि वह अपने विचार एवं आचरण में शहरीय हो सकता है। विर्थ ने भी इन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया है। वह लिखता है, ''हम यह परिणाम निकालते हैं कि ग्रामीण जीवन पर शहरीयता की उतनी छाप रहेगी जितनी कि वह संपर्क संचार के द्वारा शहरों के प्रभाव में आता है। यह कहना इस बात को स्पष्ट ही करेगा कि यद्यपि शहरीयता के वे प्रमुख केंद्र व स्थान रहेंगे जिन्हें, हम शहर कहते हैं फिर भी शहरीयता शहरों तक सीमित नहीं है अपितु हर उस स्थान पर पायी जाती है जहाँ तक शहर का प्रभाव पहुँच जाता है।

विर्थ ने अपने शोध लेख जो ''अमरीकन जरनल ऑफ सोशियोलोजी'' में प्रकाशित हुआ, में शहरीयता और उसके तत्वों पर विशेष विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। इसने शहरीयता का एक सिद्धांत भी पारित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार शहर में शहरीयता का विकास होता है और शहरीयता शहरों का विकास करती है। शहरों की उत्पत्ति घनी और मलिन बस्तियों की अविस्थापना के फलस्वरूप होती है। प्रथम इन बस्तियों में शहरीयता से परिपूर्ण विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। इन सामाजिक संबंधों से एक विशिष्ट प्रकार के जीवन ढंग विकसित हो जाता है। यह ही जीवन का ढंग शहरीयता कहलाता है। इस सिद्धांत के सम्बन्ध में विर्थ ने लिखते हुए कहा है, ''अत: जितना अधिक विस्तृत घना बसा हुआ है और अधिक बेमेल एक समुदाय होगा, उतनी ही उसकी विशेषताएँ शहरीयता जैसी होगी।'' इसी संदर्भ में विर्थ द्वारा प्रस्तुत शहरीय जीवन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ भी वर्णित की जा सकती हैं। ये निम्नलिखित हैं—

अस्थायित्व—शहरीय जीवन प्रणाली की यह प्रमुख विशेषता है कि इससे प्रभावित लोग संबंधों की विविधता रखते हैं। इस विविधता के कारण संबंधों में सीमितता और स्थायित्व का अभाव रहता है। शहरीय व्यक्ति नित नया सम्बन्ध बनाता है और पुराने संबंधों को तोड़ता जाता है। शहरीय जीवन प्रणाली की यह विशेषता है कि व्यक्ति अपने भौतिक हितों की पूर्ति होने तक अन्य व्यक्तियों से अपने सम्बन्ध स्थापित करता है।

अल्पज्ञता—शहरीय जीवन प्रणाली का एक यह भी लक्षण है कि इसमें कृत्रिमता और औपचारिकता विशेष होती है। इसी कारण शहरीय व्यक्तियों के संबंध कृत्रिमता और औपचारिकता से पूर्ण होते हैं।

गुमनामता—शहरीय जीवन प्रणाली का एक यह भी लक्षण है कि इसमें कृत्रिमता तथा गुमनामता भी प्रमुख है। शहरीयता से परिपूर्ण समूहों में परस्पर एक-दूसरे के परिचय और जान-पहचान का अभाव रहता है। जनसंख्या अधिक होने के कारण शहरों में समूहों का रूप भीड़-भाड़ वाला होता है। भीड़ व्यवहार में गुमनामता विशेष रूप में पायी जाती है। वहाँ व्यक्ति आत्मकेंद्रित अधिक होता है। विशाल समूहों में पारस्परिक अभिमित का अभाव रहता है। एक मकान में रहने वाले पड़ोसी भी यहाँ परस्पर एक-दूसरे को नहीं जानते हैं।

विस्तृत आकार—शहरीय जीवन प्रणाली विकास के लिए सबसे प्रमुख आवश्यकता जनसंख्या का विस्तृत क्षेत्र होता है। विर्थ ने इस सम्बन्ध में लिखा है ''जनसंख्या में वृद्धि इस प्रकार बदले हुए सामाजिक संबंधों को समाविष्ट करती है।'' शहर के परस्पर संपर्क वस्तुत: आमने-सामने को हो सकते हैं परन्तु वे सदा अव्यक्तिगत, श्रेष्ठ, परिवर्तनशील और एकान्तपूर्ण होते हैं।

घनत्व—शहरीय जीवन प्रणाली विशेषकर का विकास करती है। इस विशेषीकरण के लिए जनसंख्या का घनत्व अधिक होना चाहिए। इसलिए जनसंख्या का घनत्व भी शहरीय जीवन प्रणाली की एक विशेषता मानी जाती है।

विषमता—शहरीय जीवन प्रणाली में विषमता के तत्वों का भी प्रबल प्रभाव होता है। शहर विषमताओं का केंद्र होता है। इस सम्बन्ध में विर्थ ने उचित कहा है ''इस प्रकार ऐतिहासिक रूप से शहर सदा प्रजातियों, जनता एवं संस्कृतियों को पिघलाने वाला एक घड़ा है।''

आज शहरीय का निरन्तर विकास हो रहा है। इस सम्बन्ध में एंडरसन ने लिखा है—''शहरीयता जीवन के ढंग के रूप में शहरों एवं कस्बों तक ही सीमित नहीं है, यद्यपि यह बड़े शहरीय केंद्रों से ही प्रारंभ होता है। वह व्यवहार का एक ढंग है और इसका तात्पर्य यह होता है कि एक व्यक्ति यद्यपि एक ग्राम में रहता है, किन्तु अपने विचार एवं आचरण में शहरीय हो सकता है। दूसरी तरफ, एक अनागरिक व्यक्ति एक शहर से अत्यधिक शहरीय क्षेत्र में रह सकता है।''

विर्थ ने भी लिखा है—''हम यह परिणाम निकालते हैं कि ग्रामीण जीवन पर शहरीयता की उतनी छाप रहेगी जीतनी कि वह संपर्क एवं संचार के द्वारा शहरों के प्रभाव में आता है। यह कहना इस बात को स्पष्ट ही करेगा कि यद्यपि शहरीयता के प्रमुख केंद्र वे स्थान रहेंगे जिन्हें हम शहर कहते हैं, फिर भी शहरीयता शहरों तक ही सीमित नहीं है अपितु हर उस स्थान पर पाया जाता है जहाँ कि शहर का प्रभाव पहुँचता है।''

शहरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ—शहरीकरण की एक प्रमुख विशेषता अस्थायित्व है। वह केवल अस्थायी सम्बन्ध रख पाता है। रोज नये-नये लोगों से सम्बन्ध जोड़ता है और पुरानों को भूलता जाता है। उसे इतने अधिक लोगों से सम्बन्ध रखना पड़ता है कि हर बार एक को भली प्रकार से स्मरण नहीं रख सकता। उसके सम्बन्ध कृत्रिम एवं औपचारिक भी होते हैं। वह सब सम्बन्ध में पूरी जानकारी भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास इतना समय नहीं होता, और न उसका इतना काम ही पड़ता है। उसका व्यवहार घनिष्ट नहीं होता, अपितु बनावटी होता है। वह 'हलो मित्रता' में विश्वास करता है। कहीं मिल गये तो बड़े ही तपाक से मिलेंगे और हेलो शब्द से संबोधित करेंगे किन्तु केवल स्वार्थ ही की बात होगी। वह गुमनाम रहना ही पसंद करता है। सब लोग अपने-अपने कम में लगे रहते हैं। इतने अधिक व्यक्ति होते हैं कि कोई किसी को नहीं पहचानता। एक ऐसा न पहचानने का दृष्टिकोण भी बन जाता है।

ये प्रमुख विशेषताएँ विर्थ न बतायी है। एंडरसन ने इन्हें अत्याधिक महत्त्व दिया है।

शहरीयता का एक सिद्धांत—विर्थ ने शहरीयता का सिद्धांत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। सिद्धांत का सार यही है कि शहर स्थायी घने बसे हुए क्षेत्रों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और इस घने बसे हुए क्षेत्रों में एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं जो नवीन जीवन के ढंग को जन्म देते हैं। यही नवीन जीवन का ढंग शहरीयता है। विर्थ ने लिखा है—''अत: जितना ही अधिक विस्तृत, अधिक घना बसा हुआ और अधिक बेमेल एक समुदाय होगा, उतनी ही उसकी विशेषताएँ शहरीयता जैसी होंगी।

विर्थ ने निम्न तत्वों को अत्यधिक महत्त्व दिया है—

1. जनसंख्या के आकार
2. घनत्व
3. विभिन्न या बेमेल प्रकार के लोग

जनसंख्या के आकार पर अनेक प्रकार के परिवर्तन सामाजिक संबंधों से उत्पन्न होते हैं। हर व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए उसमें विभिन्न प्रतिभाएँ, योग्यताएँ इत्यादि पायी जाती हैं। इसके कारण अंतरण उत्पन्न होता है। विर्थ ने भी लिखा है—''जनसंख्या में वृद्धि इस प्रकार बदले हुए सामाजिक संबंधों का समावेश करती है।'' संख्या अधिक होने के कारण व्यक्ति हर एक से पूर्ण रूप से नहीं मिल पाता। वह केवल अंशों में सम्बंधित एवं आवश्यक सम्बन्ध रख पाता है। शहर में संबंध प्राथमिक न होकर द्वैतीयक होते हैं। इस सम्बन्ध में विर्थ का कहना है कि ये सम्बन्ध व्यक्तियों पर नहीं होते हैं बल्कि अवैयक्तिक होते हैं। ये दिखावटी, कृत्रिम, अस्थायी एवं कार्य-विशेष से ही सम्बंधित होते हैं। शहर के व्यक्ति के संबंध तर्क पर आधारित होते हैं। ये परिवर्तित सामाजिक सम्बन्ध नये प्रकार के सामाजिक संगठन एवं ढांचे को जन्म देते हैं।

जनसंख्या का घनत्व भी महत्व रखता है। डार्विन ने पेड़ पौधों इत्यादि के सम्बन्ध में खोज की, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि घनत्व के कारण विशेषीकरण का विकास होता है। दुर्खीम ने मानव समाजों के विषय में यही खोज की और श्रम-विभाजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस प्रकार शहरों में घनत्व अधिक होने से विशेषीकरण का विकास होता है। विभिन्नता पर भी विर्थ ने विशेष बल दिया है। उनका मत है कि ''इसके कारण शहरों को एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है। नये-नये विचार, नये-नये कार्य दिखायी पड़ते हैं, जो शहर के जीवन को प्रगति की ओर ले जाते हैं। विभिन्न जातियों, प्रजातियों, वर्गों, प्रदेशों, देशों इत्यादि के लोग एकत्रित होते हैं। ये एक नवीन सभ्यता एवं संस्कृति को जन्म देते हैं'' शहर नये-नये अनुभवों एवं संस्कृतियों का लाभ उठता है। इन सबके कारण एक नये जीवन का उदय होता है।

शहरीयता और सभ्यता—शहरीयता एवं सभ्यता में घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोग तो शहरीयता को ही सभ्यता मानते हैं। मीडोज ने भी यही विचार रखा है। एंडरसन ने मीडोज के विचार व्यक्त किये हैं। उसके अनुसार शहरीयता एवं शहर ही प्रमुख रूप से सभ्यता के निर्माण करने वाले हैं। वे ही उसको दूसरा रूप देने के भी उत्तरदायी हैं। सभ्यता की परिभाषा करने का अर्थ है शहरीयता की परिभाषा करना। सभ्यता शहर के पर्यावरण में ही केन्द्रित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभ्यता प्रकार से शहरीयता का प्रसाद है। शहरीयता ही वह जीवन का ढंग है जिसे हम सभ्यता कहते हैं। विर्थ न भी लिखा है, ''आधुनिक युग में मानव के जीवन के ढंग के विशिष्ट लक्षण उसका अत्यंत घनी आबादी में केन्द्रीकरण है, जिसके चारों ओर छोटे-छोटे केंद्र रहते हैं और जहाँ से विचार एवं व्यवहार फैलते हैं, उन्हें हम सभ्यता कहते हैं।'' विर्थ के अनुसार महानगर ही आधुनिक युग के मानव के जीवन के ढंग का विशेष लक्षण है जहाँ से विचारों एवं व्यवहारों के प्रतिमानों का जन्म होता है। फिर यही छोटे-छोटे शहरों द्वारा अपना लिये जाते हैं। शहरों का व्यवहार सीखना ही सभ्यता सीखना है। एरिकसन ने लिखा है—''समाजशास्त्रीय रूचि के केंद्र में शहर के समझने के कार्यक्रम के द्वारा हम न केवल शहरीय सभ्यता की प्रमुख समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, अपितु समकालीन समाज को पूर्ण रूप से समझ लेते हैं।''

विर्थ ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार शहरीयता समकालीन समाज के समस्त जीवन को प्रभावित करती है। पहली बात उन्होंने यह कही है कि हमारा यह समझाना गलत है कि शहरीयता केवल उन लोगों के जीवन को प्रभावित करती है। जो शहरों में रहते हैं। शहरीयता का प्रभाव बड़ा व्यापक है। शहर केवल लोगों के रहने एवं काम करने का ही स्थान नहीं है, अपितु वह आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के नियंत्रण एवं अनुकरण करने का महत्वपूर्ण केंद्र है। वह अपने क्षेत्र में समस्त संसार को लपेटता चला जा रहा है। शहर यह निश्चित करता है कि किस प्रकार का आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन समकालीन मानव का होगा। जो इसका अनुकरण करते हैं आज का समाज उन्हें पुरुस्कृत करता है और जो इन्हें नहीं अपनाते उन्हें हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार शहर नियंत्रण का भी केन्द्र है। व्यवहारिक प्रतिमान सिखाने के साथ-साथ शहर नियंत्रण की शक्ति को बढ़ता जा रहा है जिसके फलस्वरूप उसके प्रभाव का विस्तार हो रहा है।

एंडरसन ने लिखा है—''एक जीवन के ढंग के रूप में शहरीयता समस्त भूमण्डल पर फैलती जा रही है।'' शहरीयता जीवन का एक ऐसा ढंग है जो सबको ही अपनाना पड़ेगा। ''उसने आगे लिखा है—कुछ भी हो, यह एक ऐसा चलन है जिसे अपनाना ही होगा।''

शहरीयती बढ़ती ही जा रही है और दूसरे हर प्रकार के जीवन के ढंग को समाप्त करता जा रहा है। वर्गल ने इस सम्बन्ध में लिखा है—''शहरीयता ने एक नवीन प्रकार के समाज को ही विकसित नहीं किया है, अपितु यह पहले के समस्त प्रकारों को हटाने की प्रक्रिया में है। एक ग्रामीण कृषक समाज और एक नागरिक समाज के सह-अस्तित्व की बात अब भूतकाल की हो गई है।'' इसी प्रकार का विचार बर्गल ने भी व्यक्त किया है—''शहरीयता अब केवल शहरों तक ही सीमित नहीं रहेगा। यह ग्रामीण कृषकों समाजों को हटाकर उनका स्थान स्वयं ले लेगा।...नागरिक जीवन का ढंग ही केवल एक मात्र जीवन का ढंग रह जायेगा।''

शहरीयता को लोग, पृथक-पृथक नामों से पुकारते हैं। एंडरसन ने इस सम्बन्ध में लिखा है—''कुछ लोग, इसे प्रगति कहकर पुकारते हैं। साम्यवादी भाषा में शहरीयकरण की प्रक्रिया को वह मुक्ति हैं और साम्यवादी देशों में इस प्रक्रिया को निर्देशित एवं व्यवस्थित रूपों में आगे बढ़ाने के लिए सक्रिय कार्यक्रम है।''

शहरीय समाजशास्त्र का उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विचारकों के मध्य विवाद पाया जाता है। इस विवाद का कारण यह है कि कुछ विचारक यह मानते हैं कि शहरीय समाजशास्त्र से पूर्व ग्रामीण समाजशास्त्र का उद्भेदन हो चुका था। इसके विपरीत कुछ लोगों का मत है कि ग्रामीण समाजशास्त्र के पहले ही शहरीय समाजशास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी। जो समाजशास्त्री इस बात का समर्थन करते हैं कि शहरीय समाजशास्त्र के बाद में प्रकट हुआ है, वे इसकी उत्पत्ती 20वीं शताब्दी में निर्धारित करते हैं क्योंकि ग्रामीण समाजशास्त्र का उद्भव 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ है। इन समाजशास्त्रियों में श्री० एफ० एल० हाउस का स्थान प्रमुख है। लेकिन यह बात समाजशास्त्रीय आंदोलन में प्रमुख स्थान प्राप्त कर गया हो। अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में ग्रामीण समाजशास्त्र का विकास इतना द्रुतगति से हुआ हो कि वह अमेरिका के समाजशास्त्रीय आंदोलन में प्रमुख स्थान प्राप्त कर गया हो। अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में ग्रामीण का अध्ययन एवं

अध्यापन शहरीय समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास शहरीय समाजशास्त्र से पहले माना जाता है। वैसे शहरीय समाजशास्त्र की उत्पत्ति ग्रामीण समाजशास्त्र से काफी पूर्व में ही हो चुकी थी।

वस्तुत: 16वीं शताब्दी में शहरीय समाजशास्त्र पर कार्य प्रारंभ हो गये थे। इन कार्यों में शहरों का अध्ययन प्रमुख स्थान रखता है। यद्यपि ये अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचारकों के मत से उपयुक्त नहीं माने जाते हैं तथापि शहरीय समाजशास्त्र में शहर के जीवन और उससे सम्बंधित गतिविधियों के विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से इन कार्यों से ही हम इस शास्त्र की उत्पत्ती निर्धारित कर सकते हैं। 16वीं शताब्दी में किये गये अध्ययनों में निम्नांकित विचारकों का स्थान प्रमुखता रखता है—

1. ग्रान्ट
2. रेवन्स्टीन
3. मेयर
4. सूपन
5. ब्यूकर
6. अडना वेबर
7. विलकास
8. हर्ड
9. गियोवानी वोटरों

यद्यपि इन विचारकों के कार्य पूर्ण रूप से शहरीय जीवन से सम्बंधित हैं। इनके अध्ययनों में शहरीय सामाजिक व्यवहारों के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इसलिए कुछ विचारक इन क्यों की समाजशास्त्रीय अध्ययनों की दृष्टि से गणना नहीं करते हैं। वर्गल ने भी इसी बात का समर्थन किया है। इन कार्यों के प्रति बर्गल का विचार है कि जैसे अमेरिका में शहर कर प्रति लोगों की रूचि अत्यंत प्राचीन है। लेकिन शहरीय समाजशास्त्रीय अध्ययन का विकास तो 20वीं शताब्दी में ही परिपूर्णता तक पहुँचा है।

भारत में भी शहर अध्ययनों का सूत्रपात प्राचीन काल में हो चुका था। गुप्त और मौर्यवंश के राजाओं को शहर निर्माण का बहुत शौक था। उन्होंने प्राचीनकाल में अनेक शहर बसाये तथा उसकी योजनाओं पर विचार किया। इनमें तक्षशिला, उज्जैन, वैशाली आदि शहर प्रमुख हैं। विदेशियों ने भी इन शहरों के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। लेकिन इन रचनाओं को हम समाजशास्त्रीय इसलिए नहीं कहते हैं कि इन कार्यों में सामाजिक कार्यों तथा सामाजिक व्यवहारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। तत्कालीन शहरीय समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से परिपूर्ण अध्ययनों की भारत में परमावश्यकता है।

17वीं शताब्दी के बाद 18वीं व 19वीं शताब्दी में भी शहरों पर कुछ कार्य अमेरिका, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस तथा भारत में हुए हैं। शहरीय समाजशास्त्रीय दृष्टि से इन कार्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान न होने के कारण उल्लेख नहीं किया जाता है क्योंकि विधिवत रूप से शहरीय समाजशास्त्र ने अपना पूर्ण रूप 20वीं शताब्दी में ही प्रकट किया है। इसी कारण ग्रामीण समाजशास्त्र अपने विकास में इन विज्ञान से अगुआ बन गया है। शहरीय समाजशास्त्र की तुलना में ग्रामीण समाजशास्त्र अधिक प्राचीन है।

शहरीकरण का विकास—अधिकांश राजनीतिज्ञ शहरीकरण के विकास के सम्बन्ध में इस बात पर सहमत हैं कि शहरीय समाजशास्त्र का विकास 20वीं शताब्दी में हुआ है। इस शताब्दी में शहरीय अध्ययनों की वैज्ञानिक पद्यतियों पर अनेक कार्य हुए हैं। ये वैज्ञानिक अध्ययन शहर विज्ञान और शहरीय परिस्थिति शास्त्र पर पूर्णरूप से आधारित हैं। इन कार्यों का हम निम्नांकित शीर्षक के अंतर्गत वर्णन कर सकते हैं।

शहरीय परिस्थिति शास्त्रीय अध्ययन—शहरीय प्रस्थितिशास्त्रीय अध्ययन प्रमुख रूप से अमेरिका में किये गए हैं। ये अध्ययन शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस से प्रकाशित हुए हैं। इन अध्ययनों में शहर की परिस्थिति का विश्लेषण किया गया है क्योंकि परिस्थिति सम्पूर्ण मानव जाति से सम्बंधित है। जैसा कि हम जानते हैं कि

परिस्थितिशास्त्र जीवन के ढंग का वर्णन करता है। जीवन के ढंग में संस्कृति के तत्व अधिक मात्रा में नहीं मिलते हैं। मानव परिस्थिति को ग्रामीण परिस्थिति और शहरीय परिस्थिति में विभाजित किया जाता है।

सम-सामयिक अध्ययन—इन अध्ययनों के अंतर्गत जो प्रतिवेदन दिए गए हैं, वे राजनैतिक, गणितज्ञ, सांख्यिकीयशास्त्री, जनसंख्या की समस्या के विद्यार्थी, अर्थशास्त्री और इतिहासकारों के लिए भी उपयोगी है। इनमें कुछ कार्य प्रशंसकों, भवन-निर्माण विशेषज्ञों, आयोजकों एवं सुधारकों के द्वारा ही किये गए हैं। इनका सब कार्यों के प्रति शहरीय समाजशास्त्र बड़ा ऋणी है। शहरीय परिस्थितिशास्त्र के क्षेत्र में बड़े विस्तृत कार्य हुए हैं। इन कार्यों में शहर विशेष पर लिखी गई रचनाओं को काफी ख्याति मिली है। इन सामाजिक विषयक अध्ययनों के प्रकाशन से शहरीय समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में विकसित होने के लिए गति मिली है। इसलिए सम-सामयिक विषयक अध्ययनों का महत्त्व नागरिय समाजशास्त्रियों के लिए बहुत है। इन कार्यों में शहरीय घटना के उल्लेख पर बड़ा बल दिया गया है।

इन कार्यों के प्रमुख रूप से शहरीय अर्थव्यवस्था और घटनाओं का अधिक उल्लेख होने के कारण यद्यपि इन्हें पूर्ण रूप से समाजशास्त्रियों द्वारा ही किये गये हैं। शहरीय समाजशास्त्र के विकास में इन कार्यों का महत्वपूर्ण योग है।

राजधानी संबंधी अध्ययन—ये अध्ययन भी शहरीय समाजशास्त्र के विकास में उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। ये अध्ययन प्राथमिक रूप से विशेष अवसरों पर तथा विशेष आवश्यकताओं के आधार पर किये गए हैं। शहरीय समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का विकास करने में इनका बड़ा योग है। शहरीय समाजशास्त्र के विकास की पृष्ठभूमि का निर्माण करने की दृष्टि से ऐसे अध्ययन उपयोगी रहे हैं।

शहरीय सम्बन्धी अध्ययन—प्रमुख शहरीय समाजशास्त्री पार्क, वर्गस तथा बिर्थ ने जो रचनाएँ लिखी हैं, व शहरीयता के तत्वों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों से सम्बंधित हैं। इन रचनाओं में शहरीयता, एक जीवन के ढंग में देखेंगे कि जीवन का ढंग समाजशास्त्र के लिए उपयोग है। शहरीय समाजशास्त्र के विकास में सहयोग देने की दृष्टि से इन रचनाओं का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

उपरोक्त रचनाओं में शहरीय समाजशास्त्र के विज्ञान को न केवल विकसित करने में ही योग नहीं दिया है, बल्कि इससे शहरीय समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में प्रकट होने में भी बड़ी सहायता मिली है।

शहरीय समाजशास्त्र—एक स्वतंत्र विज्ञान एक स्वतंत्र सामाजिक विज्ञान के रूप में शहरीय समाजशास्त्र का वास्तविक विकास रोबर्ट ई० पार्क के एक निबंध 'दी सिटी' से हुआ है। इस निबन्ध ने शहरीय समाजशास्त्र के एक नये युग को जन्म दिया। यह निबंध 1915 में अमेरिकन जरनल ऑफ सोशियोलोजी में प्रकाशित हुआ था। लेकिन इस समय तक भी शहरीय समाजशास्त्र के प्रति बहुत लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान के रूप में ही अटल रहा है। इसकी शाखाओं का विशेषीकरण पूर्ण एवं स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हो सका है। शहरीय समाजशास्त्र अपनी शैशवावस्था में झूलता रहा। सन् 1915 का समय अवश्य एक बदलता हुआ समय था। जब पार्क ने अपने निबंध को एक छोटी पुस्तक 'दी सिटी' के रूप में प्रकाशित कराया। इस कार्य में वर्गस ने पार्क को बहुत सहयोग दिया।

इसी समय में बर्गस ने 'दी अरबन कम्युनिटो' नाम की रचना प्रकाशित करा कर शहरीय समाजशास्त्र के उत्तोतर विकास की गति को एक निर्धारित दिशा प्रदान की। इस प्रकार सर्वप्रथम सन् 1929 में शहरीय समाजशास्त्र की प्रथम पाठ्य पुस्तक प्रकाशित हो गयी। यह अमेरिका की पहली रचना थी। इससे शहरीय समाजशास्त्र पूर्ण व्यवस्थित और समाजशास्त्र की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। आज शहरीय समाजशास्त्र, एक शहर विज्ञान के रूप में प्रस्फुटित हो चुका है। यद्यपि इस विज्ञान के विकास में शहरशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, राज्य सरकारों, प्रशासकों एवं समाजकार्य वैज्ञानिकों को ही श्रेय देना होगा। इनके सहयोग से ही यह नवीन विज्ञान न केवल अमेरिका में ही बल्कि अब तो भारतीय विश्वविद्यालयों में भी पठन-पाठन का प्रचलित विषय बन गया है। इतना ही नहीं, शहरीय समाजशास्त्रियों के अथक प्रयत्न इस संदर्भ में उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। इनके प्रमाणिक अध्ययनों के प्रभावस्वरूप ही यह

न्यायशास्त्र, अपराधशास्त्र, औषधिशास्त्र, स्वास्थ्य विज्ञान, भवन-निर्माण विज्ञान, आयोजन विज्ञान तथा मनोरंजन शास्त्रों से भी प्रमुख संदर्भ अध्ययन के रूप में अविस्थापित हुआ है।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त से शहरीय समाजशास्त्र के विकास की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अब तक यहाँ यह धारणा प्रचलित रही है कि भारत ग्रामीण देश है। इसलिए ग्रामों के विज्ञान पर बल दिया जाना चाहिए। लेकिन औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण की द्रुतगति प्रक्रियाओं ने यहाँ के विचारकों को बाध्य कर दिया है कि वे शहर और शहरीय जीवन के सम्बन्ध में भी अपना ध्यान आकर्षित करें। इसके परिणामस्वरूप न केवल शहर तथा शहरीय समाजशास्त्र के अध्ययन पर ही अब बल नहीं दिया जा रहा है, बल्कि शहर सामुदायिक योजना तथा अन्य शहरीय समस्याओं के निवारण हेतु शहरीय समाजशास्त्र का प्रायोगिक महत्त्व बढ़ गया है। वह समय दूर नहीं जब भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय एवं अनुसंधान संस्थाओं में ग्रामीण समाजशास्त्र के समान शहरीय समाजशास्त्र भी महत्त्व का विषय बन जायेगा।

भारत में शहरीकरण की प्रगति—भारत में शहरीकरण अभी अपने शैशवावस्था में है। एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में इस शास्त्र का विकास यहाँ अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है। लेकिन इतना अवश्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त ये भारत में इस दिशा में जिज्ञासाएँ तथा क्षेत्रीय कार्यों की दृष्टि में उत्साह विकसित हो गया है। भारत में शहरीय जीवन के भिन्न-भिन्न महत्वपूर्ण पक्षों का सर्वेक्षण कार्य गत वर्षों से तीव्रगति पर है। भारत में शहर इकाइयों में कुछ सर्वेक्षण कार्य हुए हैं। इन सर्वेक्षणों को शहर, जिला प्रदेश एवं राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित किया गया है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम डॉ० वी० के० आर० वी० राव के सद्प्रयत्नों से हुए दिल्ली के समीप क्षेत्रों में जैसे फरीदाबाद, निलोखेरी तथा राजपुरा के अध्ययन उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। सन् 1995 के बाद इस दृष्टि से शहर स्तर के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण हुए इनमें आगरा, इलाहबाद, अलीगढ़, अमृतसर, बड़ौदा, भोपाल, हुबली, जयपुर, जमशेदपुर, कानपुर, लखनऊ, मद्रास, पूना, सूरत और विशाखापत्तनम आदि अध्ययन उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। इन अध्ययनों में से अधिकांशत: अध्ययनों का आयोजन भारत के योजना आयोग की देख-रेख में किया जाता है।

शहर स्तर के इन सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षणों में गोखले इंस्टिट्यूट ''पूना—पुन: सर्वेक्षण का प्रमुख स्थान है। यह अध्ययन डॉ० डी० आर० गाडगिल के नेतृत्व में किया गया है। द्वितीय स्थान पर मद्रास, बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली शहर क्षेत्र के सर्वेक्षण उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। इसी प्रकार महुआ (महाराष्ट्र) नामक डॉ० आई० पी० देसाई का कार्य प्रधानता रखता है। इसी दृष्टि से फोर्ड फाउंडेशन की सहायता से ''हैदराबाद मैट्रोपोलिटन रिसर्च प्रोजेक्ट'', ओसमानिया युनिवर्सिटी द्वारा किया गया है, हैदराबाद का सर्वेक्षण भी इसी श्रेणी में आता है। रास का, 'हिन्दू फैमिली इन अरबन सेटिंग' नामक अध्ययन इस दिशा में एक अच्छा प्रयास माना जा सकता है। इसी प्रकार दक्षिणी भारतीय उच्च तथा मध्यम श्रेणी के शहरीय परिवारों का वैज्ञानिक विश्लेषण डॉ० घूरिये द्वारा प्रस्तुत किया गया है। 'यूनेस्को रिसर्च सेंटर' द्वारा भी भारत में प्रमुख क्षेत्रों के सर्वेक्षण के अध्ययन आयोजित किये गये हैं। इस भाँति भारत में शहर स्तर के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षणों का आयोजन स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत से विशेष उत्साह से हुआ है। इन सर्वेक्षणों को शहरीय समाजशास्त्र नहीं कह सकते हैं। ये सर्वेक्षण आंशिक हैं तथापि शहरीय समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के निर्माण में योग प्रदान करते हैं। यह प्रसन्नता है कि भारत में शोध संस्थानों, विश्वविद्यालयों और विदेशी एजेंसियों के कार्य महत्वपूर्ण हैं। इन सर्वेक्षणों से शहरीय समाजशास्त्र को प्राथमिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

भारत में शहर सम्बन्धी सर्वेक्षणों के विकास के क्षेत्र में नेशनल सैम्पल सर्वे नामक संगठन का कार्य भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय स्थान रखता है। भारत सरकार ने 1950-51 में इस विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग द्वारा शहरीय सामाजिक स्तरण के सम्बंधित आँकड़े एकत्रित किये गये हैं। सम्पूर्ण भारत के शहरीय क्षेत्रों को इस भाँति 94 खण्डों में विभाजित करके तीन व चार सामाजिक स्तरणओं की खोज की गयी है। इस भाँति नेशनल सैम्पल सर्वे योजना के अंतर्गत शहरीय जीवन से सम्बंधित व्यापक आँकड़े एकत्रित किये गए हैं। इस दृष्टि से शहरों की श्रम शक्ति, पारिवारिक व्यय, तालिकाएँ, शहरों में बेकारी के अनुपात आदि विषयों से सम्बंधित आँकड़े उपयोगी माने जा सकते हैं।

भारत में शहर जीवन तथा शहरीयता से सम्बंधित आँकड़े एकत्रित करने हेतु आयोजित सर्वेक्षणाओं में जनसंख्या तथ्य एकत्रित किये गये हैं। इस सर्वेक्षण में ग्रामीण अध्ययनों का क्रम अभी भी निरंतर जारी है। दिल्ली के नेशनल इकोनोमिक रिसर्च काउन्सिल द्वारा भी कुछ शहरीय सर्वेक्षण किये गये हैं। इसी संदर्भ में ऑल इंडिया अरबन हाउसहोल्ड सेविंग्स सर्वे का भी नाम उल्लेखनीय है। भारत में कुछ प्रादेशिक स्तर के अध्ययन भी हुए हैं। इस दृष्टि से भिलाई, भाकरा नांगल, हीराकुंड, दामोदर घाटी, खड़गपुर आदि प्रादेशिक स्तर के सर्वेक्षण महत्वपूर्ण माने जाते हैं। 'दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क' तथा अखिल भारतीय नैतिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य संघ द्वारा आयोजित भिक्षावृति संबंधी सर्वेक्षण भी उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

इस भाँति हम देखते हैं कि भारत के शहरीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में अभी तक पठन-पाठन संबंधी अवधारणात्मक प्रकाशन प्रकाशित नहीं हुए हैं। यद्यपि साभोंमिक रूप से शहरीय जीवन पर प्रकाश डालने वाले अध्ययन हुए हैं। शहरीय समाजशास्त्र में विभिन्न दिशाएँ विकसित की जा सकती हैं, जैसे 'शहरीयता—एक जीवन के क्रम के रूप में'। इस दृष्टि से अभी तक भारतीय स्तर पर कार्य नहीं हुए हैं। शहरीय परिस्थिति और शहर क्षेत्रों के अध्ययन की दृष्टि से भी बड़े व्यापक एवं सार्वभौमिक सैद्धांतिक प्रतिस्थापना के दृष्टि से इस क्षेत्र से अत्यधिक कार्य होना शेष है।

भारतीय स्तर पर शहरीयकरण के प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है। कि निकट भविष्य में शहरीयता का व्यापक विकास होगा। इस दृष्टि से महानगरों और विराटनगरों, औद्योगिक नगरों तथा पूर्व औद्योगिकनगरों का अध्ययन करने की प्रबल आवश्यकता है। भारत में विकसित शहरीय समस्याओं जैसे—व्यवसायिक, मनोरंजन, यातायात एवं संदेशवाहन की दृष्टि से भी व्यैक्तिक विषय अध्ययन होना आवश्यक है। शहर आयोजन की दृष्टि से भी व्यापक अध्ययनों की भारत में आज प्रबल आवश्यकता है।

शहरों की सामाजिक-पारिवारिक संरचना

सामाजिक संरचना प्रमुख समाजशास्त्री प्रतिपाथ विषय हैं। शहरीय सामाजिक संरचना की अपनी विशिष्ट प्रकृति है। शहरीय सामाजिक संरचना से भिन्न है। परन्तु जैसा कि हम पहले भी लिख चुके हैं कि यह भिन्नता हमें ध्रुवीय उदाहरणों में ही मिलती है। इसी आधार पर हमने गत अध्याय में ग्रामीण एवं शहरीय जीवन में भिन्नताओं का उल्लेख करने का प्रयास किया है। सामाजिक संरचना का विश्लेषण करने की दृष्टि से विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाये हैं। मर्टन ने समाज विशेष में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं कार्यों के आधार पर इस विश्लेषण का सुझाव दिया है। हम भी यहाँ शहरीय समाज की प्रमुख संस्थाओं का विवेचन करके शहरीय सामाजिक संरचना का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। हम प्रमुखत: परिवार, वर्ग व्यवस्था, मनोरंजन की संस्थाओं एवं शहरीय सरकार पर विचार करेंगे। प्रथम हम शहरीय परिवार की व्याख्या करने का यत्न करेंगे। परन्तु पूर्व इसके हम शहरीय सामाजिक संरचना की सामान्य विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

शहरीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—शहरीय समाज की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. अस्थायित्व—शहरीय सामाजिक संरचना की एक प्रमुख विशेषता अस्थायित्व है। व्यक्ति यहाँ केवल अस्थायी सम्बन्ध रख पाता है। व्यक्ति रोज नये-नये लोगों से मिलता है और सम्बन्ध जोड़ता है एवं पुराने लोगों को भूल जाता है। उसे इतने अधिक लोगों से सम्बन्ध रखना पड़ता है कि हर एक को भली-भाँति स्मरण रखना असम्भव हो जाता है। यहाँ सम्बन्ध प्राथमिक न होकर द्वितीय होते हैं। यहाँ व्यक्ति की स्थिति भी सदा बदलती रहती है। इस सम्बन्ध में विर्थ महोदय ने कहा है कि ये सम्बन्ध व्यक्तियों पर आधारित नहीं होते हैं बल्कि अवैक्तिक होते हैं, ये दिखावटी, कृत्रिम अस्थायी, परिवर्तनशील और कार्य विशेष से ही सम्बंधित होते हैं। शहर के व्यक्ति के सम्बन्ध तर्क पर आधारित होते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों के कारण नये सामाजिक संगठन एवं सामाजिक संरचना का जन्म होता है।

2. अल्पज्ञता—शहरीय समाज में व्यक्तियों के सामाजिक संबंध कृत्रिम एवं औपचारिक होते हैं। व्यक्ति यहाँ सबके संबंध में पूरी जानकारी नहीं रख पाता क्योंकि उसके पास इतना समय नहीं रहता है और न तो

सम्बन्ध रखने की कोई आवश्यकता ही होती है। उसका व्यवहार घनिष्ट नहीं होता है, अपितु बनावटी होता है। वह 'हलो मित्रता' में विश्वास करता है। कहीं मिल गये तो बड़े ही तपाक से मिलेंगे और हलो शब्द से संबोधित करेंगे और उसके आगे केवल स्वार्थ की बात होगी। यहाँ व्यक्ति स्वार्थपरता से परिपूर्ण होता है।

3. गुमनामता—शहरीय समाज में व्यक्ति सदस्य गुमनाम रहना ज्यादा पसंद करता है। शहर के भीड़ में कौन किसको पहचानता है। सब लोग अपने-अपने काम में लगे रहते हैं। इतने अधिक व्यक्ति होते हैं कि कोई किसी को नहीं पहचानता। एक ऐसा न पहचानने का दृष्टिकोण भी बन जाता है।

4. बेमेलता—शहरीय सामाजिक संरचना की एक विशेषता यह है कि यहाँ पर बेमेलता पायी जाती है। विभिन्न प्रजातियों, क्षेत्रों, धर्मों, व्यवसायों एवं भाषाओं के व्यक्ति रहते हैं। यहाँ सामाजिक सामंजस्य का अभाव पाया जाता है।

5. व्यक्तिवादिता—शहरीय समाज के मूल्य व्यक्तिवाद पर आधारित होते हैं। हर व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से सोचता, विचारता एवं कार्य करता है। सामूहिकता के आधार पर विचार नहीं किया जाता है।

6. व्यवसायों की बहुलता एवं भिन्नता—शहरीय समाज में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न व्यवसाय होते हैं। श्रम-विभाजन बहुत अधिक होता है। एक व्यवसाय में लगा हर व्यक्ति दूसरे व्यवसाय के विषय में जानकारी नहीं रखता है।

शहरीय परिवार की विशेषताएँ—शहरीय परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. पितृसत्तात्मक अधिकार में कमी—भारतीय ग्रामीण परिवारों में पिता या पति अधिक शक्ति एवं अधिकार प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि पितृसत्तात्मक परिवार अपनी पत्नी तथा बच्चों को बेच भी सकता है। स्त्रियों का सम्पत्ति में कोई भी अधिकार नहीं है। बच्चे तथा स्त्रियाँ प्रत्येक दृष्टि से पितृसत्तात्मक पितृस्थान पर आश्रित हैं। पिता परिवार का स्वामी तथा राजा होता है।

शहरीय सामाजिक संरचना में यद्यपि परिवार पितृसत्तात्मक होते हैं। परन्तु शहरों में पितृसत्तात्मक के ये अधिकार अति न्यून रह गये हैं। उसके समस्त अधिकार छिन गये हैं। पिता परिवार के वैधानिक मुखिया हैं। उसकी तुलना इंग्लैंड के राजा से की जा सकती है। शहरीय परिवार का मुखिया वैधानिक अधिकारी है न कि निरंकुश पितृसत्ता का। आधुनिक कानूनों के अनुसार स्त्रियों तथा बच्चों को अनेक अधिकार प्राप्त हो गये हैं। बच्चों पर माता तथा पिता दोनों का समान अधिकार होता है। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति ऊँची होती जा रही है। पुरुष तथा स्त्री की स्थिति परिवार में समान होती है। समसत्तात्मक परिवार शहरों में पाये जाते हैं। बच्चों की शक्ति भी बढ़ती जा रही है। माउरर ने उचित ही लिखा है, ''वास्तव में परिस्थितियों में प्रबलता प्राप्त करने की ओर ध्यान देते हैं जिसमें बच्चों की नीति को निश्चित करती है। अत: झुकाव सन्तानात्मक परिवार की ओर है जिसमें बच्चा प्रबल कार्य करता है ''यदि बच्चों की शक्ति इसी प्रकार बढ़ती जा रही है तो शीघ्र ही शहरीय परिवार सन्तानात्मक परिवार हो जायगा।

1. परिवार के आकार में ह्रास—शहरीय परिवार का आकार छोटा होता है। पति, पत्नी, तथा बच्चों के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी साथ में बहुत कम रहते हैं। अधिकतर नवविवाहित-युग्म अपने सास-ससुर के साथ रहना पसंद नहीं करते हैं। इतना ही नहीं अपितु कुछ देशों में तो बच्चे उत्पन्न करना भी माता-पिता उपयुक्त नहीं समझते हैं। अमेरिका में नि:संतान परिवारों की संख्या अत्यधिक है। जनगणना के अनुसार 48.9 प्रतिशत परिवारों में 18 वर्ष से कम उम्र का कोई भी बालक नहीं पाया गया तथा 21.3 प्रतिशत परिवारों में 18 वर्ष से कम उम्र का केवल 1 बालक पाया गया। इंग्लैंड तथा वेल्स में 1951 ई० में औसत परिवार का आकार 3.72 व्यक्ति था। 1951 ई० में ही 6,89,000 व्यक्ति बिना घरबार के अकेले रहते हुए पाये गये। अमेरिका में तो जनसंख्या अत्यधिक गिरती जा रही है तथा नेताओं को इसकी बड़ी चिंता है। फाल्सम ने लिखा है ''दो बच्चों का परिवार आजकल या व्यापक सामाजिक नियम या आदर्श है।'' अमेरिका शहरीय परिवारों के प्रतिमानों का एक छोर है। भारत में शहरीय सामाजिक संरचना में एकांकी परिवार को अच्छा माना जाता है। यहाँ परिवार नियोजन का प्रचलन अधिक है।

शहरीय परिवार में कृषि का कार्य न होने के कारण अधिक सदस्यों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्य आर्थिक कारक भी परिवार के आकार को छोटा रखते हैं। प्राकृतिक रूप से भी शहरीय परिवार बड़ा नहीं हो पाता है क्योंकि यहाँ सन्तान निरोध के अनेक साधन उपलब्ध हैं। इन कारकों के फलस्वरूप शहरीय परिवार आकार की दृष्टि से बहुत छोटा है। शहरीय पारिस्थितिकीय परिस्थितियाँ भी छोटे परिवार को प्रोत्साहित करती हैं।

1. अस्थायी परिवार—शहरीय परिवार अस्थायी होता है। यहाँ सामाजिक गतिशीलता अत्यधिक है। इसके फलस्वरूप परिवार एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं। यहाँ विवाह शीघ्रता में होता है तो विवाह विच्छेद भी अत्यधिक पाये जाते हैं। भारत जैसे रूढ़िवादी एवं धर्मपरायण देश में भी विवाह-विच्छेद स्वीकार कर लिया है। अमेरिका में 1940 ई० में 168 बाल विवाहों में पाये गये। शहरों में प्रेम विवाह का प्रचालन बढ़ता जा रहा है। ये विवाह अधिक समय तक निरन्तर नहीं रह पाते। इस कारण भी विवाह-विच्छेद की संख्या अधिक होती है।

2. घर अमहत्वपूर्ण—शहरीय परिवार के लिए घर नाम की वस्तु कोई महत्त्व नहीं रखती। लोग किराये के मकानों तथा होटलों में रहना अधिक पसंद करते हैं। शहरीकृत देश अमेरिका के विषय में यह अत्यंत सत्य है। डॉ प्लांट ने लिखा है। माउरर ने भी लिखा है कि शिकागो में टेलीफोन रखने वाली जनसंख्या एक स्थान पर औसत रूप से 2.83 वर्ष रहती है। शहरों में भीड़-भाड़ की समस्या बड़ी व्यापक है। इसलिए भी घर का महत्त्व क्षीण होता जा रहा है।

3. नातेदारी-कम महत्वपूर्ण—शहरीय परिवार के लिए नातेदारी का अधिक महत्त्व नहीं है। लोग अपने रिश्तेदारों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते। ग्रामों में व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को निश्चित करने के लिए अपने रिश्तेदारों का पूर्ण विवरण दिया करता है। यहाँ परिवार उसकी सामाजिक स्थिति निश्चित करता है। शहरीय परिवार का इस दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। व्यक्ति अपने कार्य एवं योग्यता के द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति को प्राप्त करता है। इन कारणों के फलस्वरूप नातेदारी का शहरीय परिवार के लिए कोई महत्त्व नहीं है। नातेदारी रूढ़िवादिता से परिपूर्ण मानी जाती है। इससे सामाजिक नियंत्रण की संभावना अधिक होती है। इसलिए शहरों में स्वछन्द प्रकृति का व्यक्ति इससे बचने की चेष्टा में रहता है।

4. स्त्रियों की परिवर्तित स्थिति—पुरुष परिवार का निरंकुश स्वामी नहीं है। स्त्री के अधिकार परिवार में अधिक हैं। कुछ देशों में तो स्त्रियों के अधिकार इतने बढ़ गये हैं कि लोगों को सन्देह है कि निकट भविष्य में परिवार मातृसत्तात्मक न बन जाय। माउरर ने लिखा है, ''यद्यपि अब भी पति परिवार को नाम प्रदान करता है तथा उसकी पत्नी उसका उपनाम अधिक औपचारिक अवसरों पर प्रयोग किया करती है, इन तथ्यों के होते हुए भी पति अब अनेक परिवारो में परिवार का मुखिया नहीं रहा। वह अब पारिवारिक दायरे में उस निरंकुश राजा के सामान भी नहीं रहा, जिसके शब्द ही विधि हों। वस्तुत: वह (पिता) भाग्यशाली है यदि उसके बच्चे उसे हस्तक्षेप करने वाले बाहरी व्यक्ति के रूप में नहीं समझते हैं अथवा प्रबन्ध करने वाले उस संबंधी की तरह जिसे सहयोग की बच्चों के किसी कार्यक्रम के प्रति उसकी पत्नी के विरोध को समाप्त करने के लिए आवश्यक हो।''

इसके विपरीत पत्नी पारिवारिक दायरे में अपने आपको अपने पति से उच्चतर नहीं तो पूर्णत: समान अवश्य समझती है। वह पारिवारिक समूह के भाग्य को सहानभूतिपूर्वक नियंत्रित करती है लेकिन अल्प प्रतिज्ञ व्यक्ति की तरह नहीं। वह दास वृत्ति करने वाली गुलाम नहीं हैं। जहाँ तक बच्चों का प्रश्न है पिता से अधिक उसकी (माता की) आज्ञाओं पर ध्यान दिया जाता है। स्पष्ट है कि परिवार में स्त्रियों ने आर्थिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक तथा राजनैतिक शक्ति को भी प्राप्त किया है। इसके फलस्वरूप परिवार में उनकी स्थिति उच्च है।

1. स्त्रियों के कार्य के प्रति—औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विवाहित स्त्रियों का घर में काम बहुत हल्का हो गया है। आर्थिक आवश्यकताएँ भी इतनी बढ़ गयी हैं कि साधारण परिवारों को आमदनी पूरी नहीं

पड़ती है। इन कारणों से साधारणत: शहरीय परिवार की स्त्रियों के लिए यह अनिवार्य हो गया है और उन्हें बाहर कार्य करना पड़ता है। कुछ स्त्रियाँ जो उच्च शिक्षा प्राप्त करती हैं। उदाहरण के लिए, सामाजिक गतिविधियों जैसे महिला समिति, ताश खेलना, चाय पार्टी, राजनीतिक गतिविधियाँ, सामाजिक सेवा कार्य, अन्य परमार्थिक तथा धार्मिक कार्य तथा कला एवं साहित्यिक गतिविधियाँ इत्यादि। इन सबको शहरीय परिवार में स्त्रियों की स्थिति एवं कार्यों में महान परिवर्तन दिखाई देता है। स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप में सार्वजनिक जीवन में भाग ले सकती हैं। वे घर के पिंजरे में बंद रहने वाली चिड़ियाएँ नहीं हैं।

2. यौन के प्रति बदलती धारणाएँ—यौन के प्रति भी शहरों में विशिष्ट धारणाएँ पाई जाती हैं। स्त्रियाँ तथा पुरुष साथ-साथ घूम-फिर सकते हैं तथा सम्बन्ध रख सकते हैं। यौन के विषय में ज्ञान बढ़ता जा रहा है। यौन शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया जाता है। स्त्रियों की यौन संबंधी स्वतंत्रता के कारण विवाह के पूर्व यौन सम्बन्धों की संख्या अधिक है। इस दृष्टि से अधिक कहना कठिन है क्योंकि यह गुप्त कार्य तथा इनका अध्ययन अत्यंत कठिन है। फिर भी इस प्रकार के कुछ अध्ययन अमेरिका इत्यादि देशों में किये गए हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण स्त्रियों का आधार भी बदला हुआ है। फाल्सम ने उचित ही लिखा है, ''पुन: आधुनिक लैंगिक स्वतंत्रता स्त्रियों को साधारण स्त्रियों में आदर्शस्वरूप बनने के लिए बाध्य करने के विपरीत उन्हें उनके व्यक्तित्व एवं आवश्यकता के अनुसार मौलिक रूप से प्रथक लैंगिक जीवन बिताने की अनुमति दे देती है।'' स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों को ही यौन सम्बन्धों के समान अधिकार प्राप्त हैं। यौन नैतिकता का दोहरा सिद्धांत नहीं है। सदरलैंड तथा वुडवर्ड ने उचित ही लिखा है, ''यौन रूढ़ियों में परिवर्तन के द्वारा परिवार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।''

शहरों में परिवार संस्था में विघटन के लक्षण प्रतीत होते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री जिम्मर मेन ने अपनी पुस्तक क्राईसेस इन अमेरिकन फैमली में इस दृष्टि से व्यापक रूप में प्रकाश डाला है। शहरों में परिवार संस्था का ग्रामों से मौलिक रूप नहीं पाया जाता है। भारतीय शहरीय संरचना भी विघटन के कगार पर खड़ी है। इस संस्था में आज अनेक समस्याएँ परिव्याप्त हो गई हैं।

शहरीय परिवार की समस्यायें

1. परिवारिक तनाव—शहरीय परिवार की सबसे बड़ी समस्या पति और पत्नी का सम्बन्ध है। प्राचीन युग एवं आधुनिक युग में संघर्ष चल रहा है। पति अपने को ऊँचा समझता है और पत्नी आपके निम्न पूर्वकाल में स्त्री का कोई महत्त्व नहीं था। वह बिना पढ़ी-लिखी एवं हर दृष्टिकोण से पति पर निर्भर थी। जब वह पूर्ण स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर होती जा रही है। यद्यपि सिद्धांत कर लिया गया है फिर भी एक-दूसरे के अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या नहीं हो पायी है। शहरों में पारिवारिक तनावों की संख्या अधिक पाई जाती है। बच्चों में भी अनुशासनहीनता है।

2. विवाह-विच्छेद—शहरीय परिवार की दूसरी प्रमुख समस्या विवाह विच्छेद का विकास होना है। विवाह का आधार पवित्र समझौता न होकर वैज्ञानिक समझौता हो गया है। जिसे चाहे जब तोड़ा जा सकता है। विवाह का उद्देश्य जीवन के कार्यों की पूर्ति न होकर सुख, आनंद एवं भोग विलास की संतुष्टि हो गयी है। दोनों को आपस में बाँधने से बंधन समाप्त हो गये हैं।

3. माता-पिता व संतानों का संघर्ष—माता-पिता एवं इनके बच्चे का संघर्ष दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। परिवार के साथ में कोई भी ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं जिनके द्वारा माता-पिता बच्चों पर नियंत्रण कर सकें। परिवार के संरक्षकों व युवा संतानों में परस्पर मूल्यों का संघर्ष विकसित है। युवाओं में अनुशासनहीनता बढ़ गई है।

4. संतानों के पालन-पोषण की समस्याएँ—पति और पत्नी दोनों ही घर के बाहर कार्य करने जाते हैं। इसके कारण बच्चों के पालन-पोषण की समस्या बढ़ती जा रही है। माता केवल घर की चारदीवारी में न रह कर समाज के अन्य कार्यों एवं उत्सवों में भाग लेती है, इसके कारण वह बच्चों की देखभाल नहीं कर पाती। यद्यपि दूसरी व्यवस्थाएँ की गई हैं, परन्तु वे संतोषजनक फल नहीं पा रही हैं।

5. सुरक्षा पर अभाव—पहले पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थायी होता था और उसके कारण परिवार के सदस्यों में सुरक्षा की भावना रहती थी। शहरीय परिवार में इस भावना का लोप है क्योंकि दोनों को ही सदैव यह डर बना रहता है कि जाने कब दूसरा साथी मुझे छोड़ दे। आपत्तिकाल में ऐसा अधिकांश रूप में देखा गया है। किसी-न-किसी बहाने विवाह-विच्छेद हो जाता है।

6. पारस्परिक विश्वास की कमी—पारस्परिक विश्वास की अत्यधिक कमी पायी जाती है। एक-दूसरे पर कोई विश्वास नहीं करता। यह परिवार न होकर एक संयुक्त समिति कंपनी हो गयी है।

7. न्यून जन्म दर—जन्म दर दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। ऐसे बहुत-से परिवार पाये जाते हैं, जिनमें बच्चे ही नहीं होते। इसके कारण राष्ट्र की जनसंख्या तो कम होती ही है साथ-ही-साथ परिवार अस्थायी होता जाता है। बच्चों के कारण पति और पत्नी बंधन में बंध जाते हैं। जिन परिवारों में बच्चे होते हैं उनमें विवाह विच्छेद कम होता है।

क्या शहरों में पुरानी परम्परा के अनुसार परिवार रह सकता है?—भारतीय शहरों में पुरानी परम्परा के अनुसार परिवारों का रह पाना बड़ा कठिन है क्योंकि आधुनिक समय में तीव्र एवं मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। पुरानी परम्परा कृषि समाज के अनुसार है। शहरीय परम्परा में और ग्रामीण परम्परा में परस्पर गहरा विरोध है। स्वाभाविक है कि औद्योगिकी और शहरीय समाजों में परिवार के नये प्रतिमान विकसित होंगे। कोई भी संस्था क्यों न हो, संस्था का प्रमुख उद्देश्य मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। जो संस्थाएँ किसी समय में मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होती हैं, वे शैने:-शैने: समाप्त हो जाती हैं। पुरानी परम्परा के परिवार आधुनिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं, इसलिए वे बने भी नहीं रह सकते हैं। शहरों में परम्परागत परिवार के मौलिक कार्य करने वाली अनेक संस्थाओं का प्रचलन है। इससे परिवार की कोई विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं होती। विशेष रूप से भारतीय शहरों में आज संयुक्त परिवार का तो कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

संयुक्त परिवार के दोष

समय के साथ-साथ संयुक्त परिवार तथा सामाजिक जीवन परिवर्तित होता गया। संयुक्त परिवार में अनेक दोष उत्पन्न होते गये तथा वह समय की गति के साथ-साथ पग मिला न सका। संयुक्त परिवार प्रथा के निम्न प्रमुख दोष हैं—

1. औपचारिक सम्बन्ध—संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण आपस में सम्बन्ध घनिष्ट नहीं हो पाते तथा औपचारिक रहते हैं। इसके फलस्वरूप आत्मीयता का अभाव रहता है। जो परिवार में मनोवैज्ञानिक असुरक्षा को प्रदान करता है। गृह पर्यावरण शुष्क तथा नीरस रहता है।

2. द्वेष एवं कलेश का केंद्र—संयुक्त परिवार एक ऐसा स्थान होता है कि जहाँ पर सदैव द्वेष एवं कलेश बना रहता है, क्योंकि एक सदस्य का दूसरे सदस्य के हितों का संघर्ष होता रहता है। स्त्रियों में सदैव मनमुटाव रहता है तथा छोटी-छोटी बातों पर झगड़े होते रहते हैं। इस पारिवारिक कलह का फल परिवार का विनाश होता है। सरकार ने उचित लिखा है, ''संयुक्त परिवार में पले हिन्दू ऐसे स्वर्ग की कल्पना नहीं कर सकते जहाँ संयुक्त कुटुम्ब न हो।'' इन दैनिक विवादों और कलहों से संयुक्त परिवार का जीवन बड़ा दु:खमय तथा नारकीय बन जाता है। संसार में यदि किसी को नरक का दर्शन करना हो तो वह एक झगड़ालू संयुक्त परिवार को देख ले। परिवार के सदस्यों का बहुत-सा उपयोगी समय एवं शक्ति कलह के जीवन में नष्ट हो जाती है। इसका एक प्रमुख दुष्परिणाम मुकदमेबाजी है।

3. आर्थिक निर्भरता—संयुक्त परिवार के कारण परिवार के अधिकांश सदस्य आर्थिक दृष्टि से परिवार पर निर्भर रहते हैं। इसका स्वाभाविक फल यह होता है कि लोग कामचोरी का स्वभाव बना लेते हैं।

4. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि—संयुक्त परिवार की व्यवस्था के कारण अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलता है तथा अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि होती है। बहुत-से लोग केवल इसलिए कार्य नहीं करते, क्योंकि उन्हें संयुक्त परिवार में सब सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसका वास्तविक फल यह होता है। कि परिवार के कमाने वाले सदस्य असंतोष प्रकट करते हैं।

5. कमाने वाले में असंतोष—संयुक्त परिवार के कमाने वाले सदस्यों में अधिकांशत: असंतोष बना रहता है, क्योंकि उनकी गाढ़ी कमाई दूसरों पर व्यय होती है तथा ये निठल्ले आनंद करते हैं। कई बार तो कमाने वाले सदस्य परिश्रम भी कम करने लगते है, क्योंकि उस कमाई का फल उनको नहीं मिलता।

6. भय का पर्यावरण—संयुक्त परिवार में भय का पर्यावरण बना रहता है। इसके फलस्वरूप सदस्यों का व्यवहार औपचारिक हो जाता है तथा उनका विकास नहीं हो पाता।

7. गोपनीय स्थान का अभाव—संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण गोपनीय स्थान का अभाव रहता है। इसके फलस्वरूप पति-पत्नी एक-दूसरे से भी मिल नहीं पाते हैं। लिंग सम्बन्ध अर्ध-सार्वजनिक बन जाते हैं। बच्चों पर भी अनैतिक प्रभाव पड़ता है तथा उनकी आदतें बचपन से ही ख़राब हो जाती हैं।

8. स्त्रियों की दुर्दशा—संयुक्त परिवार में स्त्रियों की दशा अत्यंत दयनीय रहती है। स्त्री को अपने पति का सुख नहीं प्राप्त होता है। डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने उचित लिखा है—"पति-पत्नी इतनी कृत्रिम एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों में मिलते हैं कि उनमें प्रेम का विकास तो दूर की बात है, मामूली परिचय भी कम होता है।" स्त्रियों का जीवन केवल भोजन बनाने में ही बीतता है तथा उनके व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल भी नहीं हो पाता। सास, ननद तथा बहु का झगड़ा सदैव होता रहता है। बहु को ये लोग इतना तंग करते हैं कि उसका जीवन दुर्लभ हो जाता है। अनेक आत्महत्याओं की चर्चा नित्य होती रहती हैं। स्त्री का जीवन संयुक्त परिवार में अवतरित सेवा का एक दीर्घकाल होता है तथा उसे दासी के समान कार्य करना पड़ता है। इतना कार्य करते हुए भी उसका छोटी-छोटी बातों पर जानबूझ कर अपमान किया जाता है। उस घर की कल्पना हम कर सकते हैं जिसमें स्त्रियाँ दु:ख एवं दरिद्रता से पीड़ित सदैव भाग्य को कोसती रहती हैं।

9. बाल-विवाहों को प्रोत्साहन—संयुक्त परिवार बाल-विवाहों को प्रोत्साहित करता है। बाल-विवाह प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है, परन्तु संयुक्त परिवार होने के कारण बच्चों का विवाह बहुत छोटी आयु में कर दिया जाता है। विवाह करने वाले व्यक्ति को विवाह योग्य तथा पत्नी के पालन करने की क्षमता के विकसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक वह विवाह के अर्थ को समझ पाता है तब तक अपने को अत्यधिक भार से दबा हुआ अनेक बच्चों का बाप पाता है।

10. अधिक संतान उत्पादन—संयुक्त परिवार के फलस्वरूप संतानें भी अधिक होती हैं। प्रथम तो बाल-विवाह होने के कारण अधिक संतानें होती हैं, तथा द्वितीय कोई जिम्मेदारी न होने के कारण लोग अंधाधुंध संतानें उत्पन्न करते हैं।

11. व्यक्तित्व के विकास में बाधक—संयुक्त परिवार व्यक्तित्व के विकास में भी अनेक बाधाएँ उपस्थित करता है। बाल्यावस्था से परतंत्र तथा परोपजीवी रहने से परिवार के सदस्यों में अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता नहीं विकसित होती। स्वावलंबन का पाठ वह नहीं पढ़ पाता। वह अपनी आत्मा का विकास और वैयक्तिक योग्यताओं की वृद्धि भी नहीं कर सकता। एक निरंकुश सत्ता के नीचे रहते हुए उसका विकास कैसे संभव हो सकता है? परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण व्यक्तिगत ध्यान किसी की भी ओर नहीं दिया जा सकता। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व के विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। कठोर अनुशासन के कारण व्यक्ति की क्षमताएँ मर जाती हैं। व्यैक्तिक स्वाधीनता का संयुक्त परिवार में कोई स्थान नहीं है।

12. अप्राकृतिक—संयुक्त परिवार अप्राकृतिक प्रतीत होते हैं, क्योंकि जो प्रेम बच्चे के प्रति माता और पिता का है वह दूसरों का नहीं हो सकता। परन्तु संयुक्त परिवार में सदस्यों को इस बात के लिए परिस्थितियाँ विवश करती हैं। वे अपने बच्चों की देख-रेख नहीं कर पाते। पति और पत्नी केवल मैथुन करने भर के साथी रह जाते हैं।

संयुक्त परिवार के उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं जो इसे विघटित कर रहे हैं। अब हम उन कारकों पर प्रकाश डालेंगे।

शहरों में संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारक

1. वर्तमान आर्थिक व्यवस्था—संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारकों में वर्तमान आर्थिक व्यवस्था महत्वपूर्ण है। औद्योगिक क्रांति से आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया में मौलिक परिवर्तन हो गए हैं। एक कृषि-प्रधान देश के स्थान पर नवीन औद्योगिक देश का निर्माण हो रहा है हजारों किसान प्रात:काल, बैल तथा हल के साथ अपने संयुक्त परिवार से गाँवों से बहुत दूर खेतों की ओर न जाकर मिल की सीटी की ध्वनि पर बड़े-बड़े शहरों में अपने गाँवों से बहुत दूर मशीनों पर कार्य करने जाते हैं। ग्राम उजड़ रहे हैं तथा नवीन विशाल शहर बस रहे हैं। लोग अधिकाधिक अपने संयुक्त परिवारों को छोड़ कर अपने जीविकोपार्जन के स्थान पर जा रहे हैं। परिवार उत्पादक की इकाई नहीं रह गयी है। व्यक्ति अपनी जीविका परिवार से दूर रहकर भी कमा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान नवीन आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्ति को आर्थिक स्वालम्बन प्रदान किया है। इसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं।

2. पाश्चात्य सभ्यता का संघात—संयुक्त परिवार को विघटित करने का दूसरा कारक पाश्चात्य सभ्यता का संघात है। नवीन विचारधारा देश में प्रचलित होती जा रही है। पूर्व और पश्चिम में एक मौलिक मतभेद है। पश्चिम में मनुष्य के अधिकारों पर अधिक बल दिया जाता है, पूर्व में कर्तव्यों पर पश्चिमी का सारा प्रयत्न इसी दिशा में है कि व्यक्तियों के स्वत्वों को सुरक्षित बनाया जाय। पूर्वी सभ्यताएँ इस बात पर जोर देते हुए नहीं थकती कि प्रत्येक मनुष्य को अपने दायित्व को पूर्ण करना चाहिए। नवीन विचारधारा का प्रभाव हो रहा है। आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद, दार्शनिक क्षेत्र में सहिष्णुतावाद तथा सामाजिक एवं राजनितिक व्यवस्थाओं में समानता का सिद्धांत प्रचलित हो रहा है। व्यक्ति का महत्त्व बढ़ रहा है। इन प्रवृत्तियों से स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, पारिवारिक स्वतंत्रता तथा राजनैतिक स्वतंत्रता के आदर्श विकसित हो गये हैं। समष्टिवाद का बोलबाला है। इन परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार की आधारभूत शिलाएँ नष्ट होती जा रही हैं।

3. पाश्चात्य शिक्षा—पाश्चात्य शिक्षा भी संयुक्त परिवार को विघटित कर रही है। इस शिक्षा के द्वारा नवीन विचार युवकों को प्राप्त होते हैं तथा इसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है।

4. स्त्री शिक्षा—स्त्री-शिक्षा भी संयुक्त परिवार को विघटित कर रही है। अधिकांश शिक्षित स्त्रियाँ संयुक्त परिवार में नहीं रहना चाहती। आज की शिक्षित स्त्रियाँ परिवार के अस्वाभाविक जीवन को भय से देखती हैं। स्त्री-शिक्षा भी बढ़ती जा रही है।

5. अंग्रेजों द्वारा हिन्दू कानून का प्रयोग—अंग्रेजी न्यायालयों द्वारा हिन्दू कानून को विज्ञानेश्वर तथा जीमूतवाहन के आधार पर मान लिया गया। इन दोनों शास्त्रकारों ने संयुक्त परिवार प्रथा को स्वीकार किया है। अंग्रेजी न्यायालय हिन्दुओं के पारिवारिक संगठन तथा संस्कृत भाषा से परिचित नहीं थे। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दू कानून का उद्विकास वहीं पर रुक गया। इन दोनों कानूनी विशेषज्ञों की व्याख्या स्वीकार करने के कारण दो विचारधाराओं का जन्म हुआ, द्यानाग तथा मिताक्षरा। नन्दा पंडित, नीलकंठ तथा वालभट्ट के लेखों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। परिणामस्वरूप हिन्दू कानून का विकास एवं गतिशीलता समाप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी कानून के न्याय के सिद्धांत को हिन्दू समाज पर लागू किया। इसके कारण संयुक्त परिवार विघटित होता गया।

6. नवीन अधिनियमों का प्रभाव—ब्रिटिश शासन ने नये-नये अधिनियम पारित किये जो संयुक्त परिवार की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। ब्रिटिश न्यायालय भी इस प्रकार के निर्णय देते थे। जिसके कारण संयुक्त परिवार को क्षति पहुँचती थी। डॉक्टर राधाकमल मुखर्जी ने उचित ही लिखा है—''इस प्रकार संयुक्त परिवार एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता खा रहा है। संयुक्त परिवार वर्तमान समय में न्यायालयों द्वारा प्रोत्साहित की जाने वाली व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का शिकार बन रहा है।'' संयुक्त परिवार में स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार देकर और भी अधिक संयुक्त परिवार का विघटन किया जा रहा है। आधुनिक अन्य विधान भी संयुक्त परिवार को

विघटित कर रहे हैं। डॉक्टर कपाडिया ने उचित ही लिखा है ''वे (अधिनियम) न्यायालयों द्वारा मौलिकता प्राप्त किये हुए विघटन के कार्य को आगे बढ़ाते हैं।

7. नवीन सामाजिक सुरक्षाएँ—वर्तमान समय में अनेक सामाजिक सुरक्षाओं की व्यवस्था की जा रही है। प्राय: हर विभाग में ही अनिवार्य बीमा, प्रोविडेंट फंड, बोनस योजना इत्यादि का प्रबन्ध हो रहा है। पेंशन भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के लिए जो भी कल्याण योजनाएँ लागू की जा रही हैं। वे सभी इनके अंतर्गत आ जाती है। ये समस्त सामाजिक सुरक्षाएँ परिवार की जड़ों को खोखला कर रही है।

डॉ० कपाडिया तथा डॉ० देसाई दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संयुक्त परिवार अभी भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं तथा एकाकी परिवार की प्रवृत्ति अधिक नहीं है। डॉ० कपाडिया ने लिखा है, ''इस प्रकार आज भी हिन्दू भावनाएँ संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं।'' इन विद्वान समाजशास्त्रियों के निष्कर्ष की प्रवृत्ति से मेरा विनम्र मतभेद है।'' जहाँ तक डॉ० देसाई द्वारा संयुक्त परिवार की परिभाषा का आधार परंपरात्मक लक्षणों के स्थान पर नवीन लक्षणों का है, वह एक सराहनीय तथ्य है। उन्होने इस पक्ष पर बल देकर संयुक्त परिवार के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में केवल परिवारों के पृथक रहने या भोजन करने इत्यादि से ही उन्हें एकांकी परिवार नहीं समझ लेना चाहिए। इस पर भी यह निश्चित है कि संयुक्त परिवारों की संख्या में दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है तथा एकांकी परिवारों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। यह कहना उचित नहीं होगा कि एकाकी परिवारों की संख्या में वृद्धि है। अन्यत्र इन दोनों ही लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया है। भारत के जनगणना आयुक्त के अनुसार एकाकी परिवार ग्रामों में 33 प्रतिशत तथा शहरों में 38 प्रतिशत पाये जाते हैं। डॉ० देसाई द्वारा निर्मित कठोर कसौटियों पर चढ़ने के उपरान्त उनके अध्ययन में 28 प्रतिशत परिवार एकाकी पाये गये। भविष्य की गति इंगित करने के लिए परम्परा से इतना अंतर पर्याप्त है। इसके लिए तथ्यों के होते हुए तर्क की आवश्यकता नहीं है। डॉ कपाडिया ने भी लिखा है, ''इन दोनों अन्वेषणों के परिणाम यह स्पष्ट करते हैं कि पिछले 20 वर्षों में स्नातकों का संयुक्त परिवार में रहना लगभग 5 प्रतिशत कम हो गया है। परन्तु संयुक्त परिवार में रहने की इच्छा अत्यधिक बढ़ गयी है। जो संयुक्त परिवार में रहना चाहते हैं उनकी संख्या दुगुनी हो गयी है तथा इसके विरोधियों की आधी रह गयी है।

''परिवार की तुलना समाजशास्त्रिय अध्ययन'' का अर्थ है कि परिवार का विभिन्न संस्कृतियों, समुदायों, क्षेत्रों आदि में पाये जाने वाले प्रतिमानों की तुलना की जाये। यह बहुत ही अधिक व्यापक विषय एवं कार्य है।

यहाँ हम ग्रामीण परिवार और शहरीय परिवार की तुलना करेंगे। ग्रामीण परिवार परम्परात्मक परिवार होते हैं और शहरीय परिवार आधुनिक परिवार होते हैं। अत: परम्परात्मक परिवार और आधुनिक परिवार की तुलना भी इससे स्पष्ट हो जायेगी।

ग्रामीण परिवार और शहरी परिवार की तुलना

संचार सम्बन्धी—

1. स्थायित्व—ग्रामीण परिवार की संरचना अधिक स्थायी एवं संगठित होती है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से शहरीय परिवार की संरचना उतनी स्थायी एवं संगठित नहीं होती हैं। अस्थायित्व शहरीयवाद का अभिशाप है।

2. आकार—ग्रामीण परिवारों का आकार शहरीय परिवारों की तुलना में बड़ा होता है। ग्रामों में कृषि के व्यवसाय के कारण बड़े परिवार की आवश्यकता भी रहती है। शहरीय परिवार का आकार लघु होता है और प्राय: यह मूल परिवार ही होती है, जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे होते हैं। जन्मदर भी ग्रामीण परिवारों की अधिक होती है, शहरीय परिवार के व्यक्ति अधिक बच्चे पसंद भी नहीं करते हैं।

3. स्वरूप—ग्रामीण परिवार अभी अधिकांशत: विस्तृत परिवार अथवा संयुक्त परिवार होते हैं। शहरीय परिवार अधिकांशत: एकाकी परिवार होते हैं।

4. सामंजस्य—ग्रामीण परिवारों में अत्यधिक सामंजस्य पाया जाता है तथा पारिवारिक बन्धन अत्यंत शक्तिशाली होते हैं। शहरीय परिवार में अपेक्षाकृत अति न्यून सामंजस्य पाया जाता है। सदस्य अपनी खिचड़ी पकाते हैं।

5. मुखिया की सत्ता—ग्रामीण परिवार के मुखिया की सत्ता अपरिमित होती है। वह ग्रामीण परिवारों का एकमात्र शासक होता है। शहरीय परिवारों में मुखिया की सत्ता अधिक नहीं होती, कई बार तो बिल्कुल ही नहीं होती है।

6. सामान्य जीवन—ग्रामीण परिवार में सामान्य जीवन की प्रमुखता पायी जाती है। माता-पिता बच्चे तथा अन्य संबंधी अधिकतर साथ-साथ कार्य करते हैं। उनमें अत्यधिक सहयोग की भावना पायी जाती है। शहरीय परिवारों में मान्य पारिवारिक जीवन का अभाव पाया जाता है। परिवार के सदस्य अधिकांश समय घर के बाहर बिताते हैं तथा बहुत कम समय के लिए साथ-साथ रहते हैं। डॉक्टर देसाई ने उचित ही लिखा है—''अत: शहरीय परिवार के सदस्यों के लिए घर केवल एक अस्थायी रात्रि का डेरा मात्र रह जाता है।''

7. पारिवारिक महत्त्व—ग्रामीण परिवार एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्था है तथा उसे ग्रामीण समाज का मूल आधार कहा जा सकता है। शहरीय परिवार इतना महत्वपूर्ण नहीं है। उसके सदस्य परिवार को त्याग कर भी सरलता से आनन्दमय जीवन-यापन कर सकते हैं।

8. अन्योन्याश्रितता—ग्रामीण परिवारों में सदस्य एक-दूसरे पर अत्यधिक मात्रा में अन्योन्याश्रित होते हैं। वे एक-दूसरे के सहयोग के बिना जीवन नहीं चला सकते। शहरीय परिवार में इतनी अधिक अन्योन्याश्रितता नहीं पायी जाती है। शहरीय परिवार के सदस्य अधिक स्वतंत्र होते हैं।

9. अनुशासन—ग्रामीण परिवार के सदस्य अधिक अनुशासित होते हैं। वे परिवार के मुखिया एवं अन्य प्रमुख सदस्यों का अत्यधिक आदर करते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। शहरीय परिवार के सदस्य अपेक्षाकृत कम अनुशासित होते हैं। वे परिवार के मुखिया को अधिक महत्त्व नहीं देते तथा अपने स्वतंत्र विचार रखते हैं एवं स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।

10. सामाजिक नियंत्रण—ग्रामीण परिवार अपने सदस्यों पर अत्याधिक सामाजिक नियंत्रण रखते हैं। छोटा समुदाय होने के कारण कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती। इसके कारण परिवार का नियंत्रण अधिक रहता है। शहरीय परिवार सामाजिक नियंत्रण की दृष्टि से पूर्णरूपेण असफल रहा है।

11. सामाजिक संरचना में परिवार का महत्त्व—ग्रामीण परिवार का सामाजिक संरचना में अत्यधिक महत्त्व है। ग्रामीण सामाजिक संरचना में परिवार ने सदैव ही महत्वपूर्ण स्थान रखा है। ग्रामीण सामाजिक संरचना ग्रामीण परिवार का सत्य प्रतिरूप है। सिम्स ने लिखा है, ''निश्चय ही यह (ग्रामीण परिवार) उसकी (ग्रामीण सामाजिक संरचना) सदैव से ही प्रमुख संस्था रही है, जो व्यक्ति को स्थिति प्रदान करती रही है तथा सामाजिक संरचना पर छाया रहता है और उसकी छाप हर संस्था पर स्पष्ट लक्षित होती है। ग्रामीण समाज को ही परिवारात्मक समाज कहा गया है। शहरीय परिवार का महत्त्व सामाजिक संरचना में उतना अधिक नहीं है। शहरीय परिवार शहरीय सामाजिक संरचना की एक साधारण संस्था है। शहरीय परिवार का अधिक प्रभाव शहरीय सामाजिक संरचना पर नहीं पड़ता है।

कार्य—ग्रामीण एवं शहरीय परिवारों के कार्यों में भी बहुत-से अंतर हैं जो प्रमुख रूप से निम्न हैं—

1. प्राणिशास्त्रीय कार्य—प्राणिशास्त्रीय कार्य निम्न हैं—

(अ) संतानोत्पत्ति, (ब) यौन-सम्बन्धों की संतुष्टि, (स) बच्चों का पालन-पोषण, (द) स्थान की व्यवस्था, (य) भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था और (र) सदस्यों की शारीरिक रक्षा। (ल) से लेकर (व) तक के कार्य तो ग्रामीण एवं शहरीय दोनों ही करते हैं कहीं-कहीं अंशों का अंतर है।

सदस्यों की शारीरिक रक्षा का कार्य ग्रामीण परिवार को विशेष रूप से करना पड़ता है और यह उसका विशेष उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य समझा जाता है। ग्रामों में शक्तिशाली परिवार के आधार पर ही शरीर की रक्षा की जा सकती है।

2. आर्थिक कार्य—ग्रामीण परिवार अभी भी आर्थिक क्रियाओं के केंद्र हैं। ग्रामीण परिवार का कार्य उत्पादन करना, वस्तुओं को बिक्री के योग्य बनाना, उनका विक्रय करना आदि सभी हैं। शहरीय परिवार आर्थिक क्रियाओं का केंद्र नहीं रहा है वह तो केवल उपभोग का केंद्र रह गया है।

3. सामाजिक कार्य—

(अ) सामाजिक स्थिति का निर्धारण—ग्रामीण परिवार अपने सदस्यों की समाजिक स्थिति निर्धारण करता है। ग्रामीण समाज में व्यक्ति की समाजिकता स्थिति के निर्धारण में परिवार का आधार सब प्रमुख हैं। चुनावों एवं राजनीतिक व सामाजिक नेतृत्व में भी परिवार का आधार बहुत महत्वपूर्ण रहता है। शहरीय परिवार का महत्त्व सामाजिक स्थिति के निर्धारण में अब उतना नहीं है। व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति अर्जित करता है। शहरों में व्यक्ति के गुणों एवं कार्यों का महत्व है न कि उसके परिवार का।

(आ) सामाजिक नियंत्रण—ग्रामीण परिवार शहरीय परिवार की तुलना में सामाजिक नियंत्रण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

(इ) धार्मिक कार्य—धार्मिक कार्यों का प्रतिपादन ग्रामीण परिवारों में अधिक होता है। शहरीय परिवार धार्मिक कार्यों के प्रति उदासीन हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. शहरीकरण में आवास व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
2. सूक्ष्म पोषक पदार्थों के अभाव पर प्रकाश डालिए।
3. शहरों में संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

● सारांश

आवास की समस्या ने नयी गंदी बस्तियों के स्थापित होने में सहायता की है। असंख्य जर्जर मकानों में असंख्य निर्धन व्यक्ति रहने लगे हैं जिनने गंदी बस्ती का रूप धारण कर लिया है। इस तरह नयी गंदी बस्तियाँ स्थापित होती जा रही हैं और पुरानी गंदी बस्तियों के निर्धन इसलिए नहीं छोड़ते कि इससे सस्ता घर शहर में कहीं उपलब्ध नहीं होता है। एशिया और दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति तो यह है कि गंदी बस्तियों के घर व्यक्ति उन चीजों से बनाता है जिसे लोग कूड़ा-कचरा समझकर फेंक देते हैं। भारत में ऐसी गंदी बस्तियों की उत्पत्ती के लिए कोई निश्चित पर्यावरण निर्धारित करना कठिन है। यह कहीं भी विकसित हो सकती है। फिलिपाइन्स में दलदली क्षेत्रों में छोटे-छोटे पहाड़ी क्षेत्रों में और युद्ध में जो नष्ट हो गए थे वहाँ गंदी बस्तियाँ स्थापित हो गयी हैं। लैटिन अमेरिका में छोटे-छोटे पहाड़ों की ढलानों पर गंदी बस्तियाँ हैं। कराँची में कब्रिस्तान और सड़क के किनारे इन्हें देखा जा सकता है। भारत में भी इसे इस रूप में देखा जा सकता है। अहमदाबाद, कानपुर, नागपुर, कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई में एक कमरे की अँधेरी कोठरियों की गंदी बस्तियों की संख्या अधिक है।

अध्ययन के उद्देश्य—प्रस्तुत अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

1. गंदी बस्तियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का विस्तृत विवरण प्राप्त करना।
2. बस्तीवासियों की प्रवजन प्रवृत्ति का मूल्यांकन करना।
3. उनकी स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति का अवलोकन एवं बस्तीवासियों की उनसे अपेक्षाएँ।
4. बस्तीवासियों की आर्थिक गतिविधियों का आकलन।

● अभ्यास प्रश्न

1. शहरीकरण समाज की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. शहरों की सामाजिक-पारिवारिक संरचना को उल्लेखित कीजिए।
3. शहरीकरण के विकास पर टिप्पणी कीजिए।

●

इकाई-III

राजनीति व शहरी अंतरिक्ष का उत्पादन
(POLITICS AND THE PRODUCTION OF URBAN SPACE)

7

श्रम बाजार की राजनीति
(POLITICS OF LABOUR MARKET)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- श्रम बाजार के प्रतिरूप
- श्रम बाजार की गतिशीलता
- विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम बाजार का द्वैतवाद
- भारत में श्रम बाजार की राजनीति
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- श्रम बाजार के प्रतिरूपों को।
- श्रम बाजार की गतिशीलता को।
- भारत में श्रम बाजार की राजनीति को।

● प्रस्तावना

श्रम बाजार एक ऐसी जगह है जहाँ श्रम की माँग व पूर्ति द्वारा श्रम की मात्रा एवं श्रम के मूल्य (वेतन) का निर्धारण किया जाता है। अत: इस बाजार में श्रमिक नियोक्ता द्वारा दिया गया काम करके अपने योगदान देते हैं एवं इसके बदले उन्हें वेतन के रूप में प्रतिफल दिया जाता है।

● श्रम बाजार के प्रतिरूप

श्रमिक बाजार के व्यवहार की मुख्यत: चार सामान्य स्थितियाँ हैं, जोकि माँग आपूर्ति वक्रों पर आश्रित होती प्रतीत होती है। जिन्हें कुछ रेखा चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। रेखाचित्र (अ) में प्रतिस्पर्धा बाजार में मजदूरी निर्धारण का चित्रण है, जहाँ यह माना जाता है कि श्रम के कई क्रेता और विक्रेता हैं। बिन्दु E पर, जहाँ माँग वक्र D और आपूर्ति वक्र प्रतिच्छेदित S रहते हैं, मजदूरी-दर W1 और श्रमिक परिमाण Oq1 के सन्तुलन स्तर ज्ञात किये जाते हैं। रेखाचित्र (ख) मजदूरी निर्धारण को इस स्थिति में प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें कि एकाधिकारवादी है जो कि श्रम-आपूर्ति को नियमित रूप से रखता है। श्रम-बिन्दु को निर्धारित करता है। अब माँग वक्र D के संगत बिन्दु a2 पर मजदूरी-दर निर्धारित करता है जो कि बदले में मजदूरी दर W2 निर्धारित करता है। इन दो स्थितियों की तुलना से यह तथ्य उद्घाटित रहता है कि एकाधिकार के अधीन

मजदूरी दर W1 पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अधीन मजदूरी दर W1 से बहुत होती है। एकाधिकार के अधीन भय आपूर्ति नियंत्रण तथा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अधीन यह oq1 बहुत अधिक होती है।

(अनेक क्रेता अनेक विक्रेता की स्थिति)

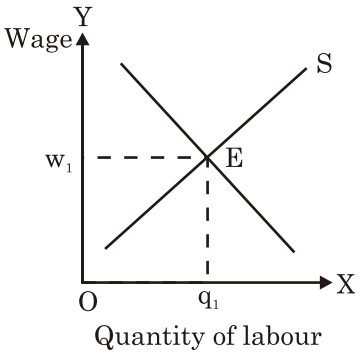

पूर्ण प्रतिस्प्रर्धा बाज़ार में मजदूरी निर्धारण

(अनेक विक्रेता अनेक क्रेता की स्थिति)

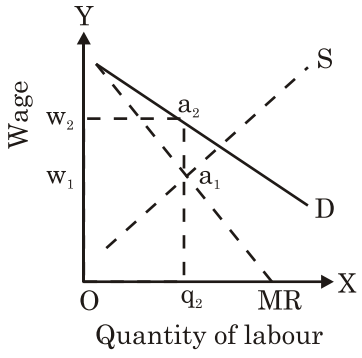

एकाधिकार स्थिति

एक क्रेताधिकार के अधीन मजदूरी-निर्धारण रेखाचित्र 3.3 के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। एक क्रेताधिकारवादी स्थिति में एक क्रेता और कई विक्रेता रहते हैं। श्रम की सीमांत लागत और उत्पाद की सीमांत आय (D=MR) के प्रतिच्छेदी बिन्दु b1 को ज्ञात करता है। MC वक्र पर बिन्दु पर b1 के संगत आपूर्ति वक्र S पर बिन्दु B2 है, जो कि मजदूरी पर W3 और श्रम परिमाण oq3 निर्धारित रहता है। एक क्रेताधिकार की तुलना में आपूर्त श्रम की मजदूरी दर प्रतिस्पर्धा की स्थिति में अधिक रहती है, एकाधिकार की अपेक्षा एक क्रेताधिकार में मजदूरी की दर कम रहती है।

(एक क्रेता अनेक विक्रेता की स्थिति)

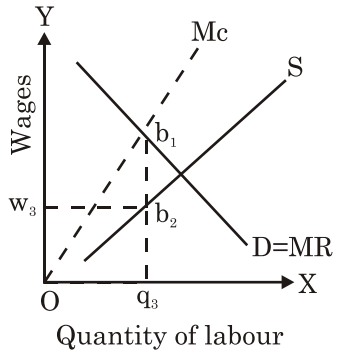

एक क्रेताधिकार की स्थिति

(एक क्रेता एक विक्रेता की स्थिति)

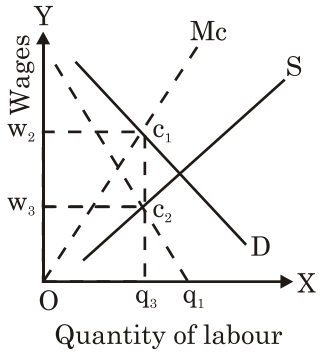

द्वि-पक्षीय एकाधिकार

द्विपक्षीय एकाधिकार के अधीन मजदूरी और श्रम की मांग और आपूर्ति रेखाचित्र 3.4 में स्पष्ट किया जाता है। एकाधिकारवादी बिन्दु C1 पर सीमांत लागत और श्रम की मांग को समान रखते हैं। वे मजदूरी दर W2 और श्रम परिमाण oq3 को मजदूरी-दर W3 पर क्रय करना पसंद होता है क्योंकि उसके लिए भी संगत बिन्दु C1 है, लेकिन, आपूर्ति वक्र में C1 का संगामी बिन्दु C2 होता है। अत: क्रेता परिमाण oq3 के लिए मात्र W3 मजदूरी दर अदा करने के लिए ही होते हैं। स्पष्टत: जिस श्रम-परिमाण को मजदूरी W2 पर विक्रय करने के लिए एकाधिकारवादी तैयार है, उसी परिमाण को वह मजदूरी दर W3 पर क्रय करने के लिए तत्पर होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप, बेचे जाने वाले और खरीदे जाने वाले मजदूरी के परिणाम में समझौता होने के बावजूद दोनों प्रस्तावों के मध्य अन्तराल है, इसको सामान्यत अनिर्धारण स्थिति का मण्डल कहते हैं। ऐसी स्थिति में मजदूरी-दर का निर्धारण दो पक्षों की सापेक्ष रियायती सौदेबाजी की शक्ति द्वारा रहता है।

● श्रम बाजार की गतिशीलता

श्रमिक/श्रम-बाजार की गतिशीलता का अध्ययन विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये विचारों के अध्ययन से होता है। क्लार्क कर द्वारा अभिव्यक्त विचार के अनुसार श्रम बाजार संरचना और गतिशीलता[2] में लगभग असीमित रूप से परिवर्तित रहते हैं। प्रोफेसर कर[3] सामान्य श्रम बाजार के पाँच प्रतिरूप स्पष्ट होते हैं।

1. पूर्ण बाजार—यह पूर्ण प्रतिस्पर्धा श्रम बाजार का प्रतिरूप है। इस बाजार के अभिलाक्षणिक गुण इस प्रकार हैं—स्वतन्त्र प्रवेश और निकास, पूर्ण ज्ञान, कई और विक्रेता, दुरभि संधि की अनुपस्थिति। मजदूरी बाजार जॉब बाजार है और संसाधन में उपभोक्ता का सर्वोच्च स्थान होता है। माँग और आपूर्ति बाजार की निकासी के लिए करते हैं तथा मजदूरी चालू रहती है।

श्रम-बाजार का यह प्रतिरूप वास्तविक विश्व की कुछ अपूर्णताओं को लेता है। कर्मचारी परस्पर भिन्न रहते हैं संघों का अस्तित्व होता है लेकिन वे मजबूत रहते हैं अकुशल कारीगर अपनी विकारीय सेवाओं के कारण असुविधाजनक स्थिति में रहते हैं। फिर भी श्रम बाजार मजदूरी निर्धारण का प्रमुख निर्धारक होता है और कामगारों को गतिशील माना जाता है। अतिरिक्त समय भत्ता स्पर्धात्मक स्तर की ओर प्रवृत्त होता है, संसाधन विनिधान अधिकतम पर पहुँचता है और उपभोक्ता अपना प्रभुत्व बनाये रखता है।

2. प्राकृतिक बाजार

द्वितीय विश्व युद्ध के पहले और उसके बाद अर्थशास्त्रियों से पाया गया कि परीक्षण के लिए पर्याप्त सबूत है तथा यह कहना अधिक सही है कि किसी टकराव की अनुपस्थिति में मजदूरी दर के बड़े बिखराव के कारण मजदूरी दरें एक दूसरे के अधीन होने के बजाय असमानता की ओर प्रवृत्त होती है। कामगार के जॉब के लिए बाजार कुपरिभाषित है। क्योंकि, वैकल्पिक जॉबों के विषय में उसका ज्ञान बहुत क्षण है। कामगार का विचार बाजार के विषय में ज्ञान की कमी और सीमित आमधारणा के कारण सीमित रहते हैं। अब प्रभुता से मुक्त रूप से उपभोक्ता और नियोक्ता की रहती है, मजदूरियाँ प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर समान रूप से तय नहीं रहती और सर्वोत्तम रूप में संसाधनों का उपयोग नहीं होता जॉब के बाजार की संक्रिया मजदूरी तय नहीं होती। किन्तु, मजदूरियों को निश्चित करने की सीमायें तय करता है तथा इन सीमाओं के अन्तर्गत विशिष्ट मजदूरी स्तरों को प्रभावित करता है।

3. संस्थागत बाजार

श्रम-बाजार के इस प्रतिरूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मजदूरी आन्दोलनों के स्त्रोत के रूप में संघों, नियोक्ताओं और सरकार की नीतियों को बाजार शक्ति परम्परागत क्रिया के लिए प्रतिस्थापित किया गया है। मजदूरी बाजार और जॉब बाजार असंयुक्त अवस्था में अलग-अलग चलते हैं। श्रमिक सीमित जॉब बाजार में रोजगार प्राप्त और बेरोजगार रहते हैं। किन्तु मजदूरी बाजार तुलनाओं का चक्र होता है। मजदूरी-बाजारों की अन्तर्सम्बन्धता के प्रमुख आधार के रूप में भौतिक गति को संस्थागत और नेतृत्व की तुलनाओं से प्रतिस्थापित किया जाता है। अब एक मजदूरी बाजार की शक्तियों के बजाय नीतियों के परिणाम के रूप में अस्तित्व में है। संघों और नियोक्ता समूहों की नीतियों के साथ-साथ उपभोक्ता-विकल्प संसाधन-आबंटन को परिवर्तित करते हैं।

4. प्रबन्धित बाजार

श्रम-बाजार के इस प्रतिरूप को अभी-अभी उन अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है जिनका विश्वास है कि वास्तविक विश्व-श्रम बाजार बहुत अपूर्ण है। आधारिक रूप में प्रस्तुत प्रबन्धित बाजार के दो प्रकार होते हैं। एक अनिवार्य व्यक्तिवाद है—व्यावसायिक संघों को दृढ़ता से सीमित करने अथवा व्यावसायिक संघों के उन्मूलन और प्रबल ट्रस्ट विरोधी अभियोजनों द्वारा उत्पाद बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए श्रम बाजार को प्रतिस्पर्धा में लौटना होता है। प्रबन्धित बाजार का दूसरा प्रकार सामूहिक निर्धारण है। सामूहिक सौदेबाजी को सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा मजदूरी निर्धारण से प्रतिस्थापित कर मजदूरी-व्यवस्थापन होना चाहिए। दोनों

स्थितियों में निजी नियन्त्रण को आंशिक या पूर्ण रूप में राज्य-नियन्त्रण प्रतिस्थापित किया जाता है। संस्थागत बाजार सर्वाधिक सामान्य होते हैं। पाश्चात्य देशों में इसने पर्याप्त महत्व अर्जित किया है। इस बाजार के विश्लेषण को नव व्यावहारिक रूप से प्रतिरूपों के विकल्प के रूप में देखा जाता है, रेनॉल्ड्स के अनुसार श्रम बाजार के नव व्यवहारिक रूप प्रतिरूपों का मूल्यांकन उनकी भविष्यवाणियों और इन भविष्यवाणियों की घटनाओं से संगति के आधार पर होता है। उनका यह भी कहना है कि सरलीकृत प्रतिरूप की सही आलोचना यह नहीं होती है कि वह गलत है बल्कि यह है कि वह सीमित और अपूर्ण है। ''जिस सरल ढाँचे के अन्तर्गत यह संक्रिया होती है, उसके कारण ऐसे कई पक्ष हैं जिनको यह प्रकाशित नहीं कर सकता है। इस प्रकार रेनॉल्ड श्रम बाजार का अधिक जटिल प्रतिरूप प्रस्तावित करता है। इस प्रतिरूप के गुण इस प्रकार हैं—

1. श्रम-माँग बारम्बार विवर्तित होती है।
2. श्रम-आपूर्ति विसमाँगी है।
3. श्रम-बाजार की सूचनायें अपर्याप्त हैं।
4. श्रम-गतिशीलता सीमित है।

उनके प्रतिरूप में कामगारों और जॉबों के प्रवाह और स्टॉक का समावेश किया गया है। इस प्रतिरूप को चित्र में प्रस्तुत किया गया है।

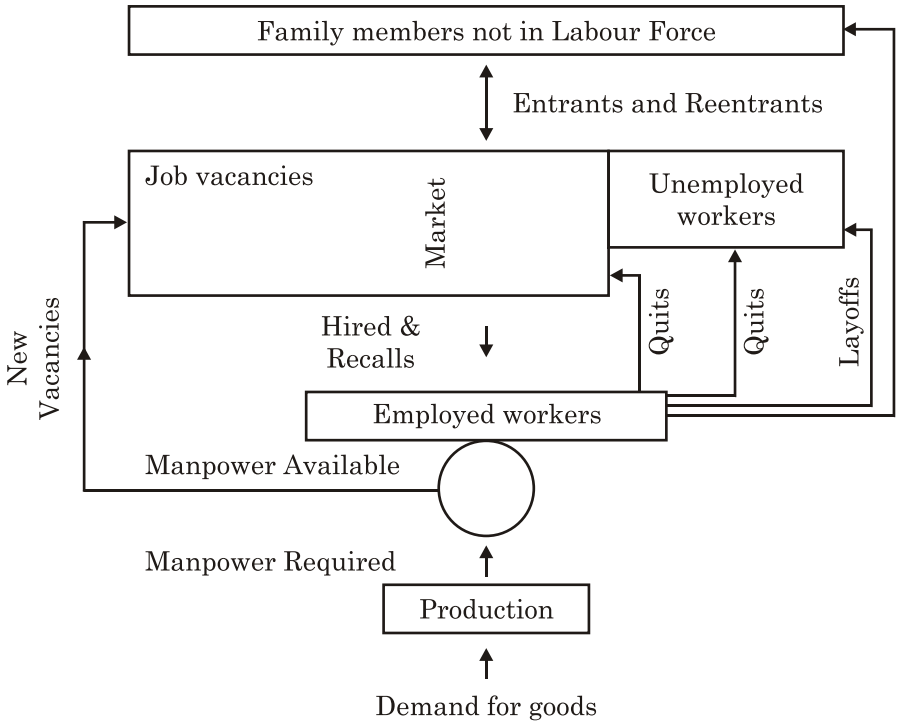

अर्थव्यवस्था में माल और सेवाओं की माँग श्रम की माँग को प्रदर्शित करती है। श्रम का स्त्रोत कुटुम्ब (परिवार के सदस्य) होता है। कामगारों का माँग और आपूर्ति की ओर से संचलन, त्यजन, कामबन्दी, अवकाश ग्रहण नव नियुक्तों के परिणाम स्वरूप जॉब-सर्जन और बेरोजगारी में पारस्परिक सम्बन्ध को अनुक्रम चार्ट में स्पष्ट किया गया है। इस प्रतिरूप के प्रमुख गुण निम्नांकित हैं—

1. सामान्यत : बेरोजगार कामगार और जॉब रिक्तियाँ बड़ी संख्या में सह-अस्तित्व में होती है।

2. चार्ट में प्रवाह स्वतन्त्र न होकर परस्पर मजबूती से अन्तर्सम्बन्धित है। यह व्यवस्था इस अर्थ में निषेधात्मक प्रतिपुष्टि को स्पष्ट करता है कि स्वयमेव ही बेरोजगारी; स्तर को बढ़ाने अथवा कम करने के साथ बेरोजगारी उन दूसरे परिवर्तनों को लाती है जोकि बेरोजगारी को पूर्व स्तर में संचालित करने में तैयार है।

3. बाजार से होकर लोगों के सकल प्रवाह की तुलना में बेरोजगार कामगारों और रिक्तियों के स्टॉक में निवल परिवर्तन बहुत कम हैं।

ऐसे कई कारक हैं जो कि नियोक्ता के अन्वेषी व्यवहार को प्रभावित करते हैं तथा आन्तरिक श्रम बाजार का प्रत्यय या संगठन में विकसित चयन प्रक्रम। डनलॉप[6] के अनुसार आन्तरिक और बाह्य श्रम बाजारों के मध्य प्रत्यक्ष जुड़ाव की घटना केवल पत्तनों पर ही रहती हैं उनका यह भी कहना है कि ऐसे पत्तन बहुत सीमित हैं और कालान्तर में संगठन में परिवर्तन या सामूहिक सौदेबाजी में व्यावहारिक परिवर्तन से परिवर्तित रहती है। ऐसे नियम ओर प्रक्रम है जो कि संगठन में 'अन्त: जॉब गति को शासित करता है या उनके द्वारा आन्तरिक श्रम बाजार परिभाषित होता है, लेकिन साथ ही, चयन प्रक्रम को विभेदक के रूप में ऐसे युक्तसंगत बनाया जाता है जो कि सापक्षेत: अधिक उत्कृष्ट निष्पादन की योग्यता या आगे प्रशिक्षण की अभियोग्यता रखने वाले कर्मचारी के अनुकूल हो। नियोक्ता का व्यवहार कामगार के खोज से भी प्रभावित होती है। प्राकल्पित है कि ''सामान्यत: कामगार के पास किसी एक समय में एक जॉब का प्रस्ताव रहता है, जिसको वह स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए बाध्य है।'' इसलिए उसको निर्णय के लिए कसौटी की आवश्यकता रहती है कि उसको प्रस्ताव स्वीकार करना है या अस्वीकार। इस कसौटी का निर्धारण निरन्तर बेरोजगारी के मूल्य को निरन्तर खोज के सम्भावित लाभ से तौलने पर किया जाता है।

● विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम बाजार का द्वैतवाद

कम विकसित अर्थव्यवस्थाओं में द्वैतवाद की उपस्थिति के कई कारण हैं। श्रमिक बाजार में द्वैतवाद के कारणों को सेन ने अच्छे ढंग से स्पष्ट करता है और वे इस प्रकार हैं—

1. श्रमिक की कार्य अधिमान्यतायें—श्रमिक वास्तव में दूसरे सेक्टरों की अपेक्षा किसी एक सेक्टर को तरजीह देता है, या भूमिधर के कृषि कार्य को शहरी क्षेत्र में रोजगार की अपेक्षा अधिमान्यता देना।

2. श्रम आपूर्ति में अविभाज्यतायें—एक श्रमिक आधे समय अपने खेत में और आधे समय किसी उद्योग में कार्य करने को तरजीह देता रहता है किन्तु उद्योग की स्थिति की भौतिक समस्याओं और उसकी संगठनात्मक समस्याओं के कारण वह ऐसा नहीं करता।

3. परिवार की आय की भागीदारी का ह्रास अपने फार्म से दूर होने की स्थिति में किसी व्यक्ति के परिवार की आय में उसकी भागीदारी का ह्रास अन्तर्भवित हो सकता है।

4. श्रम विधि निर्माण और संघ का दबाव: यह संगठित और असंगठित सेक्टरों में मजदूरी के अन्तर की संस्थागत सीधे ही प्रस्तुत करता है।

5. मजदूरी की अदायगी के लिए नियोक्ता का प्रोत्साहन: अनिश्चित परिस्थितियों के दबाव में, नियोक्ता श्रमिक के न्यूनतम दर पर भरती करने की अपेक्षा अधिक मजदूरी देने पर अधिक सुविधा की स्थिति में होता है।

कम विकसित आर्थिक व्यवस्थाओं में द्वैतवाद के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। यहाँ ऐसे तीन आदर्श प्रकारों या ग्रामीण श्रम बाजार, अनौपचारिक बाजार और संगठित औद्योगिक श्रम बाजार की व्याख्या की जाती है।

मजूमदार के अनुसार कम विकसित आर्थिक व्यवस्थाओं के ग्रामीण क्षेत्रों में दो श्रम बाजार औपचारिक तथा अनौपचारिक सेक्टर है। 'इन दोनों सेक्टरों में बुनियादी अन्तर इस विचार पर है कि किसी आशय या किसी आशयों से औपचारिक सेक्टर में नियोजन संरक्षित रहती हैं। जिससे कि सामान्यत: बाजार में जॉब ढूँढने वालों को इस सेक्टर में मजदूरी-स्तर तथा नियोजन शर्तें उपलब्ध नहीं रहती। जब तक कि वे प्रवेश की रुकावट को किसी भी प्रकार से पार करने की व्यवस्था न कर दें। इस प्रकार का संरक्षण व्यावसायिक संघों, सरकारों या दोनों के कार्यों से होता है। वे आगे कहते हैं कि नियोजन में असंविदाकारी सम्बन्ध की कमी, जो कि सेक्टर के प्रमुख अंगों का गुण है, मजदूरी के अधिक प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करता है। सेक्टर में प्रवेश की आसानी के लिए यह अनुकूल है। 'आसान प्रवेश का विचार तथा परिवर्तनशील कार्य घंटे इस प्राकल्पना की ओर बढ़ाते हैं

कि अनौपचारिक सेक्टर उन शहरी श्रम बाजार के प्रवासियों के लिए संक्रमण बिन्दु का कार्य करती है जो औपचारिक सेक्टर में घुसना चाहते हैं।[10] उनके द्वारा निम्नलिखित सैद्धान्तिक बिन्दु दिये गये हैं[11]—

1. निम्न रोजगार और कम औसत आमदनी अनौपचारिक सेक्टर के प्रमुख गुण रहते हुए भी खुले बाजार की ऊँची दर नहीं है। अनौपचारिक सेक्टर में दो प्रकार के कार्मिक भागीदार होते हैं। एक समूह वह हैं जो कि अनौपचारिक सेक्टर का उपयोग अपने प्रतीक्षा काल में वित्तीय आवश्यकता के लिए होता है औपचारिक सेक्टर में जाने से पूर्व। दूसरा समूह (आगन्तुक) जो कि अनौपचारिक सेक्टर के नियोजन को अपने आप में पूर्ण मानता है।

2. विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी संरचना के अन्तर की उपस्थिति के लिए कारण दिये हैं। कैन्नापैन कहते हैं कि कम विकसित आर्थिक व्यवस्था के ग्रामीण श्रम बाजार में, संरचना की विचारणीय विविधता है।[12] उन्होंने कम विकसित देशों में मजदूरी संरचना विविधता की उपस्थिति के लिए निम्नलिखित कारण दिये हैं। अपेक्षाओं को अवसरों के साथ समायोजित करना।

3. औपचारिक सेक्टर में लचीले वेतनों अनुकूलनों के आरूप सामान्यत: सही नहीं होते क्योंकि यहाँ कठोरताओं और समायोजनाओं की समस्यायें रहती हैं।

4. आधुनिक सेक्टर में नियोजन के लिए पंक्तियाँ बढ़ती हैं। शिक्षित और विशिष्ट कौशलों और अनुभवों के लिए दीर्घ प्रतिक्षायें अधिक गम्भीर रहती है। साथ ही, दूसरे ग्रामीण जॉब पाने वालों के लिए सूचना में अन्तराल प्रावरोधी कारक लगते हैं। कन्नापन निष्कर्ष निकालते हैं कि, थोड़ी-सी शंका है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के परम्परावादी श्रम बाजार को आधारभूत रचनाओं (कन्सूटक्टस) की व्यापक प्रयुक्ति तथा उपयोगिता है....(यद्यपि) निर्णय लेने की सत्ताओं की पहचान के लिए प्रयत्नों के शोधन और अनुकूलन की आवश्यकता होती है।

प्रतियोगी प्रतिरूप में ग्रामीण और शहरी आय में सन्तुलन लाने वाले समायोजनों की अपेक्षा टोडारो[14] इसके लिए ग्रामीण-शहरी देशान्तर को अधिक महत्व देते हैं, उनके अनुसार नगरीय वेतनों को अधोमुखी दिशा में अविकारी मानते हुए, नगरीय और ग्रामीण 'अपेक्षित आयों को समान रखता है, केवल जबकि नगरीय बेरोजगारी में वृद्धि के परिणाम स्वरूप नगरीय जॉब की प्राथमिकताओं में कमी आ जाये। टोडारो कहते हैं—यह परिसर है कि, निर्णायकों के रूप में प्रवासी उपलब्ध श्रम बाजार के सभी अवसरों के बीच तथा नगरीय और ग्रामीण सेक्टरों में ऐसा चयन करें जो कि श्वसन के अपेक्षित लाभों को अधिकतम बना सके। अपेक्षित लाभ को निम्नलिखित से नाप सकते हैं, (अ) ग्राम्य और नगरीय जॉब-अवसरों के बीच वास्तविक आयों में अन्तर, (ब) नये प्रवासी को नगरीय जॉब प्राप्त होने की प्रायिक्ता।

टोडारो कहते हैं कि प्रवासी स्थाई आय संगणना पर ध्यान रखता है। प्रारम्भिक चरणों में प्रवासी कामगार के लिए जॉब प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है, जिससे कि वह ग्रामीण सेक्टर की अपेक्षा नगरीय सेक्टर में अधिक आय कर सके। लेकिन कुछ समयावधि के बाद प्रवासी ग्रामीण सेक्टर की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अत: टोडारो के अनुसार जब तक प्रवासी के नियोजन क्षितिज की अपेक्षित शहरी आय की निवल धारा व वर्तमान मूल्य ग्रामीण आय से अधिक है, प्रवसन का निर्णन न्यायसंगत है।[16]

टोडारो का निष्कर्ष है, चूँकि सम्भावित आयों को वेतनों और नियोजन की दोनों के ही द्वारा परिभाषित करता है, यह केवल सम्भव ही नहीं है अपितु प्राथमिक भी है कि शहरी बेरोजगारी की आकारिक गति के अस्तित्व में रहने पर भी प्रवसन जारी रहे।

● भारत में श्रम बाजार की राजनीति

भारत में श्रम बाजार पर कई अनुसन्धानात्मक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों के जाँच परिणामों से स्पष्ट होता है कि द्वैतवादों के द्वारा सृजित श्रम बाजारों में अपूर्णतायें हैं। ये अध्ययन ग्राम्य सेक्टर, कृषितर सेक्टर, विशिष्ट समूहों तथा महिलाओं, पिछड़ी जातियों, उच्च योगयता धारी मानव शक्ति एवं व्यावसायिक वेतनों के

निश्चित पहलुओं की समस्याओं से सम्बन्धित होती है, अत: भारत में श्रम बाजार की गत्यात्मकता विभिन्न परिपार्श्वों और नियोजन तथा मजदूरियों पर उनके प्रभावों में देखी जा सकती है।

कृषि क्षेत्र

कृषि के क्षेत्र में मजदूरियों तथा नियोजन का निर्धारण करने वाले कारक श्रम की माँग तथा उसकी आपूर्ति की बाजार शक्तियाँ हैं। पाण्डे[17] ने लिखा है कि बेरोजगारी की घटना कृषि की दृष्टि से कम विकसित कई राज्यों में बहुत निम्न है। इन्हीं राज्यों में निम्न मजदूरियों के कारण गरीबी की घटना बहुत है। वे परस्पर विरोधी केरल और पंजाब के मामलों को लेते हैं। केरल में, कृषक कामगार संघों की अत्यधिक सैन्य कार्यवाहियों से सारभूत मजदूरी बढ़ौतरियाँ हुयी हैं। इनके परिणाम स्वरूप भूमिहीनों में बेरोजगारी और गरीबी की अधिक घटनायें हुयी। इसके विपरीत, मशीनीकरण के कारण पंजाब में भूमिहीन श्रमिक उपलब्ध मानव-दिवसों के लिए लाभदायक रोजगार प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। अपने दूसरे अध्ययन में पाण्डे ने कहा कि जिन जिलों में सिंचित भूमि में जनसंख्या का दबाव अधिक है, उनमें मजदूरी मांग चरों से प्रभावित रहती है और जिन जिलों में भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम है, उनमें मजदूरी को आपूर्ति चर प्रभावित करते हैं। वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कृषि श्रमिकों की निम्न मजदूरियों की समस्या स्वयं कृषि सेक्टर के विकास में निहित है।

बर्दन ने एन० एस० के 1973-74 तथा 1977-78 के आँकड़ों से पश्चिमी बंगाल के लिए सांख्यिकीय विश्लेषण आगतों, प्राथमिक शिक्षा और व्यस्त सूत्रों के साथ धनात्मक रूप से परिवर्तित रहती है। यह पाया गया कि मजदूरियाँ अधिक आयु, बेरोजगारी की दर और सम्पत्ति विहीन परिवारों के अनुपात के साथ ऋणात्मक साहचर्य में है।

कृषितर क्षेत्र

कृषितर क्षेत्र में नियोजन और बेरोजगारी का प्राक्कलन आधारभूत रूप में जनसंख्या गणना, उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण और प्रतिदर्श सर्वेक्षणों से व्युत्पन रहती है। इन अध्ययनों के जाँच निष्कर्ष आने दिये जा रहे हैं। कृष्णमूर्ति[20] नगरीय सेक्टर में बेरोजगारी के आकड़ों के प्राक्कलन में अतिश्योक्ति पायी जाती है। उन्होंने कहा कि सामान्यत : बेरोजगारी की दर अशिक्षित संवर्ग के लिए निम्न है। यह स्नातकों और ऊपर के लिए बहुत अधिकता माध्यमिक संवर्ग के लिए अधिक है।

'मित्रा' ने कृषितर सेक्टर में नियोजन के आरूप का अध्ययन किया। उनके अध्ययन जाँच के अनुसार कृषांतक सेक्टर में समुचित नियोजन में वृद्धि के लिए संघटित आम-परिवार का प्रभाव पड़ता है। विकास की प्रक्रिया के साथ, संगठित सेक्टर की अनुक्रिया द्वैतिक और तृतीयक सेक्टरों में बढ़ी हुयी नियोजन अवसरों में की थी। 'ब्रिमैन[22] के अनुसार अनौपचारिक सेक्टर की अवधारणा विश्लेषात्मक रूप से अपर्याप्त थी। उनका कहना है कि अनौपचारिक सेक्टर के सीमांकन का कोई भी प्रयास उत्पादन व्यवस्था की एकता और समग्रता की उपेक्षा करता है। उन्होंने आगे कहा कि नगरीय व्यवस्था को दो भागों में बाँटने की अपेक्षा श्रम बाजार की खण्डित प्रकृति पर बल दिया जाता है। उन्होंने नगरीय श्रम शक्ति की प्रकृति के बोध के लिए सामाजिक वर्गों को कसौटी माना।

विशिष्ट समूह

श्रम बाजार के चरों की गत्यात्मकता ने निश्चित रूप से विशिष्ट समूहों यथा महिलाओं, कमजोर वर्गों, अर्थव्यवस्था में उच्च योग्यताधारी मानव शक्ति के विपरित विभेद को आगे बढ़ाया है। इन वर्गों के प्रति विभेद की उपस्थिति और अनुपस्थिति ज्ञात करने के लिए अनुसन्धान अध्ययन हुए हैं। चयनित ऐसे कुछ अध्ययनों के जाँच तथ्य आगे दिये जाते हैं।

उच्च शिक्षा के बावजूद महिलाओं के प्रति विभेद हैं 'पटेल शाह' द्वारा अध्ययन निष्कर्ष इस प्रकार दिये गये हैं—(अ) निम्न आय वर्ग में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का अनुपात सार्थक रूप में अधिक है। स्व-नियोजन की अपेक्षा प्राइवेट सेक्टर में निम्न आय कोष्टक में जन संकुलन अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता

है। किन्तु सार्वजनिक सेक्टर में यह निम्न था। (ब) 25 वर्ष से कम आयु-वर्ग में डिग्रीधारक पुरुष और महिलाओं की आयु संरचना में सार्थक अन्तर पाया गया। पच्चीस वर्ष से कम आयु वर्ग में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के प्रमाणाधिक्य की व्याख्या इस कारक से हुयी है। लेकिन आयु संरचना ने सापेक्ष जनसंकुलन और उत्तरवर्ती आयु-समुहों में बढ़ते हुए जन संकुलन की व्याख्या नहीं की।

''तिलक'' के अनुसार कमजोर वर्ग के अन्तर्गत आने वाले महिलायें पिछड़ी जातियाँ, ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोग कई प्रकार के भेदभावों से ग्रसित हैं। यह अध्ययन 1977-78 में आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले में किया जाता था। कार्य शक्ति के 10000 सदस्यों के प्रतिदर्श सर्वेक्षण द्वारा आँकड़े एकत्रित किया जाता है। इस अध्ययन से भेदभाव के दो पहलू प्रकाश में आये। या नियोजन में भेदभाव और मजदूरी में भेदभाव। इस अध्ययन के जाँच तथ्य इस प्रकार हैं—

1. शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर बेरोजगारी की घटना पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक थी।
2. अधिक शिक्षितों में बेरोजगारी की दर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक थी।
3. श्रम बाजार में कमजोर वर्गों के प्रति भेदभाव मजदूरी की दृष्टि से गुणार्थक पाया गया।

'प्रसाद' द्वारा किये गये अध्ययनों से निम्नलिखित परिणाम सामने आये हैं—शिक्षा के उद्भासन की तुलनीय लम्बाई के लिए, व्यावसायिक मानव शक्ति के विभिन्न संवर्गों में बेरोजगारी की अवधि सार्थक रूप से भिन्न है। (ii) प्रत्येक संवर्ग मैं उच्चतर शैक्षिक निष्पादन के लिए बेरोजगारी की अवधि न्यून शैक्षिक नि:ष्पादन की अपेक्षा कम पायी जाती है और (iii) पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को बेरोजगारी की अधिक लम्बी अवधि का सामना करना पड़ा।

स्थानीय श्रम बाजार

स्थानीय श्रम बाजार से सम्बन्धित कई अनुसन्धान अध्ययन हैं। इनसे यह तथ्य प्रकाश में आया है कि इन बाजारों में मजदूरियों का निर्धारण आपूर्ति चरों के द्वारा रहता है। कुछ प्रमुख अध्ययनों के जाँच तथ्य इस प्रकार हैं—

''जोहरी और मिश्रा'' के अनुसार संस्थागत कारकों की अपेक्षा व्यक्तिगत कारण श्रम गतिशीलता के प्रारूप को प्रभावित करते हैं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी परिक्षेय में श्रम बाजार के उद्विकास के समानान्तर औद्योगिक संरचना का परिवर्धन होता है। श्रम बाजार के सबसे प्रमुख गुण नियोजन का स्थायित्व को परिक्षेय के अन्दर ही व्यवसाय के लिए प्राथमिकता है। कामगारों की अपेक्षाओं और गत्यात्मक व्यवहार में यथार्थवाद और व्यवसाय में सर्वोत्तम व्यवसाय की खोज पाये। दूसरे अध्ययन में जौहरी और मिश्रा'' ने अभयुपगम प्रस्तुत किया कि आयु, कौशल अनुभव जैसे कारक श्रम-आपूर्ति का विनियमन करते हैं, इसके कारण मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया पर इनका प्रभाव पड़ता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष इस प्रकार है, ''इस प्रभासी अति अनियमित और अपसंरचित श्रम बाजार में मजदूरी-व्यवहार की सीमा तक व्याख्या आयु, कौशल कामगार की वरीयता जैसे आपूर्ति चरों, की सहायता से की गयी। ये चर दीर्घकालीन सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की शक्तियों और उद्योग के प्रावैधिक आधार को परिवर्तित करता है। ये मजदूरी निर्धारण के स्थायी किन्तु अदृश्य प्रभावों को उद्घाटित करते हैं।

'पपोला और सुब्रमण्यम्' ने अहमदाबाद के एक अध्ययन से स्पष्ट किया कि माँग चरों के द्वारा मजदूरियों का निर्धारण रहता है। इस अध्ययन ने दर्शाया कि विभिन्न उद्योगों के उन्हीं व्यवसायों में वेतनों का अन्तर है। उन्होंने इस घटना के लिए किसी सीमा तक अप्रतियोगी कारकों को पाया। इस अध्ययन में दिये गये आँकड़ों से इस प्राक्कल्पना की पुष्टि होती है कि माँग सम्बन्धी चर मिलकर उद्योगों में मजदूरी के अन्तरों के लिए अधिक व्याख्या उपलब्ध होती है। किन्तु सभी चयनित व्यवसायों के लिए किसी एक चर को समान रूप से सार्थक नहीं पाया गया। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि उच्च वेतन स्तर की इकाई निम्न वेतन स्तर की इकाई की अपेक्षा प्रत्येक व्यवसाय को उच्चतर वेतन दर से भुगतान करता है। इन अध्ययनकर्ताओं के अनुसार इकाइयों के अन्तर्गत व्यावसायिक वेतन दरों के कोटिकरण की प्रवृत्ति यह भी दर्शाती है कि

व्यावसायिक विभेदकों को कुछ निश्चित आधार व्यवसाय, कौशल, शिक्षा, प्रशिक्षण और कार्यभार जैसे अभिलाक्षणिक गुणों में होता है। यह कहा गया है, कि जब व्यावसायिक विभेदक प्रधान रूप से शैक्षिक तथा प्रशिक्षण की आवश्यकताओं से सह सम्बन्धित है और इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों में कौशल, कुछ स्थितियों में श्रम बाजार की स्थिति भी किसी व्यवसाय को उच्च या निम्न वेतन वाला बनाने में प्रभावी प्रतीत होते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. श्रम बाजार के प्रतिरूपों पर चर्चा कीजिए।
2. श्रम बाजार की गतिशीलता पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

नाथ द्वारा पूना के, उद्योगों के लिए किये गये एक अध्ययन में यह लिखा गया है कि वेतन आय के लिए सान्द्रता अनुपात ने एक उद्योग से दूसरे उद्योग में पर्याप्त असमानता को दर्शाया है। इस अध्ययन ने यह भी प्रकट किया कि उसी उद्योग में कौशल विभेदक विभिन्न व्यवसायों के लिए तात्विक रहते हैं। किन्तु अलग-अलग व्यवसायों में विभेदक की सीमा इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। इस विभेदक को प्रभावित करने वाले कारकों में इस अध्ययन के अनुसार, औद्योगिक इकाई का आकार और प्रयुक्त उत्पादन तकनीकें रहती हैं। इस अध्ययन के अनुसार श्रमिक संघ आन्दोलन ठीक तरह से विकसित नहीं था और संघवाद का प्रभाव छोटी इकाइयों के अस्तित्व के कारण केवल नाम मात्र के लिए रहा है। 'सिंह' ने कानपुर के टैक्सिटाइल मिलों के मध्य, मजदूरी दरों की तुलना एवं अन्तरा-विभागीय विभेदकों के विश्लेषण के लिए एक अध्ययन किया। इस अध्ययन के जाँच तथ्य इस प्रकार हैं—(i) उसी मिल के किसी एक विभाग में विभिन्न कामगार-संवर्गों में मजदूरियों में भारी अन्तर है। (ii) किसी विभाग में औसत मजदूरी दरों ने मिल के विभिन्न विभागों में महत्वपूर्ण अन्तर प्रदर्शित करता है। (iii) किसी मिल के विभिन्न विभागों में मजदूरी दरों ने स्पष्ट अन्तर नहीं दर्शाये हैं। (iv) अलग-अलग मिलों और अलग विभागों में मजदूरी अन्तर के स्तरों में सार्थक अन्तर पाये गये। मजदूरी विभेदकों के लिए कामगारों तथा प्रबन्धनों द्वारा दिये गये कारणों में सार्थक अन्तर नहीं पाये गये। उदाहरणार्थ—कामगारों ने इन विभेदकों के लिए कौशल के स्तर, तनाव, थकान।

● अभ्यास प्रश्न

1. विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम बाजार के द्वैतवाद को समझाइए।
2. भारत में श्रम बाजार की राजनीति को उल्लेखित कीजिए।

●

इकाई-III

8

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की राजनीति

(POLITICS OF SOCIAL AND CULTURAL CHANGE)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ व विशेषताएँ
- सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध कुछ अवधारणाएँ
- सामाजिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में विधि
- विधि व सामाजिक परिवर्तन की अन्तर्क्रिया
- सांस्कृतिक परिवर्तन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ व विशेषताओं को।
- सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध कुछ अवधारणाओं को।
- सामाजिक परिवर्तन के उपकरणों के रूप में विधि को।

● प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन समाज के मूलभूत परिवर्तनों पर प्रकाश डालने वाला एक विस्तृत और कठिन विषय है। इस प्रक्रिया में समाज की संरचना तथा कार्यप्रणाली का एक नया उद्‌भव होता है। इसके अन्तर्गत मूलत: प्रस्थिति, वर्ग, स्तर और व्यवहार के अनेकानेक प्रतिमान बनते और बिगड़ते हैं। समाज गतिशील है तथा समय के साथ परिवर्तन जरुरी है।

आधुनिक दुनिया में प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ है और विभिन्न समाजों ने अपने तरीके से इन विकासों को समाहित किया है, उनका जवाब दिया है, जो कि सामाजिक परिवर्तनों में परिलक्षित होता है। इन परिवर्तनों की गति कभी तेज रही है कभी मन्द। कभी–कभी ये परिवर्तन अति आवश्यक रहे हैं तो कभी बिल्कुल महत्वहीन। कुछ परिवर्तन आकस्मिक होते हैं, हमारी कल्पना से परे तथा कुछ ऐसे होते हैं जिसकी भविष्यवाणी संभव थी। कुछ से तालमेल रखना सरल है जब कि कुछ को सहज ही स्वीकारना मुश्किल है। कुछ सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट है तथा दृष्टिगत हैं जब कि कुछ देखे नहीं जा सकते, उनको केवल महसूस किया जा सकता है। हम ज्यादातर परिवर्तनों की प्रक्रिया व परिणामों को जाने समझे बिना अवचेतन रूप से इनमें सम्मिलित रहे हैं। जब कि कई बार इन परिवर्तनों को हमारी इच्छा के विपरीत हम पर लगाया गया है। कई बार हम परिवर्तनों के मूक साक्षी भी बने हैं। व्यवस्था के लिए लगाव के कारण मानव मस्तिष्क इन परिवर्तनों के प्रति शुरू में शंकालु रहता है परन्तु शनै: शनै: उन्हें स्वीकार कर लेता है।

● सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से तीन तथ्यों का विश्लेषण करते हैं—(क) सामाजिक संरचना में बदलाव, (ख) संस्कृति में बदलाव एवं (ग) परिवर्तन के कारक। सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ मुख्य परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

मकीवर और पेज ने अपनी किताब में सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए बताया है कि समाजशास्त्री होने के कारण हमारा प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक संबंधों से है और उसमें आए हुए बदलाव को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।

डेविस के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की संरचना और प्रकार्यों में परिवर्तन है।

एच० एम० जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही संक्षिप्त और अर्थपूर्ण शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया कि मूल अर्थों में सामाजिक बदलाव का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। जॉनसन की तरह गिडेन्स ने बताया है कि सामाजिक परिवर्तन का मतलब बुनियादी संरचना अथवा बुनियादी संस्था में परिवर्तन से है।

ऊपर की परिभाषाओं के संबंध में यह बोला जा सकता है कि परिवर्तन एक विस्तृत प्रक्रिया है। समाज के किसी भी क्षेत्र में विचलन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। विचलन का अर्थ यहाँ खराब अथवा असामाजिक नहीं है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, भौतिक अन्य सभी क्षेत्रों में होने वाले किसी भी प्रकार के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन बोला जा सकता है। यह विचलन स्वयं प्रकृति के द्वारा अथवा मानव समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप में हो सकता है। परिवर्तन या तो समाज के पूरे ढाँचे में आ सकता है अथवा समाज के किसी विशेष पक्ष तक ही सीमित हो सकता है। परिवर्तन एक सर्वकालिक परिघटना है। यह किसी-न-किसी रूप में हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है। परिवर्तन क्यों तथा कैसे होता है, इस प्रश्न पर समाजशास्त्री अब तक एकमत नहीं हैं। इसलिए परिवर्तन जैसी महत्वपूर्ण परन्तु जटिल प्रक्रिया का मतलब आज भी विवाद का एक विषय है। किसी भी समाज में परिवर्तन की क्या गति होगी, यह उस समाज में समावेशित परिवर्तन के कारणों तथा उन कारणों का समाज में सापेक्षिक महत्व क्या है, इस पर निर्भर करता है। सामाजिक बदलाव के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहाँ इसकी मुख्य विशेषताओं की चर्चा अपेक्षित है।

● सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

1. सामाजिक परिवर्तन एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है। इसका मतलब सामाजिक परिवर्तन विश्व के हर समाज में घटित होता है। दुनिया में ऐसा कोई भी समाज नजर नहीं आता, जो काफी समय तक स्थिर रहा हो या स्थिर है। यह संभव है कि परिवर्तन की रफ्तार कभी मन्द और कभी तीव्र हो, लेकिन परिवर्तन समाज में चलने वाली एक अनवरत प्रक्रिया है।

2. सामुदायिक परिवर्तन ही वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन है। इस कथन का अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बंध किसी विशेष व्यक्ति या समूह के प्रमुख भाग तक नहीं होता है। वे ही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहे जाते हैं जिनका असर समस्त समाज में अनुभव किया जाता है।

3. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न स्वरूप होते हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग, समायोजन, संघर्ष अथवा प्रतियोगिता की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं जिनसे सामाजिक परिवर्तन विविध रूपों में प्रकट होता है। परिवर्तन कभी एकरेखीय तो कभी बहुरेखीय होता है। उसी तरह बदलाव कभी हानिकारक होता है तो कभी कल्याणकारी। परिवर्तन कभी चक्रीय होता है तो कभी उद्विकासीय परन्तु कभी-कभी सामाजिक परिवर्तन क्रांतिकारी भी हो सकता है। परिवर्तन कभी कम अवधि के लिए होता है तो कभी दीर्घकालीन।

4. सामाजिक परिवर्तन की गति असमान और सापेक्षिक होती है। समाज की विभिन्न इकाइयों के मध्य परिवर्तन की गति समान नहीं होती है।

5. सामाजिक परिवर्तन के बहुत-से कारण होते हैं। समाजशास्त्री मुख्य रूप से सामाजिक बदलाव के जनसांख्यिकीय, प्रौद्योगिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों की चर्चा करते हैं। इससे अलग सामाजिक परिवर्तन के अन्य कारक भी होते हैं, क्योंकि मानव-समूह की भौतिक तथा अभौतिक आवश्यकताएँ अनन्त हैं और वे परिवर्तित होती रहती हैं।

6. सामाजिक परिवर्तन की कोई उचित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनेक आकस्मिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

विलबर्ट इ० मोर ने आधुनिक समाज को ध्यान में रखते हुए सामाजिक बदलाव की विशेषताओं की चर्चा अपने ढंग से की है, वे हैं—

1. सामाजिक परिवर्तन उचित रूप से घटित होते रहते हैं। सामाजिक पुनरुत्थान के समय में परिवर्तन की गति बहुत अधिक होती है।

2. बीते समय की अपेक्षा वर्तमान में बदलाव की प्रक्रिया अत्यधिक होती है। आज परिवर्तनों का अवलोकन हम अधिक स्पष्ट रूप में कर सकते हैं।

3. बदलाव का विस्तार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देख सकते हैं। भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में, विचारों और संस्थाओं की तुलना में, परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होता है।

4. हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर स्वाभाविक ढंग व सामान्य गति के परिवर्तन का प्रभाव ज्यादा पड़ता है।

5. सामाजिक परिवर्तन का अनुमान तो हम लगा सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप से हम इसकी भविष्यवाणी नहीं कर सकते हैं।

6. सामाजिक बदलाव गुणात्मक होता है। समाज की एक इकाई दूसरी इकाई को बदलती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक पूरा समाज उसके अच्छे अथवा बुरे प्रभावों से परिचित नहीं हो जाता।

7. आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन न तो मन के अनुसार किया जा सकता है और न ही इसे सम्पूर्णत: स्वतंत्र और असंगठित छोड़ दिया जा सकता है। आज हम समाज में नियोजन के तहत सामाजिक परिवर्तन को नियंत्रित कर वांछित लक्ष्यों की दिशा में क्रियाशील किया जा सकता है।

● सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत

कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन के कुछ प्रमुख स्रोत हैं। ये इस प्रकार हैं—

1. खोज—मनुष्य ने अपने ज्ञान तथा अनुभवों के आधार पर अपनी समस्याओं को सुलझाने व एक बेहतर जीवन व्यतीत करने के लिए बहुत तरह की खोज की है। जैसे शरीर में रक्त चालन, बहुत सारी बीमारियों के कारणों, खनिजों, खाद्य पदार्थों, पृथ्वी गोल है तथा वह सूर्य की परिक्रमा करती है आदि हजारों तरफ के तथ्यों की मानव ने खोज की, जिनसे उनके भौतिक तथा अभौतिक जीवन में काफी परिवर्तन आया।

2. अविष्कार—विज्ञान व प्रौद्योगिकी के जगत में मनुष्य के आविष्कार इतने अधिक हैं कि उनकी गिनती करना कठिन है। आविष्कारों ने मानव समाज में एक युगान्तकारी तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है।

3. प्रसार—सांस्कृतिक जगत के परिवर्तन में प्रसार की मुख्य भूमिका रही है। पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण तथा भूमंडलीकरण जैसी प्रक्रियाओं का मुख्य आधार प्रसार ही रहा है। आधुनिक युग में प्रौद्योगिकी का इतना ज्यादा विकास हुआ है कि प्रसार की गति बहुत अधिक हो गयी है।

4. आन्तरिक विभेदीकरण—जब हम सामाजिक बदलाव के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हैं, तो ऐसा लगता है कि बदलाव का एक चतुर्थ स्रोत भी संभव है—वह है आन्तरिक विभेदीकरण। इस तथ्य की पुष्टि उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों के मतों से होती है। उन लोगों का मानना है कि समाज में बदलाव समाज के

स्वाभाविक उद्विकासीय प्रक्रिया से ही होता है। प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे प्रमुख स्थिति में परिवर्तित होता रहता है। समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने अपने उद्विकासीय सिद्धान्त में स्वत: चलने वाली आन्तरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया पर काफी जोर दिया है।

● सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध कुछ अवधारणाएँ

सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया कई रूपों में प्रकट होती हैं, जैसे—उद्विकास, प्रगति, विकास, सामाजिक आन्दोलन, क्रांति आदि। चूँकि इन सामाजिक प्रक्रियाओं का सामाजिक परिवर्तन से सीधा नाता है या कभी-कभी इन संबंधों को सामाजिक परिवर्तन का समानार्थी माना जाता है, इसलिए इन शब्दों के अर्थ के संबंध में काफी उलझनें हैं। इनका स्पष्टीकरण निम्नवत् है।

उद्विकास

'उद्विकास' शब्द का उपयोग सबसे पहले जीव-विज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स डार्विन ने किया था। डार्विन के अनुरूप उद्विकास की प्रक्रिया में जीव की संरचना आसानी से जटिलता की ओर बढ़ती है। यह प्रक्रिया प्राकृतिक चयन के नियमों पर आधारित है। आरंभिक समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर ने जैविक परिवर्तन की तरह ही सामाजिक परिवर्तन को भी कुछ आन्तरिक शक्तियों के तहत संभव माना है और कहा है कि उद्विकास की प्रक्रिया मन्द-मन्द निश्चित स्तरों से गुजरती हुई पूरी होती है।

उद्विकास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मकीवर और पेज ने लिखा है कि उद्विकास एक प्रकार का विकास है। पर प्रत्येक विकास उद्विकास नहीं है क्योंकि विकास की एक उचित दिशा होती है, पर उद्विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं होती है। किसी भी क्षेत्र में विकास करना उद्विकास कहा जाएगा। मकीवर और पेज ने बताया है कि उद्विकास केवल आकार में नहीं बल्कि संरचना में भी विकास है। यदि समाज के आकार में वृद्धि नहीं होती है तथा वह पहले से ज्यादा आन्तरिक रूप से मुश्किल हो जाता है तो उसे उद्विकास कहेंगे।

प्रगति

परिवर्तन जब अच्छाई की तरफ होता है तो उसे हम प्रगति कहते हैं। प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक उचित दिशा को दर्शाता है। प्रगति में समाज-कल्याण तथा सामूहिक-हित की भावना छिपी होती है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने बताया है कि प्रगति का अर्थ अच्छाई के निमित्त परिवर्तन है। अत: प्रगति इच्छित परिवर्तन है। इसके माध्यम से हम पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को हासिल करना चाहते हैं।

मकीवर और पेज ने आगाह करते हुए कहा है कि हम लोगों को उद्विकास और प्रगति को एक ही अर्थ में उपयोग नहीं करना चाहिए। दोनों बिल्कुल अलग-अलग अवधारणाएँ हैं।

विकास

जिस प्रकार उद्विकास के अर्थ बहुत स्पष्ट और निश्चित नहीं हैं, विकास की अवधारणा भी ज्यादा स्पष्ट नहीं है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विकास का अर्थ सामाजिक विकास से है। प्रारंभिक समाजशास्त्रियों विशेषकर कौंत, स्पेन्सर और हॉबहाउस ने सामाजिक उद्विकास, प्रगति व सामाजिक विकास को एक ही अर्थ में उपयोग किया था। आधुनिक समाजशास्त्री इन शब्दों को कुछ विशेष अर्थ में ही प्रयोग करते हैं।

आज समाजशास्त्र के क्षेत्र में विकास से हमारा तात्पर्य प्रमुखत: सामाजिक विकास से है। इसका प्रयोग विशेषकर उद्योगीकरण व आधुनिकीकरण के चलते विकसित एवं विकासशील देशों के बीच मध्य स्पष्ट करने के लिए होता है। सामाजिक विकास में आर्थिक विकास का भी भाव शामिल होता है और उसी के तहत हम परम्परागत समाज, संक्रमणशील समाज व आधुनिक समाज की चर्चा करते हैं। आधुनिक शिक्षा का विकास भी एक प्रकार का सामाजिक विकास है। उसी प्रकार से कृषि पर आधारित सामाजिक व्यवस्था से उद्योग पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की तरफ अग्रसर होना भी सामाजिक विकास कहा जाएगा। दूसरे अर्थ में, सामन्तवाद से पूँजीवाद की तरफ जाना भी एक प्रकार का विकास है।

सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का एक बहुत मुख्य कारक रहा है। मुख्यत: दकियानूसी समाज में सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा काफी परिवर्तन आए हैं।

गिडेन्स के अनुरूप सामूहिक आन्दोलन व्यक्तियों का ऐसा प्रयास है जिसका एक सामान्य उद्देश्य होता है व उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर लोग अपनी तरफ से व्यवस्थित होकर किसी परम्परागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।

गिडेन्स ने कहा है कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि सामाजिक आन्दोलन व औपचारिक संगठन एक ही तरह की चीजें हैं, परन्तु दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। सामाजिक आन्दोलन के तहत नौकरशाही व्यवस्था जैसे नियम नहीं होते, जबकि औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही नियम-कानून की प्रमुखता होती है। इतना ही नहीं दोनों के मध्य उद्देश्यों का भी फर्क होता है। उसी तरह से कबीर पंथ, आर्य समाज, ब्रह्म समाज अथवा हाल के पिछड़ा वर्ग आन्दोलन को सामाजिक आन्दोलन बोला जा सकता है। औपचारिक व्यवस्था नहीं।

क्रांति

सामाजिक आन्दोलन से भी अधिकतर सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम क्रांति है, इसलिए यहाँ इसकी भी चर्चा जरूरी है। क्रांति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के अनगिनत उदाहरण उपस्थित हैं। लेकिन पिछली दो-तीन शताब्दियों में मानव इतिहास में काफी, बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ आई हैं, जिससे कुछ राष्ट्रों में राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं। इस विषय में 1775-83 की अमेरिकी क्रांति व 1789 की फ्रांसीसी क्रांति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन क्रांतियों के चलते आज सम्पूर्ण विश्व में स्वतंत्रता, सामाजिक समानता और प्रजातंत्र की बात की जाती है। उसी तरह से रूसी तथा चीनी क्रांति का विश्व स्तर पर अपना ही महत्व है। अब्राम्स ने बताया है कि विश्व में अधिकतर क्रांतियाँ मौलिक सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए हुई हैं। अरेंड के अनुरूप क्रांतियों का मुख्य उद्देश्य परम्परागत व्यवस्था से अपने-आपको अलग करना तथा नये समाज का निर्माण करना है। इतिहास में कभी-कभी इसका विपरीत भी देखने को मिलता है। कुछ ऐसी भी क्रांतियाँ हुई हैं, जिनके द्वारा हम समाज को और भी पुरातन समय में ले जाने की कोशिश करते हैं।

● सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

सामाजिक परिवर्तन के विषय में विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इन सिद्धान्तों को कई तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है।

उद्विकासवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक हरबर्ट स्पेन्सर हैं जिनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे, सरल से जटिल की ओर कुछ उचित स्तरों से गुजरता हुआ होता है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के प्रवर्तकों में दुर्खीम, वेबर, पारसन्स, मर्टन आदि विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है। इन विद्वानों के अनुसार सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली प्रति एक इकाई का अपना एक प्रकार्य होता है तथा यह प्रकार्य उसके अस्तित्व को बनाए रखने में महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना व इसको बनाने वाली इकाइयों (संस्थाओं, समूहों आदि) के बीच एक प्रकार्यात्मक नाता होता है और इसीलिए इन प्रकार्यों में जब परिवर्तन होता है तो सामाजिक संरचना भी उसी अनुरूप बदल जाती है। सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। ऑगबर्न द्वारा दिए गए 'सांस्कृतिक विलम्बना' के सिद्धान्त को भी कुछ विद्वान इसी श्रेणी में शामिल करते हैं।

संघर्ष अथवा द्वन्द्व के सिद्धान्त के समर्थक कार्ल मार्क्स, कोजर, डेहरडोर्फ आदि हैं। इनके सिद्धान्तों का अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन का प्रमुख आधार समाज में विद्यमान दो विरोधी तत्वों या शक्तियों के बीच होने वाला संघर्ष अथवा द्वन्द्व है।

चक्रीय सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक स्पेगलट, परेटो आदि हैं जो कि परिवर्तन की दिशा को चक्र की तरह मानते हैं।

चक्रीय सिद्धान्त

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह है कि सामाजिक परिवर्तन की गति तथा दिशा एक चक्र की भाँति है और इसलिए सामाजिक परिवर्तन जहाँ से शुरू होता है, अन्त में घूम कर फिर वहीं पहुँच कर समाप्त होता है। यह स्थिति चक्र की भाँति पूरी होने के बाद बार-बार इस प्रक्रिया को दोहराती है। इसका उत्तम उदाहरण भारत, चीन तथा ग्रीक की सभ्यताएँ हैं। चक्रीय सिद्धान्त के कतिपय प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्त के अर्थ को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि इतिहास अपने को दुहराता है।

चक्रीय सिद्धान्तों के मतानुसार परिवर्तन की प्रकृति एक चक्र की भाँति होती है। अर्थात् जिस स्थिति से परिवर्तन प्रारम्भ होता है, परिवर्तन की गति गोलाकार में आगे बढ़ते-बढ़ते फिर उसी स्थान पर लौट आती है जहाँ पर कि वह शुरू में थी। विलफ्रेडो परेटो ने सामाजिक परिवर्तन के अपने चक्रीय सिद्धान्त में यह दर्शाने की कोशिक की है कि किस भाँति राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में चक्रीय गति से परिवर्तन होता रहता है।

परेटों का चक्रीय सिद्धान्त

परेटो के अनुरूप प्रत्येक सामाजिक संरचना में जो ऊँच-नीच का संस्करण होता है, वह मोटे तौर पर दो वर्गों द्वारा होता है—उच्च वर्ग व निम्न वर्ग। इनमें से कोई भी वर्ग स्थिर नहीं होता, इसलिए इनमें 'चक्रीय गति' पाई जाती है। चक्रीय गति इस मतलब में कि समाज में इन दो वर्गों में निरन्तर ऊपर से नीचे अथवा उधोगामी व नीचे से ऊपर या ऊर्ध्वगामी प्रवाह होता रहता है। जो वर्ग सामाजिक संरचना में ऊपरी भाग में होते हैं वह कालान्तर में भ्रष्ट हो जाने के कारण अपने पद व प्रतिष्ठा से गिर जाते हैं, अर्थात्। अभिजात-वर्ग अपने गुणों को खोकर अथवा असफल होकर निम्न वर्ग में आ जाते हैं। दूसरी ओर, उन खाली रिक्तियों को भरने के लिए निम्न वर्ग में जो बुद्धिमान, कुशल, चरित्रवान और योग्य लोग होते हैं, वे नीचे से ऊपर की ओर चले जाते रहते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग का निम्न वर्ग में आने अथवा उसका विनाश होने और निम्न वर्ग का उच्च वर्ग में जाने की क्रिया चक्रीय ढंग से चलती रहती है। इस चक्रीय गति के कारण सामाजिक ढाँचा बदल जाता है या सामजिक परिवर्तन होता है।

परेटो के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन के चक्र के तीन मुख्य पक्ष हैं—राजनीतिक, आर्थिक और आदर्शात्मक। **राजनीतिक क्षेत्र** में चक्रीय परिवर्तन तब गतिशील होता है जब शासन-सत्ता उस वर्ग के लोगों के अधिकार में आ जाती है जिनमें समूह के स्थायित्व के विशिष्ट-चालक अधिक बलशाली होते हैं। इन्हें 'शेर' कहा जाता है। समूह के स्थायित्व के विशिष्ट चालक से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण इन 'शेर' लोगों का कुछ आदर्शवादी लक्ष्यों पर दृढ़ भरोसा होता है और उन आदर्शों की प्राप्ति के लिए ये शक्ति का भी सहारा लेने में नहीं रुकता। शक्ति-प्रयोग की प्रतिक्रिया विनाशकारी हो सकती है, इसलिए यह तरीका असुविधाजनक होता है। इस कारण वे कूटनीति का सहारा लेते हैं, तथा 'शेर, से अपने को 'लोमड़ियों' में बदल लेते हैं व लोमड़ी की भाँति चालाकी से काम लेते हैं। लेकिन निम्न वर्ग में भी लोमड़ियाँ होती हैं तथा वे भी सत्ता को अपने हाथ में लेने की फिराक में रहती हैं। अन्त में, एक समय ये भी आता है जबकि वास्तव में उच्च वर्ग की लोमड़ियों के हाथ से सत्ता निकालकर निम्न वर्ग की लोमड़ियों के अधिकर में आ जाती है, तभी राजनीतिक क्षेत्र में अथवा राजनीतिक संगठन और व्यवस्था में परिवर्तन होता है।

जहाँ तक **आर्थिक क्षेत्र** अथवा आर्थिक संगठन और व्यवस्था में परिवर्तन का प्रश्न है, परेटो हमारा ध्यान समाज के दो आर्थिक वर्गों की तरफ आकर्षित करते हैं। वे दो वर्ग हैं—1. सट्टेबाज व 2. निश्चित आय वाला वर्ग। पहले वर्ग के सदस्यों की आय बिल्कुल अनिश्चित होती है, कभी कम तो कभी अधिक; पर जो कुछ भी इस वर्ग के लोग कमाते हैं वह अपनी बुद्धि के बल पर ही कमाते हैं। इसके विपरीत, दूसरे वर्ग की आय निश्चित अथवा लगभग निश्चित होती है क्योंकि वह सट्टेबाजों की तरह अनुमान पर निर्भर नहीं है। सट्टेबाजों में

सम्मिलन के विशिष्ट–चालक की प्रधानता व निश्चित आय वाले वर्ग के समूह में स्थायित्व के विशिष्ट–चालक की प्रमुखता पाई जाती है। इसी कारण पहले वर्ग के लोग आविष्कारकर्ता, लोगों के नेता अथवा कुशल व्यवसायी आदि होते हैं। यह वर्ग अपने आर्थिक हित तथा अन्य प्रकार की शक्ति के मोह से चालाकी तथा भ्रष्टाचार का स्वयं शिकार हो जाता है जिसके कारण उसका अन्त होता है और दूसरा वर्ग उसका स्थान ले लेता है। समाज की समृद्धि अथवा विकास इसी बात पर आधारित है कि सम्मिलन का विशिष्ट–चालक वाला वर्ग नए–नए सम्मिलन तथा आविष्कार के द्वारा राष्ट्र को नवप्रवर्तन की ओर ले जाए और समूह के स्थायित्व के विशिष्ट–चालक वाला वर्ग उन नए सम्मिलनों से मिल सकने वाले सभी लाभों को प्राप्त करने में सहायता दें। आर्थिक प्रगति अथवा परिवर्तन का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

उसी प्रकार **आदर्शात्मक क्षेत्र** में अविश्वास तथा विश्वास का चक्र चलता रहता है। किसी एक समय–विशेष में समाज में विश्वासवादियों का प्रभाव रहता है परन्तु वे अपनी दृढ़ता अथवा रूढ़िवादिता के कारण अपने पतन का साधन अपने–आप ही जुटा लेते हैं और उनका स्थान दूसरे वर्ग के लोग ग्रहण कर लेते हैं।

उतार–चढ़ाव का सिद्धान्त

चक्रीय सिद्धान्त से मेल खाता सोरोकिन का 'सामाजिक–सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त' अथवा उतार–चढ़ाव का सिद्धान्त है। कतिपय विद्वानों ने इसे चक्रीय सिद्धान्त की श्रेणी में ही रखा है।

हैंस स्पीयर के अनुसार, सोरोकिन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि कोई विकास नहीं हुआ है, न कोई चक्रीय परिवर्तन हुआ है। सोरोकिन के अनुरूप जो कुछ भी है वह केवल मात्र उतार–चढ़ाव है। संस्कृति के बुनियादी रूपों का उतार–चढ़ाव, सामाजिक का उतार–चढ़ाव, शक्ति के केन्द्रीकरण का उतार–चढ़ाव यहाँ तक कि आर्थिक अवस्थाओं में सभी जगह ही उतार–चढ़ाव है।'' इसी उतार–चढ़ाव में सभी सामाजिक घटनाओं और परिवर्तनों का रहस्य छिपा हुआ है।

सोरोकिन के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के उतार–चढ़ाव में व्यक्त होता है। उतार–चढ़ाव की अवधारणा सोरोकिन के सिद्धान्त का प्रथम आधार है। यह उतार–चढ़ाव दो सांस्कृतिक व्यवस्थाओं–चेतनात्मक संस्कृति व भावनात्मक संस्कृति–के मध्य होता है। दूसरे शब्दों में, जब समाज चेतनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था से भावनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था में अथवा भावनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था से चेतनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था में बदलता है, तभी सामाजिक बदलाव होता है। अर्थात् तभी विज्ञान, दर्शन, धर्म, कानून, नैतिकता, आर्थिक व्यवस्था, राजनीति, कला, साहित्य, सामाजिक संबंध सभी बदल जाता है। इस प्रकार सोरोकिन के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का दूसरा आधार चेतनात्मक संस्कृति तथा भावनात्मक संस्कृति के बीच भेद है।

सोरोकिन के मतानुसार जब तक सांस्कृतिक व्यवस्था, उदाहरणार्थ चेतनात्मक संस्कृति व्यवस्था अपनी अन्त: सीमा पर पहुँच जाती है तो उसे अपनी गति को विपरीत दिशा, अर्थात् भावनात्मक संस्कृति व्यवस्था की तरफ मोड़ना ही पड़ता है। अर्थात् पहले की व्यवस्था के स्थान पर दूसरी व्यवस्था का जन्म होता है; क्योंकि प्रति एक व्यवस्था की–चाहे वह कितनी ही अच्छी हो अथवा पनपने, आगे बढ़ने अथवा विकसित होने की एक सीमा है। यही सोरोकिन का 'सीमाओं का सिद्धान्त' है जो कि सामाजिक परिवर्तन का तृतीय आधार है।

इन सीमाओं के सिद्धान्त को बीरस्टीड द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण की मदद से बहुत सरलता से समझा जा सकता है। यदि आप प्यानों की एक कुँजी को उँगली मारेंगे तो उससे कुछ आवाजें उत्पन्न होंगी। यदि आप जरा जोर से उँगली मारेंगे तो अवश्य ही ध्वनि भी अधिक जोर की होगी। लेकिन इस प्रकार जोर से उँगली मारने और अधिक जोर से अवाजें निकालने की एक सीमा है। एक सीमा से अधिक जोर से यदि आप प्यानों पर आघात करेंगे तो अधिक जोर से अवाजें निकलने की अपेक्षा स्वयं प्यानों ही टूट जाएगा। यही बात सांस्कृतिक व्यवस्थाओं पर भी लागू होती है। एक सांस्कृतिक व्यवस्था एक सीमा तक पहुँच जाने के तत्पश्चात् आगे नहीं

बढ़ सकती व तब तक विपरीत प्रभाव उत्पन्न हो जाता है तथा टूटे हुए प्यानों की तरह उस व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन सांस्कृतिक व्यवस्था स्वत: उदय होती है।

सोरोकिन के सामाजिक परिवर्तन का चौथा आधार यह है कि सांस्कृतिक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलाव होता तो अवश्य है, किन्तु होता है अनियमित रूप में। दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के उतार-चढ़ाव को किन्हीं उचित बन्धनों में बाँधा नहीं जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृति एक गतिशील व्यवस्था है फिर भी हम यह आशा नहीं कर सकते कि एक सांस्कृतिक व्यवस्था किसी एक निश्चित दिशा की तरफ स्थायी रूप में गतिशील रहेगी।

अब सवाल यह उठता है कि चेतनात्मक अवस्था से भावनात्मक अवस्था में अथवा भावनात्मक अवस्था से चेतनात्मक अवस्था में जो बदलाव होता है उस परिवर्तन को लाने वाली कौन-सी शक्ति हैं? **सोरोकिन** ने इस प्रश्न का जवाब 'स्वाभाविक परिवर्तन का सिद्धान्त' के ऊपर दिया है और यही आपके सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का **पाँचवा या आखिरी** आधार है। 'स्वाभाविक परिवर्तन का सिद्धान्त' है कि परिवर्तन होने का कारण अथवा परिवर्तन लाने वाले शक्ति स्वयं संस्कृति की अपनी प्रकृति में ही अन्तर्निहित है। परिवर्तन लाने वाली कोई बाह्य शक्ति नहीं बल्कि संस्कृति की प्रकृति में ही क्रियाशील आन्तरिक शक्ति अथवा शक्तियाँ हैं। संक्षेप में, सोरोकिन के अनुरूप, सामाजिक परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जोकि संस्कृति के अन्दर ही क्रियाशील कुछ शक्तियों का परिणाम होती है। सामाजिक परिवर्तन एक कृत्रिम प्रक्रिया है अथवा किसी बाह्य शक्ति द्वारा प्रेरित होती है—ऐसा सोचना गलत है। चेतनात्मक अवस्था से भावनात्मक अवस्था का अथवा भावनात्मक अवस्था से चेतनात्मक अवस्था का परिवर्तन एक स्वाभाविक और आन्तरिक प्रक्रिया है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ऐसा होना ही स्वभाव में है। उदाहरणार्थ, गुलाब का एक बीज केवल गुलाब के ही पौधे में, न कि अन्य तरह के पौधे में, इसलिए विकसित होता है क्योंकि यही स्वाभाविक है अथवा वह उस बीज के स्वभाव में अन्तर्निहित है।

रेखीय परिवर्तन का सिद्धान्त

यह सामाजिक परिवर्तन का वह रूप है; जिसमें परिवर्तन की दिशा सदैव ऊपर की ओर होती है। परिवर्तन एक सिलसिले अथवा क्रम से विकास की ओर एक ही दिशा में लगातार होता जाता है। जो आविष्कार आज हुआ है उससे आगे ही आविष्कार होगा, जैसे रेडियो के बाद टेलीविजन का अविष्कार हुआ उसे तथा विकसित करके टेलीफोन से बात करते समय दूसरी तरफ से बात करने वाले को देखा भी जा सकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तन के इस प्रतिमान में परिवर्तन रेखीय होता है तथा उसे हम एक रेखा से प्रदर्शित कर सकते हैं। इस परिवर्तन की गति तीव्र अथवा मंद हो सकती है।

आदिम समाज में बदलाव धीमी गति से था जबकि आधुनिक समाजों में गति तीव्र है, किन्तु दोनों समाजों में परिवर्तन एक रेखा में ही अर्थात आगे बढ़ता हुआ है।

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से बताने के लिए अगर इसका अन्तर चक्रीय सिद्धान्त से किया जाए तो इसकी प्रकृति को आसानी से समझा जा सकता है। दोनों में अन्तर निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. रेखीय सिद्धान्त इस मत पर आधारित है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति एक निश्चित दिशा की तरफ बढ़ने की होती है, इसके विपरीत चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिवर्तन सदा उतार-चढ़ाव से युक्त होते हैं अर्थात् प्रत्येक परिवर्तन सदा नई दिशा उत्पन्न नहीं करता बल्कि इसकी वजह से समूह द्वारा कभी नई विशेषताओं तथा कभी पहले छोड़ी जा चुकी विशेषताओं को पुन: ग्रहण किया जा सकता है।

2. रेखीय सिद्धान्त के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन की दिशा साधारणतया अपूर्णता से पूर्णता की तरफ बढ़ने की होती है। चक्रीय सिद्धान्त में परिवर्तन के किसी ऐसे क्रम को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, इसमें परिवर्तन पूर्णता से अपूर्णता या अपूर्णता से पूर्णता किसी भी दिशा की तरफ हो सकता है।

3. रेखीय सिद्धान्त के अनुरूप परिवर्तन की गति आरम्भ में धीमी होती है लेकिन एक निश्चित बिन्दु तक पहुँचने के पश्चात् परिवर्तन बहुत स्पष्ट रूप से तथा तेजी से होने लगता है। प्रौद्योगिक विचार से जन्म परिवर्तन इस कथन की पुष्टि करते हैं। जबकि इसके विपरीत चक्रीय सिद्धान्त के अनुरूप एक विशेष परिवर्तन से किसी निश्चित अवधि का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बदलाव कभी जल्दी–जल्दी हो सकते हैं और कभी बहुत सामान्य गति से।

4. रेखीय सिद्धान्त की तुलना में चक्रीय सिद्धान्तों पर विकासवाद का प्रभाव काफी कम है। तात्पर्य यह है कि रेखीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन की प्रवृत्ति एक ही दिशा में और सरलता से जटिलता की तरफ बढ़ने की होती हैं इसके विपरीत चक्रीय सिद्धान्त सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवर्तन में भेद करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि विकासवादी प्रक्रिया अधिकाधिक सामाजिक परिवर्तन में ही देखने को मिलती है जबकि सांस्कृतिक जीवन तथा विशेष मूल्यों तथा लोकाचारों में होने वाला परिवर्तन उतार–चढ़ाव से युक्त रहता है।

5. रेखीय सिद्धान्त सैद्धान्तिकता पर अधिक जोर देते हैं, ऐतिहासिक साक्षियों पर नहीं। जब कि चक्रीय सिद्धान्त के कारण उतार–चढ़ाव से युक्त परिवर्तनों को ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है इस तरह उनके प्रतिपादकों का दावा है कि उनके सिद्धान्त अनुभवसिद्ध हैं।

6. रेखीय परिवर्तन व्यक्ति के जागरुक प्रयत्नों से संबंधित है। इतना महत्वपूर्ण है कि रेखीय परिवर्तन एक विशेष भौतिक पर्यावरण से प्रभावित होते हैं परन्तु भौतिक पर्यावरण खुद मनुष्य के चेतन प्रयत्नों से निर्मित होता है। जबकि चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिवर्तन एक बड़ी सीमा तक मानव की इच्छा से स्वतंत्र है। इसका मतलब, यह है कि प्राकृतिक दशाओं, मानवीय आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तन के साथ सामाजिक संरचना खुद ही एक विशेष रूप ग्रहण करना आरम्भ कर देती है।

7. रेखीय सिद्धान्त परिवर्तन के एक विशेष कारण पर ही जोर देता है और यही कारण है कि कुछ भौतिक दशाएँ सदा अपने और समूह के बीच एक आदर्श सन्तुलन या अभियोजनशीलता स्थापित करने का प्रयत्न करती है। जबकि चक्रीय सिद्धान्त परिवर्तन का कोई प्रमुख कारण स्पष्ट नहीं करते बल्कि इनके अनुसार समाज में अधिकतर परिवर्तन इसलिए उत्पन्न होते हैं कि परिवर्तन का स्वाभाविक नियम है।

8. रेखीय सिद्धान्त इस तथ्य पर जोर देते हैं कि परिवर्तन का क्रम सभी समाजों पर समान रूप से लागू होता है। इसकी वजह यह है कि एक स्थान के भौतिक अथवा प्रौद्योगिक पर्यावरण में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन को जल्द ही दूसरे समाज द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। बल्कि चक्रीय सिद्धान्त के अनुरूप एक विशेष प्रकृति के परिवर्तन का रूप सर्वव्यापी नहीं होता; अर्थात् विभिन्न समाजों तथा विभिन्न अवधियों में परिवर्तन की प्रक्रिया भिन्न–भिन्न प्रकार से मनुष्य समूहों को प्रभावित करती है।

द्वन्द्व या संघर्ष का सिद्धान्त

द्वन्द्व अथवा संघर्ष का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का प्रमुख आधार समाज में मौजूद दो विरोधी तत्वों तथा शक्तियों के बीच होने वाला संघर्ष अथवा द्वन्द्व है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह मानने से इन्कार करते हैं कि समाज बिना किसी बाधा, गतिरोध अथवा संघर्ष के उद्विकासीय ढंग से आसानी से उच्च व जटिल स्तर तक पहुँच जाता अथवा बदला होता है। उनके अनुरूप समाज की प्रत्येक क्रिया, उप–व्यवस्था तथा वर्ग का विरोधी तत्व अवश्य होता है और इसीलिए उनमें विपरीत प्रतिक्रिया अथवा संघर्ष अवश्य होता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन घटित होता है। साथ ही, ये परिवर्तन सदा शान्तिपूर्ण तरीके से होता हो, यह बात भी नही है क्योंकि समाज विस्फोटक तत्वों अथवा शक्तियों से भरा हुआ होता है। इस कारण क्रान्ति के द्वारा भी परिवर्तन घटित हो सकता है। क्रान्ति के इस कष्ट को सहन किए बिना नए युग का आरम्भ उसी प्रकार सम्भव नहीं जैसे प्रसव पीड़ा को सहन किए बिना नव सन्तान का जन्म असम्भव है। इसी सन्दर्भ में संघर्ष के कुछ सिद्धान्तों की विवेचना निम्नवत है।

कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त : वर्ग संघर्ष

मार्क्स से पहले **ह्वीगल** ने भी संघर्ष अथवा द्वन्द्व के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उनके अनुरूप यह द्वन्द्व एक विचारवाद तथा उसके विरोधी विचार प्रतिवाद के मध्य चलता है जिसके फलस्वरूप एक नया विचार संवाद पनपता है जो कि अन्ततः सामाजिक परिवर्तन की वजह बनता है। **कार्ल मार्क्स** ने **ह्वीगल** की इस द्वन्द्वात्मक विचारधारा को तो स्वीकार किया पर यह मानने से इंकार किया कि यह द्वन्द्व दो विरोधी विचारों अथवा आत्माओं के बीच होता है। **मार्क्स** के मतानुसार समाज में यह द्वन्द्व वास्तव में दो विरोधी वर्गों के मध्य चलता रहता है और इस वर्ग संघर्ष के फलस्वरूप ही नए युग का उद्‌भव या सामाजिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार **मार्क्स** ने वर्ग संघर्ष के आधार पर सामाजिक जीवन में होने वाले बदलावों की व्याख्या की है।

मार्क्स का कथन है कि सदैव ही प्रत्येक समाज में दो विरोधी वर्ग–एक शोषक तथा दूसरा शोषित–वर्ग होता है। जब शोषक–वर्ग की शोषण–नीति असहनीय होती जाती है, तब एक सीमा पर इन दोनों वर्गों में संघर्ष स्पष्ट हो जाता है। कम्युनिस्ट घोषणा–पत्र में मार्क्स एवं एंगेल्स ने लिखा है, **''अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग–संघर्ष का ही इतिहास है। स्वतंत्र व्यक्ति और दास, कुलीन–वर्ग तथा साधारण जनता, सामन्त व अर्द्धदास किसान, गिल्ड का स्वामी और उसमें कार्य करने वाले कारीगर, संक्षेप में शोषक व शोषित, सदा एक–दूसरे के विरोधी होकर कभी प्रत्यक्ष तो कभी अप्रत्यक्ष लेकिन अनवरत युद्ध करते रहते हैं।''** इस संघर्ष का अन्त प्रत्येक बार अथवा तो समग्र समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निमाण में अथवा संघर्षरत वर्गों की आम बर्बादी में होता है।....''आधुनिक पूँजीवादी समाज, जो कि सामन्तवादी समाज अवशेषों से अंकुरित हुआ है, वर्ग–संघर्ष से मुक्त नहीं है। इसने केवल पुराने के स्थान में नये वर्गों की उत्पीड़न की नई अवस्थाओं को तथा नवीन प्रकार के संघर्षों को उत्पन्न किया है। फिर भी हमारी इस युग की, पूँजीवादी युग की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि इसने वर्ग–संघर्ष को व अधिक सरल बना दिया है। समग्र रूप से समाज उत्तरोत्तर दो महान् विरोधी समूहों में विभाजित हो रहा है; ये दो महान् वर्ग पूँजीपति व सर्वहारा 'एक–दूसरे से प्रत्यक्ष रूप में संघर्षरत हैं।''

मार्क्स मानते हैं कि यह एक ऐतिहासिक सत्य है भू–सम्पत्ति के विरूद्ध पूँजी सदैव धन का आकार ग्रहण करती है। पूँजी का प्रथम साकार स्वरूप धन है। उसके पश्चात् पूँजीपतियों द्वारा उस धन से श्रमिकों के धन को उसके वास्तविक मूल्य से कम मूल्यों में खरीदकर व इस प्रकार अतिरिक्त मूल्यों को एकत्रित करके धन को पूँजी में बदल दिया जाता है। इस पूँजी से उन चीजों को खरीदकर, जो कि नवीन उत्पादन में आर्थिक रूप से मददगार होती हैं और जो कि उत्पादन क्रिया के एक साधन के रूप में प्रयोग में लाई जाती हैं, पूँजीपति लोग श्रमिकों के श्रम से पूँजियों का एकत्रीकरण करते रहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, धन से धन को बढ़ाते रहते हैं। यह पूँजी बढ़ते–बढ़ते एक ऐसे जीवित–दानव में बदल जाती है जो कि कटु फलदायक व स्वयं बढ़ने वाली होती है तथा जो श्रमिकों के खून को मन्द–मन्द चूसती रहती है। इस प्रकार **मार्क्स** के अनुरूप, पूँजी वह धन है जो कि श्रमिकों का शोषण करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इस शोषण से ही वर्ग संघर्ष का बीजारोपण होता है जो कि अन्त में सामाजिक परिवर्तन का कारण बन जाता है।

कोज़र का सिद्धान्त : संघर्ष का प्रकार्यवाद

अनेक विद्वानों द्वारा सामाजिक संघर्ष के संबंध में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनमें प्रो० लीविस ए० कोज़र का सिद्धान्त मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। आपने अपने सिद्धान्त को अपनी प्रसिद्ध किताब में बताया है कि आपके सिद्धान्त को 'संघर्ष का प्रकार्यवाद' कहा जाता है क्योंकि आपने सामाजिक संघर्ष के प्रकार्यात्मक पक्ष को दिखाने का प्रयास किया है और यह दर्शाया है कि लोगों की आम धारणा सही नहीं है कि सामाजिक संघर्ष से केवल विघटनात्मक परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव में सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक प्रकार्य कहीं अधिक आवश्यक है। कोज़र कहते हैं कि संघर्ष के प्रकार्यों में ही सामाजिक परविर्तन के कारण छिपे हैं।

कोज़र के अनुरूप यह सच है कि सामाजिक संघर्ष से दो प्रकार के सम्भावित परिणाम उत्पन्न होते हैं—एक तो संगठनात्मक परिणाम तथा दूसरा विघटनात्मक परिणाम। सामाजिक संघर्ष से संगठनात्मक परिणाम उस अवस्था में दिखाई देते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की तरह आस्था समाज के कुछ आधारभूत मूल्यों में होती है। उदाहरणार्थ, लोकतंत्र के कुछ मूलभूत मूल्यों के आधार पर ही शासक दल व विरोधी दल, संसद अथवा विधानसभा के अन्दर व बाहर एक-दूसरे से टकराते हैं, 'बैलेट बॉक्स' की लड़ाई लड़ते हैं; किन्तु इस प्रकार के टकराव अथवा संघर्ष से हानि के स्थान पर लाभ ही होता है क्योंकि टकराव व आलोचना के माध्यम से दोनों ही पक्षों को अपनी-अपनी कमियाँ महसूस हो जाती हैं और वे उन्हें दूर करके ऐसे कार्यों को करने की कोशिश करते हैं कि, अधिकाधिक लोकहित सम्भव हो। इसके कारण समाज में अनेक परिवर्तन घटित हो सकते हैं। उसी प्रकार किसी बाह्य समूह से संघर्ष होने पर भी समूह के अन्दर सदस्यों में एकता पनपती है क्योंकि उनमें एकजुट होकर शत्रु को कड़क जवाब देने की समान इच्छा अथवा संकल्प-शक्ति पनपती है। उदाहरणार्थ, चीनी और पाकिस्तानी युद्ध के दौरान भारत के सभी संप्रदायों, समूहों, वर्गों व राजनीतिक दलों के बीच एक सराहनीय एकता देखने को मिली थी। मातृभूमि की रक्षा संबंधी मूल्यों पर लोगों की एकसमान आस्था ही एक एकता की वजह है। इस तरह के प्रत्यक्ष संघर्ष के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष संघर्ष के अन्तर्गत प्रतिस्पर्द्धा की व्याख्या की जा सकती है। आज सामाजिक, विशेषकर आर्थिक जीवन की सारी प्रगति या परिवर्तन प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही सम्भव होती है।

इसके विरूद्ध, सामाजिक संघर्ष के विघटनात्मक परिणाम उस अवस्था में उत्पन्न होते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की कोई आस्था समाज के मूलभूत मूल्यों में नहीं होती है तथा वे एक-दूसरे को मिटा देने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। दो सेनाओं के बीच युद्ध अथवा दो संप्रदायों के बीच दंगा-फसाद विघटनात्मक परिणामों को उत्पन्न करने वाले संघर्ष हैं, जिनके कारण समाज में जान-माल की अत्यधिक हानि तो होती ही है, साथ ही समाज में ईर्ष्या, कटुता, अव्यवस्था, अराजकता तथा अशांति भी फैलती है। कोज़र के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तनों से सामाजिक प्रगति बाधित होती है।

कोज़र के अनुरूप सामाजिक संघर्ष से न केवल नए आदर्श-नियमों और संस्थाओं का विकास ही सम्भव होता है, बल्कि नई साझेदारी तथा साहचर्य भी पनपते हैं। संघर्ष का ही एक रूप प्रतिस्पर्द्धा है जिसके कारण औद्योगिक विकास और अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार सम्भव होता है और समाज-व्यवस्था को नवीन गति प्राप्त होती है। संघर्ष से तनाव व निराशा के शान्त होने में मदद मिलती है व समाज-व्यवस्था को नई परिस्थिति से अनुकूलन करने का अवसर प्राप्त होता है। ये सभी संघर्ष के कारण समाज में घटित होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों को ही दर्शाते हैं।

इस प्रकार **कोज़र** का मत यह है कि सामाजिक संघर्षों को विघटनात्मक बताकर उसे एक हौआ की तरह पेश करना सही नहीं होगा। यह नहीं है कि संघर्ष हर रूप में समाज के लिए लाभप्रद ही होता है। संघर्षों के विघटनात्मक परिणाम अथवा परिवर्तन भी पैदा हो सकते हैं और होते भी हैं। परन्तु संघर्ष के संगठनात्मक परिणामों को अथवा सकारात्मक प्रकार्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। संघर्षों के सामाजिक प्रकार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव वाले होते हैं।

डेहरनडोर्फ का सिद्धान्त : सत्ता के लिए संघर्ष

रैल्फ डेहरनडोर्फ का संघर्ष-सिद्धान्त आधार रूप में सत्ता के संबंधों पर आधारित है। आपके अनुसार सत्ता-संरचना जोकि प्रत्येक सामाजिक संगठन का एक अभिन्न भाग होती है, अनिवार्य रूप में स्वार्थ-समूहों को संगठित करती तथा उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान करती है, व इस रूप में संघर्ष की सम्भावनाओं को जन्म देती है। वास्तव में समाज में सत्ता का विभाजन समान नहीं होता है, इसीलिए संघर्ष भी खड़ा हो जाता है। अपने लिए अधिकाधिक सत्ता प्राप्त करना खुद में ही सम्मानजनक होता है और इसी सत्ता के आधार पर यह निश्चित होता है कि औरों के साथ उसका नाता कैसा होगा। पर जो सत्ता प्राप्त करने से छूट जाते हैं, वे उसे प्राप्त करने

की कोशिश करते हैं और जिनके पास सत्ता है वे इसे बनाए रखने की जी-जान से कोशिश करते हैं। इसी से टकराव अथवा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। इस संघर्ष से सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक रूप में घटित होते हैं।

डेहरनडोर्फ की मान्यता यह है कि संघर्ष का बीज सभी सामाजिक संरचना में ही सन्निहित होता है और समाज का प्रत्येक भाग निरन्तर या लगातार परिवर्तित हो रहा है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन वर्गों के मध्य होने वाले संघर्ष के फलस्वरूप होते हैं। **डेहरनडोर्फ** के अनुरूप, ''संरचना में होने वाले परिवर्तन के विभिन्न ढंग वर्ग-संघर्ष के विभिन्न ढंगों के साथ-साथ बदलते रहते हैं। वर्ग-संघर्ष जितना तीव्र अथवा प्रचंड होगा, उतना ही आमूल बदलाव घटित होगा; वर्ग-संघर्ष जितना अधिक हिंसात्मक होगा, संरचना में उसके कारण परिवर्तन भी उतने ही आकस्मिक होंगे।''

डेहरनडोर्फ का कथन है कि सत्ता-संरचना में सदा ही शासक और शासित के संबंध निहित होते हैं। यह सत्ता-संरचना अधिकार व कर्तव्यों को परिभाषित करती है, दंडों को निर्धारित करती है व अनुरूपता को लागू करती है। डेहरनडोर्फ के मतों में, ''जहाँ कहीं भी सत्ता-संबंध होते हैं, वहीं शासक-वर्ग से सामाजिक तौर पर यह माना जाता है कि वह शासित-वर्ग के व्यवहारों को आदेशों और माँगों, चेतावनी तथा निषेधों द्वारा नियंत्रित करें।'' वास्तव में संघर्ष की शुरुआत वहीं से होती है जहाँ इसका गलत उपयोग होता है।

डेहरनफोर्ड का मत है कि सत्ता-संरचना में सत्ता का सदा असमान बँटवारा होता है—जिनके पास ज्यादा सत्ता होती है वे प्रभुत्वसम्पन्न व शासक बन बैठते हैं जबकि सत्ताहीन अथवा कम सत्ता वाले लोग मातहती की स्थिति में होते हैं। प्रभुत्वसंपन्न कुछ लोगों को वैधानिक अधिकार प्राप्त होता है कि वे अपने अधीनस्थ लोगों पर शासन करें तथा उन पर नियंत्रण रखें। सत्ता के इस असमान बँटवारे से समाज में खुद ही दो विरोधी समूहों का जन्म, प्रधानता तथा अधीनता की दो स्थितियों के अनुसार होता है—एक तो वे जो आदेश देते हैं तथा दूसरे वे जो उन आदेशों का पालन करते हैं। एक छोटे से दफ्तर में भी दो विरुद्ध वर्ग-अफसर और मातहत होते हैं, जिनमें संघर्ष की सम्भावना सदा ही बनी रहती है। क्योंकि इन दोनों वर्गों के हित अथवा स्वार्थ कभी मेल नहीं खाते और वे परस्पर-विरोधी होते हैं।

इस प्रकार डेहरनडोर्फ के अनुरूप प्रत्येक सामाजिक संगठन में सत्ता का बँटवारा असमान होने के कारण परस्पर विरूद्ध स्वार्थ-समूहों का निर्माण स्वाभाविक भी है और सत्ता की यह रचना ही संघर्ष का एकमात्र आधार है। इस कारण संघर्ष को सामाजिक जीवन में एकदम मिटा देना अथवा खत्म कर देना असम्भव है। डेहरनडोर्फ की मान्यता यह है कि संघर्ष को अस्थायी रूप से अथवा कुछ समय के लिए दबाया, नियमित, निर्देशित एवं नियंत्रित तो किया जा सकता है, किन्तु न तो कोई दार्शनिक-राजा और न ही कोई आधुनिक तानाशाह इसे हमेशा के लिए खत्म कर सकता है। चूँकि सामाजिक संघर्ष स्वयं सामाजिक संगठन की प्रकृति में अन्तर्निहित होता है, इसकी वजह से उन्हें पूरे तौर पर मिटाया नहीं जा सकता, केवल विशेष सन्दर्भों में उनकी अभिव्यक्तियों का निराकरण किया जा सकता है जैसे श्रमिक-हड़ताल अथवा तालाबन्दी की हालत में।

वेबलन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिकी को अप्रत्यक्ष रूप में उत्तर कारक माना है क्योंकि उनके अनुरूप उत्पादन का प्रकार (प्रौद्योगिकी) सर्वप्रथम आर्थिक संरचना में परिवर्तन लाता है तथा वे आर्थिक संबंधों के परिवर्तन संपूर्ण सामाजिक अधिसंरचना में परिवर्तन लाते हैं। इस तरह उनके सिद्धान्त में इस विषय में काफी अस्पष्टता है कि प्रौद्योगिकी परिवर्तन किस तरह वास्तविक रूप में परिवर्तन लाते हैं। वस्तुत: वेबलन ने प्रौद्योगिकी को प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक परिवर्तन की वजह माना है, तथापि उसके अनेकों स्पष्ट लेखों की वजह अनेकों सामाजिक वैज्ञानिकों ने उसको अलग-अलग प्रकार से विश्लेषित किया है। उसने अपनी सबसे प्रसिद्ध किताब **'द थ्योरी ऑफ द लेजर क्लास'** में लिखा है कि मानव जीवन में आदतीकरण तथा मानसिक अनुशासन को लाने वाले महत्वपूर्ण अभिकरण वे हैं जो मानव जीवन के कार्यों से स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित

हैं, विशेष रूप से जिस कार्य में मनुष्य रहता है तथा जिस प्रकार की प्रौद्योगिकी में वह लगा रहता है। उसने यह दिखाने का प्रयास किया है कि मानव सामाजिक संबंध तथा संस्कृति प्रौद्योगिकी के द्वारा निर्मित है। मानव की लगातार कुछ मूल प्रवृत्तियाँ हैं परन्तु वे मूल प्रवृत्तियाँ जिन आदतों को उत्पन्न करती हैं वे उनके भौतिक पर्यावरण द्वारा प्रस्तुत अवसरों के कारण विभिन्न होती हैं। एक शब्द में मानव वह है जो वह करता है। वेबलन के मतों में ''सामाजिक संरचना में परिवर्तन, विकास तथा अनुकूलन स्वत: ही परिवर्तित परिस्थितियों में होता है तथा वह समुदाय के विभिन्न वर्गों के विचारों की आदतों में परिवर्तन व्यक्तियों की विचार की आदतों से होता है जो कि समुदाय के बनाने वाले हैं.....समाज का विकास (सामाजिक उद्विकास) परिस्थितियों के दबाव में व्यक्तियों के मानसिक अनुकूलन की वह स्थायी क्रिया है जो कि भूतकालीन पृथक परिस्थितियों में बने विचार की आदतों के पालन को सहन नहीं करती है। विचार की आदतों में पुन: सामंजस्य बदली हुई परिस्थिति के दबाव में बड़े क्लान्त तथा अन्यमनस्क भाव से किया जाता है क्योंकि ये वे स्थितियाँ हैं जिन्होंने उनके समाज स्वीकृत पूर्व विचारों को परिवर्तित हुई परिस्थितियों में अमान्य कर दिया है।''

अनुकूलन की स्वतन्त्रता इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति किस स्तर तक पर्यावरण की शक्तियों के दबाव से स्वतंत्र हैं। यदि समाज का कोई भाग अथवा वर्ग किसी आवश्यक पहलू में पर्यावरण की क्रिया से बच जाता है तो समुदाय का वह भाग अथवा वह वर्ग बदली हुई सामान्य परिस्थिति की जीवन पद्धति को अधिक क्लान्त भाव से स्वीकार करेगा तथा वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अवरुद्ध करना चाहेगा।

धनाढ्य आरामतलब अथवा लेज़र वर्ग सामाजिक व्यवस्था का वह अंग है जो कि सामाजिक प्रगति के मार्ग में रुकावट उत्पन्न करता है। वेबलन आगे कहते हैं कि किसी भी समुदाय को एक औद्योगिक अथवा आर्थिक यन्त्रन्यास के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि उसकी संरचना का निर्माण आर्थिक संस्थाओं के कारण होता है। ये संस्थाएँ भौतिक पर्यावरण में समुदाय की जीवन की क्रिया को चलाने वाली आदतों की पद्धतियाँ हैं। सांस्कृतिक दशाओं तथा उसकी प्रौद्योगिकी एक ऐसी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें शिक्षित जनशक्ति इस प्रकार तैयार की जाती है जिसमें वे मनुष्यों, सामन्तों के अधीनस्थ रहे। वह व्यवस्था कृषि व उद्योग दोनों में एक जैसे लागू होती है। भूमि की जोत में उसके अनुसार कृषक को अत्यधिक परिश्रमी तथा जमीन के मालिक का आज्ञाकारी होना चाहिए। इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में भी जहाँ व्यक्तिगत रूप में कुशलता, हस्त कौशल तथा निर्णय महत्वपूर्ण होते हैं तथापि वहाँ भी यन्त्र के द्वारा अवैयक्तिक उत्पादकता व उसके द्वारा उत्पन्न होने वाली विशेषताओं का कोई स्थान नहीं है। सामाजिक व्यवस्था तदनुरूप होती है राज्य वंशानुगत होता है वह व्यक्तिगत अधिकार तथा एक वर्ग के प्रति वर्ग की अधीनता पर निर्भर होता है। राजनीति व युद्ध तक में सफलता व्यक्तिगत शक्ति और योग्यता पर निर्भर करती है। धर्म भी व्यक्तिगत अधिकारी, राजतंत्रीय व श्रेणीबद्ध होता है। (अर्थात धर्म में भी व्यक्ति निष्ठा होती है।) लेकिन मन्द-मन्द इस व्यवस्था के प्रौद्योगिकी आधार में परिवर्तन आता है क्योंकि मानव शक्ति की जगह पर यान्त्रिक शक्ति महत्वपूर्ण हो जाती है नयी कुशलताएँ आती जाती हैं व पुरानी कुशलताएँ नष्ट होती जाती हैं। इसका कारण है कि शारीरिक योग्यता के स्थान पर नवीन व्यवसाय जैसे डिजाइनर, इंजीनियर व मशीनमैन आदि नए प्रकार के मानसिक लक्षणों की माँग करते हैं। यन्त्रन्यास के नियन्त्रण के आदतीकरण की वजह से शक्ति का विचार स्वयं बदल जाता है अब स्वेच्छाचारी व्यक्तिगत आदेश की शक्ति, इच्छा पर की शक्ति का विचार अब प्रभावशाली नहीं रहता है बल्कि अब मनुष्यों द्वारा निर्मित व्यवस्था अर्थात् अननुलंघनीय कानूनों का पालन जीवन को नियंत्रित करने वाली शक्ति होती है।

ए० टायनबी का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त

टॉयनबी एक अंग्रेज इतिहासकार थे उन्होंने दुनिया की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया व अपनी पुस्तक में सामाजिक परिवर्तन का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। विभिन्न सभ्यताओं को देखकर आपने सभ्यताओं के विकास का एक सामान्य प्रतिमान ढूँढ़ा व सिद्धान्त का निर्माण किया। **टॉयनबी** के सिद्धान्त को **'चुनौती एवं प्रत्युत्तर का सिद्धान्त'** भी कहते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक सभ्यता को आरम्भ में प्रकृति व

मानव द्वारा चुनौती दी जाती है। इस चुनौती का सामना करने के लिए मनुष्य को अनुकूलन की जरूरत होती है, व्यक्ति इस चुनौती के प्रतियुत्तर में सभ्यता व संस्कृति का निर्माण करता है। इसके बाद भौगोलिक चुनौतियों की जगह पर सामाजिक चुनौतियाँ दी जाती हैं। ये चुनौतियाँ समाज के अन्दर समस्याओं के रूप में अथवा बाहरी समाजों द्वारा दी जाती हैं।

जो समाज इन चुनौतियों का सामना सफलता से कर लेता है, वह जवित रहता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह खत्म हो जाता है। इस प्रकार एक समाज निर्माण एवं विनाश व संगठन एवं विघटन के दौर से गुजरता है। सिंधु तथा नील नदी की घाटियों में ऐसा ही हुआ है। प्राकृति पर्यावरण ने वहाँ के लोगों को चुनौती दी जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने निर्माण से दिया। सिंध व मिश्र की सभ्यताएँ भी इसी प्रकार विकसित हुईं। गंगा तथा वोल्गा नदी ने भी ऐसी चुनौती दी, परन्तु इसका समुचित प्रत्युत्तर वहाँ के लोगों ने नहीं दिया था। अत: वहाँ सभ्यताएँ नहीं पनपीं। **टॉयनबी** का सिद्धान्त वैज्ञानिकता से दूर एक दार्शनिक सिद्धान्त लगता है, किन्तु **टॉयनबी स्पेंग्लर** की तुलना में ज्यादा आशावादी हैं। उन्होंने परिवर्तन की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास किया।

● सामाजिक परिवर्तन के प्रकार या प्रारूप

सभी समाज तथा सभी कालों में सामाजिक परिवर्तन एक तरह नहीं होता है। अत: हमें सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप के विषय में उसके प्रतिरूप, प्रकार अथवा प्रारूप पर विचार करना चाहिए। अर्थ की दृष्टि से तीनों शब्दों में काफी अन्तर है, पर विषय-वस्तु की दृष्टि से समानता। वे सभी एक ही तरह की विषय-वस्तु के द्योतक हैं। निम्न विवरण से इन तथ्यों की पुष्टि हो जाएगी।

सामाजिक परिवर्तन के बहुत-से प्रतिरूप देखने को मिलते हैं। कुछ विचारकों ने सर्वसम्मत, विरोध मत और एकीकृत प्रतिमानों की चर्चा की है। मकीवर तथा पेज ने सामाजिक प्रतिरूप के प्रमुख तीन स्वरूपों की चर्चा की है, जो इस प्रकार हैं—

1. सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी क्रमबद्ध तरीके से एक ही तरफ में निरंतर चलता रहता है भले ही परिवर्तन का प्रारम्भ एकाएक ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए हम विभिन्न अविष्कारों के बाद परिवर्तन के क्रमों की चर्चा कर सकते हैं। विज्ञान के तहत परिवर्तन की प्रकृति एक ही दिशा में निरंतर आगे बढ़ने की होती है, इसलिए ऐसे बदलाव को हम रेखीय परिवर्तन कहते हैं। अधिकतर उद्विकासीय समाजशास्त्री एक रेखीय सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करते हैं।

2. कुछ सामाजिक परिवर्तनों में बदलाव की प्रकृति ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाने की होती है, इसलिए इसे उतार-चढ़ाव बदलाव के नाम से भी हम जानते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय सांस्कृतिक परिवर्तन की विचार कर सकते हैं। पहले भारत के लोग आध्यात्मवाद की तरफ बढ़ रहे थे, जबकि आज वे उसके विरुद्ध भौतिकवाद की तरफ बढ़ रहे हैं। पहले का सामाजिक मूल्य 'त्याग' पर जोर देता था, जबकि आज का सामाजिक मूल्य 'भोग' तथा संचय पर जोर देता है। इस प्रतिरूप के अन्तर्गत यह अनिश्चित होता कि परिवर्तन कब और किस दिशा की ओर उन्मुख होगा।

3. परिवर्तन का तृतीय प्रतिरूप तरंगीय परिवर्तन के भी नाम से प्रसिद्ध हैं। इस परिवर्तन के तहत उतार-चढ़ावदार परिवर्तन में परिवर्तन की दिशा एक सीमा के बाद विरुद्ध दिशा की ओर उन्मुख हो जाती है। इसमें लहरों की भाँति एक के बाद दूसरा बदलाव आता है। ऐसा कहना मुश्किल होता है कि दूसरी लहर पहली लहर के विरुद्ध है। हम यह भी कहने की स्थिति में नहीं होते हैं कि दूसरा परिवर्तन पहले की तुलना में उन्नति अथवा अवनति का सूचक है। इस प्रतिरूप का सही उदाहरण है फैशन। हर समाज में नये-नये फैशन की लहरें आती रहती हैं। हर फैशन में लोगों को कुछ-न-कुछ नया परिवर्तन देखने को मिलता है। ऐसे परिवर्तनों में उत्थान, पतन व प्रगति की चर्चा फिजूल है।

● सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन के बहुत कारक हैं। कारकों की प्रमुखता देश और काल से प्रभावित होती है। जिनकी वजह से आज सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनमें से बहुत कारक प्राचीन काल में मौजूद नहीं थे। परिवर्तन के जिन कारकों की महत्ता प्राचीन और मध्य समय में रही है, आज उसकी महत्ता उतनी नहीं रह गयी है। समय के साथ परिवर्तन का स्वरूप व कारक दोनों बदलते रहते हैं। एच० एम० जॉनसन ने परिवर्तन के स्रोतों को ध्यान में रखकर परिवर्तन के सभी कारकों को प्रमुख रूप से तीन भागों में रखा है।

1. आन्तरिक कारक—सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी आन्तरिक वजहों से भी होता है। व्यवस्था का विरोध आन्तरिक विरोध से भी होता है। जब लोग किसी कारण अपनी परम्परागत व्यवस्था से खुश नहीं होते हैं तो उसमें बदलाव करने की कोशिश करते रहते हैं। आमतौर पर एक बन्द समाज में परिवर्तन का प्रमुख स्रोत अंतर्जात कारक ही रहा है। धर्म सुधार आन्दोलन से जो हिन्दू समाज में बदलाव आया है, वह अंतर्जात कारक का एक उदाहरण है।

2. बाह्य कारक—जब दो तरह की सामाजिक व्यवस्था, प्रतिमान और मूल्य एक-दूसरे से मिलते हैं तो सामाजिक परिवर्तन की स्थिति का निर्माण होता है। पश्चिमीकरण अथवा पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के द्वारा जो भारतीय समाज में बदलाव आया है, उसे इसी श्रेणी में रखा जाएगा। साधारणत: युग में बदलाव के आन्तरिक स्रोतों की तुलना में बहिर्जात कारकों की अधिकता होती है।

3. गैरसामाजिक वातावरण—सामाजिक परिवर्तन का स्रोत हमेशा सामाजिक कारण ही नहीं होता। कभी-कभी भौगोलिक अथवा भौतिक स्थितियों में बदलाव से भी सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होता है। आदिम और पुरातनकाल में जो समाज में परिवर्तन हुए हैं, उन परिवर्तनों से गैरसामाजिक कारकों की बहुत ही मुख्य भूमिका रही है।

ऐन्थनी गिडेन्स (1993) ने बदलाव के कारकों का विश्लेषण कुछ दूसरे ढंग से किया है। उन्होंने सभी कारकों को तीन भागों में विभाजित करके देखा है। उनके वर्गीकरण का आधार जॉनसन से अलग है। उन्होंने परिवर्तन के कारणों के स्रोत को न देखकर उसके स्वरूप को ध्यान में रखकर तीन भागों में बाँटा है। वे हैं—भौतिक वातावरण, राजनीतिक व्यवस्था व संस्कृति। मकीवर और पेज ने भी सामाजिक परिवर्तन के तीन ही प्रमुख कारक माने हैं, पर वह कुछ भिन्न हैं, जैसे प्रौद्योगिक, जैविक व सांस्कृतिक। गिडेन्स के द्वारा दिये गये कारकों की चर्चा निम्नलिखित हैं—

विशेष

सामाजिक परिवर्तन के तहत मुख्यत: तीन तथ्यों का अध्ययन किया जाता है—सामाजिक संरचना में परिवर्तन, संस्कृति में परिवर्तन, परिवर्तन के कारण डेविस के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की संरचना और प्रकार्यों में परिवर्तन है। जॉन्सन के विचार में मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन की कुछ प्रमुख विशेषतायें हैं—जैसे कि सामाजिक बदलाव एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है। सामुदायिक बदलाव ही वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन के विविध स्वरूप हैं, यह कभी एक रेखीय कभी बहुरेखीय, कभी समस्यामूलक, कल्याणकारी, कभी थोड़े समय के लिए कभी दीर्घकालीन होता है। सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख स्रोत खोज, आविष्कार, प्रसार तथा आन्तरिक विभेदीकरण हैं।

सामाजिक परिवर्तन के बहुत से सिद्धान्त हैं। इनमें मुख्य हैं चक्रीय सिद्धान्त, रेखीय परिवर्तन का सिद्धान्त तथा द्वन्द्व अथवा संघर्ष के सिद्धान्त। चक्रीय सिद्धान्त में मुख्यत: परेटो तथा सोरोकिन का उतार-चढ़ाव का सिद्धान्त भी सम्मिलित है। परेटो के अनुरूप समाज में मुख्य उच्च व निम्न वर्ग होते हैं, यह स्थिर नहीं होते अपितु इनमें चक्रीय गति मिलती है। इस गति से इन वर्गों में ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर निरन्तर प्रवाह होता रहता है। जो उच्च वर्ग होता है वह कालान्तर में खत्म हो जाने के कारण अपने पद प्रतिष्ठा से गिर जाता है। अर्थात् अभिजात वर्ग अपने गुणों को खो कर निम्न वर्ग में आ जाता है। दूसरी तरफ उन खाली स्थानों को

भरने के लिए निम्न वर्ग में जो बुद्धिमान, कुशल, चरित्रवान तथा योग्य लोग होते हैं, वे ऊपर चलते रहते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग की निम्न वर्ग में जाने व निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में जाने की प्रक्रिया चक्रीय ढंग से चलती रहती है। इस चक्रीय गति की वजह सामाजिक परिवर्तन होता है। चक्रीय सिद्धान्त से मिलता जुलता ही उतार-चढ़ाव का सिद्धान्त है। सोरोकिन के अनुरूप संस्कृति के स्वरूपों में उतार-चढ़ाव, सामाजिक रिश्तों में उतार-चढ़ाव, शक्ति है। इसी उतार-चढ़ाव में सभी सामाजिक घटनाओं तथा परिवर्तनों का रहस्य छिपा हुआ है। रेखीय परिवर्तन का सिद्धान्त दूसरा मुख्य सिद्धान्त है। जिसके अनुरूप सामाजिक परिवर्तन की दिशा सदैव ऊपर की ओर होती है। परिवर्तन एक सिलसिले या क्रम से विकास की तरफ एक ही दिशा में निरन्तर होता जाता है। परिवर्तन की गति तीव्र या धीरे हो सकती है परन्तु यह आगे बढ़ता हुआ ही होता है।

द्वन्द्व अथवा संघर्ष का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का प्रमुख आधार समाज में विद्यमान दो विरोधी तत्वों तथा शक्तियों के बीच होने वाला संघर्ष अथवा द्वन्द्व है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि समाज बाधा, गतिरोध अथवा संघर्ष के उद्विकासीय ढंग से सरल से उच्च तथा जटिल स्तर पर पहुँच जाता या परिवर्तित होता है। संघर्ष के परिणामस्वरूप ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन घटित होता है। इसके समर्थक कार्ल मार्क्स, कोजर, डेहरनफोर्ड, वेबलन और टायनबी हैं। मार्क्स के विचार में समाज में दो विरोधी वर्गों में संघर्ष होता है। द्वन्द्व एक विचार (वाद) तथा इसके विरोधी विचार (प्रतिवाद) के मध्य चलता है जिसके फलस्वरूप एक नया विचार (संवाद) पनपता है जो अन्ततः सामाजिक परिवर्तन की वजह बनता है। समाज में सदैव से ही दो विरोधी वर्ग शोषक और शोषित होते हैं। यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनवरत युद्ध करते रहते हैं। इस संघर्ष का खात्मा प्रत्येक बार या तो समग्र समाज के क्रांतिकारी पुनर्निमाण में अथवा संघर्षरत वर्गों की आम बर्बादी में होता है। कोज़र ने अपने सिद्धान्त संघर्ष का प्रकार्यवाद में सामाजिक संघर्ष के प्रकार्यवाद को उजागर करने की कोशिश की है। यह दर्शाता है कि सामाजिक संघर्ष के केवल विघटनात्मक परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं बल्कि सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक प्रकार्य अधिक आवश्यक होता है जिसमें सामाजिक परिवर्तन के तत्व छिपे रहते हैं। डेहरनफोर्ड का सिद्धान्त सत्ता संबंधों पर आधारित संघर्ष से जुड़ा हुआ है। जिससे सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक रूप से परिघटित होते हैं। वेबलन के अनुसार प्रोद्योगीकरण सामाजिक परिवर्तन की वजह बनते हैं। टायनबी ने संघर्ष सिद्धान्त का एक दूसरा रूप दिखा है। उनके अनुसार समाज निर्माण एवं विनाश व संगठन एवं विघटन के दौर से गुजरता है। समाज द्वारा चुनौतियों का सामना करने से परिवर्तन पैदा होते हैं। चुनौतियों के प्रत्युत्तर में सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख तीन प्रतिरूप हैं—

1. सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी क्रमबद्ध तरीके से एक ही दिशा में लगातार चलता रहता है भले ही परिवर्तन की शुरुआत एकाएक ही क्यों न हो।

2. कुछ सामाजिक परिवर्तनों की प्रकृति ऊपर से नीचे वे नीचे से ऊपर जाने की होती है, इसलिए इसे उतार-चढ़ाव परिवर्तन कहते हैं।

3. बदलाव का तृतीय प्रतिरूप तरंगीय होता है। इसके अन्तर्गत उतार चढ़ावदार बदलाव में परिवर्तन की दिशा एक सीमा के बाद विरूद्ध दिशा की ओर उन्मुख हो जाती है। इसमें लहरों की भाँति एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता है।

● सामाजिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में विधि

सर्वज्ञात है कि आद मानव ने अपने हितों की सुरक्षा के लिए समुदायों में रहना प्रारंभ किया। सामुदायिक जीवन की समस्याओं से लड़ने के लिए संभवतः समझौते के माध्यम से राज्य या सम्प्रभु व विधि का जन्म हुआ। राज्य के हाथ में विधि नामक सशक्त एवं प्रभावी उपकरण सौंपा गया जिससे समाज में शांति और सुव्यवस्था स्थापित की जा सके व लोगों को न्याय मिले। राज्य, विधि के माध्यम से लोगों (समाज) को

संचालित करने लगा। लोगों द्वारा कर्तव्यों का पालन किया जाए इसकी देखभाल के लिए विधि व्यवस्था की गई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह है कि यह सुनिश्चित करना राजा और राज्य की जिम्मेदारी थी कि लोग अपने कर्तव्य पालन में असफल न हो जायें। स्पष्ट है कि विधि रूपी उपकरण का जन्म समाज में समाज द्वारा, समाज पर नियंत्रण रखने के लिए हुआ, जिसका उपयोग राज्य तथा सम्प्रभु शक्ति द्वारा किया जाता था। प्राकृतिक विधि विचारधारा के अनुसार विधि का उद्‌भव प्राकृतिक रहा है। प्राकृतिक विधि विचारकों ने विधि को उन महान नियमों के रूप में देखा जो या तो दैवीय थे या मानवीय विवेक पर आधारित प्राकृतिक तौर पर उत्पन्न थे। सिसरो ने कहा, कि सच्ची विधि सही विवेक है, जो प्रकृति के संगत होती है, सार्वभौमिक रूप से कार्य करती है। अपरिवर्तनशील व शाश्वत होती है, यह अपने समादेशों द्वारा कर्तव्य पालन तथा प्रतिषेधों द्वारा अकृत से दूर रखती है। टॉमस अक्विनास ने मनुष्य द्वारा निर्मित विधि में विश्वास किया किन्तु इसका आधार भी प्राकृतिक विधि थी। मनुष्य द्वारा निर्मित विधि समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बदलती रही। प्राकृतिक विधि की अपरिवर्तनशीलता ने मानवीय विधि के समाज के अनुसार परिवर्तनों को बाधित नहीं किया वरन् विधि के मूल गुणों को भी बनाये रखा। विधि, सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करती रही। सामाजिक समझौते के विचारकों ने मानव के जीवन व स्वतंत्रता पर किसी मनमानी शक्ति को अस्वीकार कर दिया व संचालन की उसी शक्ति को स्वीकार किया जो कि लोक कल्याण का संरक्षण तथा संवर्धन करती थी। काष्ट ने मानवीय समुदाय को उद्देश्यों के ऐसे साम्राज्य के स्वरूप में देखा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, अन्य सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता के साथ सम्मान पाती है। स्टैमलर के अनुरूप व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्यों के सहयोग एवं समेकन में विधि की अपरिहार्यता विवक्षित है। आधुनिक प्राकृतिक विचारक जॉन रॉल्स ने मूल ढाँचे के भीतर परिवर्तन को स्वीकार किया है।

उपयोगितावाद, विधि की एक अलग विचारधारा है जो विधि के कार्यों और उद्देश्यों पर प्रकाश डालती है। बेंथम ने घोषणा की कि लोक कल्याण अथवा अच्छाई प्रत्येक विधि निर्माता का उद्देश्य होना चाहिए व सामान्य उपयोगिता प्रत्येक कारण का आधार होनी चाहिए। उपयोगिता वस्तु का वह गुण है जो बुराई को दूर रखता है और अच्छाई उपलब्ध कराता है। उपयोगिता से तात्पर्य सर्वाधिक मनुष्यों का सर्वाधिक सुख था। बेंथम के व्यक्तिगत उपयोगितावाद से हटकर इहरिंग ने सामाजिक उपयोगितावाद पर जोर दिया। उनके अनुरूप सामाजिक उपयोगितावाद का अधिक ध्यान उद्दश्यों के विरोध को दूर करना होता है। आपसी संबंधों को नियंत्रित करते हुए व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यों में संतुलन बनाना चाहिए। विधि वह माध्यम है जिससे संतुलन स्थापित करके सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। प्रत्येक विधिक व्यवस्था का लक्ष्य सामाजिक जीवन की उन शर्तों का रक्षण करना है जो किसी निश्चित समाज द्वारा, निश्चित समय में व्यक्तियों द्वारा जरूर समझी गई हैं। डिग्विट के अनुसार विधि का कार्य सामाजिक समेकता का संवर्धन है, तथा इसकी वैधता, सामाजिक अर्थव्यवस्था को रोकने व दूर करने की सामर्थ्य में निहित है। सामाजिक समेकता का मतलब है कि क्योंकि मानवीय अस्तित्व के लिए सामाजिक अन्तनिर्भरता एक अपरिहार्य तथ्य है, इसलिए सभी संस्थाओं तथा कृत्यों को लोगों के मध्य सहज तथा पूर्ण सहयोग की ओर प्रेरित होना चाहिए। सामाजिक समेकता रूपी विधि का उद्देश्य इतना ज्यादा श्रेष्ठ व लोगों की अन्तरात्मा से जुड़ा हुआ है कि यह विधि निर्माता के बल को भी सीमित कर सकता है।

बीसवीं शताब्दी में अमरीकी विधिशास्त्री रॉस्को पाउण्ड ने विधि के सामाजिक उद्देश्यों तथा कार्यों पर बल दिया। मानव की इच्छाओं व अपेक्षाओं का विधि द्वारा सर्वेक्षण, चुनाव, मूल्यांकन समेकन व संतुलन किया जाना चाहिए। पाउण्ड ने, विरोधी हितों के सामाजिक अभियंत्रीकरण के नियम में विधि को एक उच्च हस्तक्षेपकारी की भूमिका सौंपी है। सामाजिक अभियंत्रिकरण का उद्देश्य ऐसी समर्थ सामाजिक रचना का निर्माण है जो सर्वाधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि न्यूनतम तनाव अथवा विरोध के साथ करती हो। सामाजिक अभियंत्रीकरण विधि द्वारा अपनाई जाने वाली एक क्रिया है जिसमें विधि विरोधी हितों में इस प्रकार संतुलन रखा जाता है कि सर्वाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति न्यूनतम विरोध के साथ हो सके। हितों से तात्पर्य उन दावों अथवा आवश्यकताओं से है जिनके लिए, यदि समाजों को बने रहना है तो, विधि को अवश्य ही कुछ-न-कुछ

करना चाहिए। उन्होंने हितों को व्यक्तिगत, लोक अथवा सामाजिक श्रेणियों में बाँटा। व्यक्तिगत हित के उदाहरण वैयक्तिक स्वतंत्रता, आर्थिक अधिकार, लोकहित के उदाहरण राज्य व विधिक व्यक्तित्व और व्यक्तित्व हित के उदाहरण सामान्य सुरक्षा व सामान्य नैतिकता आदि हैं। पाउण्ड ने विधिक धारणाओं की भी चर्चा की जिनकी मदद से यह निर्धारित किया जा सकता था कि किन परिस्थितियों में किस हित को प्राथमिकता दी जायेगी। पाउण्ड के अनुरूप विधि एक सामाजिक दृश्यघटना है।

आधुनिक लेखकों के अनुरूप विधि, सामाजिक संसक्ति में, महत्वपूर्ण योगदान देती है। उपरोक्त के सार्वभौमिक समर्थन का मूल, विधि द्वारा न्याय प्रदत्तीकरण, विवादों को हल करना, प्रजातान्त्रिक व्यवहार, व्यवहारिक उपयोगिता व सब पर विधि का लागू होना है। वास्तव में विधि के समक्ष समता व विधि से समता के कारण विधि समाज को जोड़ने अथवा एक करने वाले बल के रूप में कार्य करती है। यह समाज के तन्तुओं को सुदृढ़ करती है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवधिकार विधि व संविधानिक विधि अपने विस्तृत व्यवहार व एकीकृत मानकों की वजह, इस दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 141 व 245 के अनुरूप न्यायपालिकीय विधि व राष्ट्रीय विधायन समस्त भारत राज्यक्षेत्र तथा व्यक्तियों पर बाध्यकारी है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि विधि व्यवहार में एकात्मक होने के साथ-साथ विवेक के अनुसार अपवादों का भी ध्यान रखती है। बहुधर्मी व बहुसंस्कृति वाले समाजों में प्रत्येक धर्म व संस्कृति को समान रक्षण व संवर्धन प्राप्त होना चाहिए। विधि इन समस्त साामजिक जरुरतों की पूर्ति करती है। उदाहरण स्वरूप भारत में वैयक्तिक विधियों, भाषा एवं धर्म में अल्पसंख्यकों के अधिकारों को न केवल विधिक मान्यता दी गई है वरन् विधि उनका संरक्षण भी करती है।

मार्क्स के विचार की विधि दमन का उपकरण है हमें विधि के गलत उपयोग के संबंध में भी चेतावनी देता है। 'प्रत्येक से क्षमता के अनुरूप तथा प्रत्येक को आवश्यकता के अनुसार' सूक्ति के द्वारा जहाँ संसाधनों के पुनर्वितरण की बात बताई गई है वहाँ भी विधि की जरुरत है और ऐसी सूक्ति को लागू करने में विधि एक सामाजिक प्रयोजनकारी उपकरण के रूप में उठता है। मार्क्स का विचार, कि यदि उपरोक्त उद्देश्य प्राप्त हो जाए तो विधि की जरूरत न रहे, काल्पनिक प्रतीत होता है।

विधि के काम तथा उद्देश्य के संदर्भ में उपरोक्त विधिशास्त्रीय विचारधाराओं के अतिरिक्त, कुछ अन्य भी मुख्य विचारधारायें हैं, जो विधि को अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करती हैं तथा विधि को प्रभावी बनाने वाले तथ्यों पर बल देती हैं। विश्लेषणवादी विचारधारा विधि को सम्प्रभु के आदेश के रूप में देखती है जिसके पीछे शास्ति है। ऐतिहासिक विचारधारा के अनुरूप विधि समुदाय के लोगों की चेतना का उत्पाद है। यथार्थवादी विचारक विधि का उद्‌भव न्यायालयों की क्रिया में देखते हैं। राज्य की शक्ति का बल, लोगों द्वारा इसकी स्वीकारिता अथवा न्यायालय की प्रक्रिया द्वारा समर्थन, विधि को तथा अधिक प्रभावी उपकरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अत: स्पष्ट है कि विधि एक सामाजिक उपकरण है व यह सामाजिक परिचालन, सामाजिक संरक्षण, सामाजिक संवर्धन, सामाजिक अभियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन आदि अनेक कार्यों को संपादित करती है।

● विधिक व्यवस्था– एक प्रयोजनकारी अनुक्रम

विधि एक व्यवस्था के अन्तर्गत काम करती है। आधुनिक काल में लगभग प्रत्येक देश में विधिक व्यवस्थायें हैं। सभी विधिक व्यवस्थाओं का आधारभूत ढाँचा लगभग एक सा ही होता है परन्तु सामाजिक विभिन्नताओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप उनका कलेवर बदलता रहता है। उदाहरण के लिए जारकर्म भारत में एक अपराध के रूप में दंडित होता है परन्तु इंग्लैण्ड में यह अपराध नहीं है। भारत में दहेज व सती जैसी प्रथाओं का विधि प्रतिषेध करती है जब कि ऐसे अपराध संसार के अन्य देशों में अस्तित्व ही नहीं रखते। विधिक व्यवस्थाओं के मूल ढाँचे में समानता पाए जाने की वजह से उनके प्रयोजन की एकात्मकता है। फ्रीडमैन के अनुरूप विधिक व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विधिक मानकों का अर्न्तसंबंधित अस्तित्व है, विधिक मानकों के निर्माण, उन्हें कार्य में लाना व निर्णीत करने की संस्थायें व उपकरण हैं व इन सभी घटकों को

एकीकृत तथा निरीक्षित करने के लिए एक संवैधानिक प्रारूप है। केल्सन ने ऐसी तार्किक तथा एकीकृत व्यवस्था को विधिक व्यवस्था की परिपक्वता परिलक्षित करने वाली व्यवस्था माना। हार्ट ने विधिक व्यवस्था को प्राथमिक व द्वितीयक नियमों के एक जैसे रूप में देखा। फुलर के मतानुसार विधिक व्यवस्था के नैतिक होने के लिए उसमें कुछ आवश्यक लक्षण होने चाहिए, जो विधि की समझ को बढ़ाये व विधि निर्माता व सामान्य व्यक्ति के बीच एक पुल का काम करें। उपरोक्त बातों का व्यवहार में समावेश करने से विधिक व्यवस्था न्याय, सुख तथा कल्याण के परिवर्धन में मददगार होगी। भारतीय विधिक व्यवस्था के शीर्ष पर संवैधानिक आदर्श एवं उद्देश्य हैं जो कि सामाजिक न्याय और कल्याण की ओर प्रेरित करते हैं। इसके अन्य सोपानों पर अनेक सारभूत एवं प्रक्रिया विधियाँ हैं जो उपरोक्त आदर्शों और उद्देश्यों का समर्थन करती हैं। समाज की परिवर्तित होती जरुरतों के अनुरूप इन विधियों में संशोधन होते रहते हैं तथा नयी विधियों का निर्माण भी होता रहता है। उदाहरण के लिए हाल में बहस चल रही है कि समलैंगिकता को अपराध के रूप में दंडित नहीं किया जाना चाहिए।

विधि के प्रमुख तीन स्रोत हैं अर्थात् विधायन, न्यायिक निर्णय तथा रूढ़ि जिनके माध्यम से सामाजिक नियंत्रण रखा जाता है व सामाजिक परिवर्तनों के विषय में व्यवस्था की जाती है। विधिक व्यवस्था में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह से लोगों की भागीदारी रहती है। इसको तकनीकी भाषा में लोकमत कहते हैं। लोकमत के समर्थन के बिना सामाजिक परिवर्तन में विधि की भूमिका प्रभावहीन ही रहती है।

अतएव स्पष्ट है कि विधि का उपकरण एक पूरी सुदृढ़ व्यवस्था के अन्तर्गत काम करता है जिसमें संविधान, सारभूत तथा प्रक्रिया विधि, न्यायिक निर्णय, रूढ़ियाँ, लोकमत, मानको का प्रवर्तन, विधायिका, न्यायपालिका, न्यायाधीश, विधायक, अधिकारी अपनी महत्वपूर्ण भूमिकायें निभाते हैं।

● सामाजिक परिवर्तन के कारक एवं विधि

परिवर्तन प्रकृति का मूल नियम है। जो नया है वह प्राचीन का स्थान सतत रूप से ग्रहण करता जाता है। समाज के विषय में परिवर्तन कई प्रकार से होता है। सामाजिक परिवर्तन चेतन भी होता है व अचेतन भी। चेतन सामाजिक परिवर्तन योजनाबद्ध ढंग से कुछ उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किया जाता है। परन्तु परिवर्तनों को समाज द्वारा आन्तरिक तौर पर स्वीकारना बहुत जरुरी होता है। विधि आदि माध्यमों से नवीन सामाजिक परिवर्तन के संबंध में व्यवहार का बाहरी प्रवर्तन तो कराया जा सकता है परन्तु वास्तविक परिवर्तन आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के व्यवहार के समागम से ही संभव है। सामाजिक परिवर्तन अपने इतिहास का आईना भी होता है। नवीन को प्राचीन वस्तुस्थिति से पूर्णरूप से विलग करना संभव नहीं हाता है। नवीन परिवर्तनों की आधार भूमि, प्राचीन परिवर्तन ही होते हैं तथा यह क्रम चलता रहता है हीगल ने बदलाव को, विरोधों को सुलझाने की सांसारिक यथार्थता माना है। विधि वह माध्यम है जिस पर, योजनाबद्ध व सुव्यवस्थित प्रकार से परिवर्तन लाने हेतु निर्भर किया जा सकता है। विधि रूपी परिवर्तन का माध्यम, संबंधों की पुनर्रचना की अपनी क्षमता और प्रभावी संस्थागत ढाँचे की वजह से सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं जैसे शैक्षिक, प्रौद्योगिकीय, जनसंख्याकिक, वैचारिक, आर्थिक नीतियाँ व राजनीतिक जीवन में परिवर्तन, विधिक नियमों व संस्थाओं में परिवर्तन, युद्ध, विद्रोह, उपनिवेशवाद, लोक गतिविधियाँ तथा जन आन्दोलन आदि।

शहरीकरण, पुरुष महिला जनसंख्या के अनुपात में अंतर व जीवन की आवश्यकताओं के अधिक सुलभ होने का कारण जनसंख्यांकिक है। प्रौद्योगिकीय कारक ही श्रमसाध्य कार्यों व यातायात में सुगमता, के लिए उत्तरदायी हैं। कम्प्यूटर विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी की वजह से सामाजिक जीवन में अति महत्वपूर्ण रूपान्तरण हुआ है। पर्यावरण प्रदूषण, सरोगेट माँ, इन्टरनेट, ई-वाणिज्य व साइबर अपराधों की वजह से विधि में दोषारोपण, दायित्व तथा उपचारों के नए प्रतिमान गढ़ने पड़ रहे हैं। सामान्य नीति यही रही है कि विधि परिवर्तनों का पालन करे, उनके आगे न चले। इससे पहले कि विधि नई जरूरतों के अनुरूप परिवर्तित हो पुरानी विधि और नई परिस्थिति में अस्थायी टकराव रहता है। संक्रमण काल में पुरानी विधि से

नवीन समस्याओं को निपटाने की कोशिश किया जाता है जो बहुत कारगर नहीं होता। परन्तु शनैः शनैः सामाजिक परिवर्तन को विधि द्वारा व्यवस्थित करने के लिए सार विधि तथा प्रक्रिया विधि में किए जाने वाले संशोधन, परिदृश्य बदल देते हैं।

● विधि एवं सामाजिक न्याय का संबंध

ऐसे सामाजिक परिवर्तन जो समाज के कल्याण के लिए हों, ऐच्छिक होते हैं। किन्तु अनौच्छिक सामाजिक बदलाव जिनका परिणाम शोषण, हानिकर स्वास्थ्य, मानवाधिकार भंग व अनैतिकता होता है, वे स्वीकारणीय नहीं होते हैं। साथ ही सभ्य विधिक व्यवस्था भी उनका समर्थन नहीं करती। चूँकि विधि का लक्ष्य न्याय होता है अतः अन्यायी और अयुक्तियुक्तक सामाजिक परिवर्तनों का विधि सदा विरोध तथा शमन करती है। उदाहरण स्वरूप समाज में बढ़े माता-पिता के प्रति जिम्मेदारी का पालन न करने की प्रवृत्ति आज इतनी अधिक विस्तृत हो गई है कि लोग उन्हें वृद्धाश्रम छोड़ आते हैं। समाज में यह परिवर्तन अतिशय भौतिकवाद व एकल परिवारों की ओर झुकाव के कारण हुआ है। इसका विरोध तथा शमन करने हेतु लोगों पर विधिक दायित्व लगाए गए हैं। सामाजिक परिवर्तन के विचार में ही मूल्य अभिमुखता निहित है। मतलब है कि सामाजिक परिवर्तन मूल्य रहित नहीं होना चाहिए। ए० पी० जे० अब्दुल कलाम के अनुरूप परिवर्तन की प्रक्रिया राष्ट्रीय भविष्य, लोगों की संपन्नता और सामाजिक सुख की ओर निर्देशित होनी चाहिए। आर्थिक सुधारों के संदर्भ में अमर्त्य सेन कहते हैं कि आधारभूत मुद्दा लोगों को सामाजिक अवसरों को उपलब्ध कराने का है। कहा जा सकता है परिवर्तन की प्रक्रिया न तो तटस्थ होती है तथा न यांत्रिक, यह इच्छित उद्देश्य से संबंधित होती है।

वास्तव में विधि तथा सामाजिक न्याय का संबंध साध्य व साधन का होता है। प्राकृतिक विधि विचारक आरम्भ से ही इस तथ्य पर बल देते रहे हैं। अरस्तू के अनुसार संवैधानिक सरकार को विधि के माध्यम से वितरणात्मक न्याय प्रदान करना चाहिए जिनसे कल्याण हो। विधिक व्यवस्था का जन्म ही समाज में व्यवस्था स्थापित करने व न्याय प्रदान करने के लिए हुआ है। इसी कारण विधि को एक उद्देश्यात्मक अनुक्रम के रूप में जाना जाता है। जॉन रॉल्स न्याय को विधिक व्यवस्था का केन्द्र मानते हैं। उनके अनुरूप समानता के नियम को तभी अनदेखा किया जा सकता है जब समाज के सबसे अधिक दबे कुचले व्यक्ति को कोई लाभ हो रहा हो। रोजर कोटरेल के अनुसार न्याय, सामाजिक संबंधों को संतुलन में रखने का एक दृष्टिकोण है। न्याय, सामाजिक एकजुटता का मुख्य पक्ष है।

न्याय एक वर्ग है जब कि सामाजिक न्याय इसकी प्रजाति। विधि, सामाजिक न्याय के माध्यम से गरीबों, निर्बलों, दलितों और जनजातियों की पीड़ाओं को कम करती है और समाज में समान गरिमा प्रदान करती है। भारतीय संदर्भों में विचारकों ने सामाजिक न्याय को अन्तर्वर्गीय संबंधों तथा सामाजिक अवसरों, की उपलब्धता में देखा है। निर्बल की शोषण से सुरक्षा ही न्याय है। सामाजिक न्याय का उद्देश्य आर्थिक जीवन में असन्तुलन को दूर करना है।

विधि भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं को दूर करने का भरपूर प्रयास कर रही है। भारतीय समाज में गरीब, निर्बल, दलित, जनजातियों तथा स्त्रियों की दशा विशेष रूप से शोचनीय रही है। भारत में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद विधि द्वारा उपरोक्त वर्गों की दशा सुधार के लिए सैकड़ों विधियाँ बनाई गई हैं। कुछ स्तर तक इन विधियों ने अपने उद्देश्य को पूरा भी किया है। भारतीय समाज में विधि ने सामाजिक न्याय का लक्ष्य सामने रख कर उपरोक्त वर्गों की निम्न सामाजिक दशा में गुणात्मक बदलाव किए हैं। इस प्रकार के बदलाव भारतीय समाज में सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं।

● भारत में विधि द्वारा सामाजिक अभियन्त्रीकरण

भारत में विभिन्न संघर्षरत हितों के मध्य संतुलन कायम करने के लिए विधि द्वारा सामाजिक अभियंत्रीकरण का सिद्धान्त बहुत उपयोगी है। भारत का संविधान स्वयं महान समझौतावादी दस्तावेज है जिसमें

विभिन्न परस्पर-विरोधी हितों के मध्य सामंजस्य का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए—प्रथम, अनुच्छेद 19(1) में एक तरफ नागरिकों की विभिन्न स्वतन्त्रताओं का वर्णन किया गया है तथा दूसरी तरफ इन स्वतन्त्रताओं पर अनुच्छेद 19(2) से 19(6) तक के प्रावधानों में बताए आधारों पर युक्तियुक्त निर्बन्धन की वयवस्था की गयी है। युक्तियुक्त शब्द का उपयोग स्वयं में इस बात का द्योतक है कि नागरिकों की स्वतन्त्रताओं व निर्बन्धनों में अन्तर्निहित प्रयोजनों के बीच संतुलन बनाया जायेगा। **इण्डियन** एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (मुम्बई) प्रा० लि० बनाम भारत संघ (1985) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने साफ किया कि मूल अधिकारों पर लगाए गये निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता पर विचार करते समय न्यायालय संबंधित अधिकार की प्रकृति व निर्बन्धन के प्रयोजन, अधिरोपण के अनुपात और प्रासंगिकता आदि पर सम्यक् रूप से विचार करेगा। इसी तरह का विचार प्रमुख न्यायाधिपति पतंजलि शास्त्री ने मद्रास राज्य बनाम बी० जी० राव (1952) के मामले में व्यक्त किया था। द्वितीय, संविधान में एक तरफ वितरणात्मक न्याय को समानता के अधिकार के माध्यम से निश्चित करने के लिए विधि के समक्ष समता प्रदान की गयी है और धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग व जन्मस्थान के नाम पर विभेदीकरण को निषिद्ध किया गया है तो दूसरी ओर सामाजिक न्याय की संकल्पना को प्रभावकारी रूप देने के लिए समाज के शोषित वर्गों तथा सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए प्रतिकारात्मक न्याय निश्चित करने की व्यवस्था की गयी है। आरक्षण प्रतिकारात्मक न्याय प्रदान करने का प्रमुख साधन माना गया है। संरक्षात्मक विभेदीकरण या प्रतिकारात्मक न्याय प्रदान करने में दो परस्पर विपरीत हित अन्तर्निहित हैं—प्रथम, समाज के पिछड़े वर्गों के उन्नयन की अपेक्षा व दूसरा, समाज में योग्यता व दक्षता का कायम रखना। स्वयं संविधान के अनुच्छेद 335 में इन दो हितों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 335 में उपबन्धित किया गया है कि "संघ अथवा किसी राज्य के कार्यकलापों से संबंधित सेवाओं व पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के सदस्यों के दावों का प्रशासन की दक्षता बनाये रखने की संगति के अनुरूप ध्यान रखा जायगा।" संविधान के अनुच्छेद 15(4) व 16(4) में पिछड़े वर्गों के लिए विशेष उपबन्धों तथा सरकारी सेवाओं में आरक्षण का प्राविधान किया गया है। भारत के उच्चतम न्यायालय ने एम० आर० बालाजी बनाम मैसूर राज्य (1963) के केस में आरक्षण के माध्यम से प्रतिकारात्मक न्याय सुनिश्चित करने में दो साफ हितों की पहचान कर समान स्तर पर मूल्यांकित करने की कोशिश की। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि समाज के पिछड़े वर्गों का उन्नयन कर राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करना स्वयं में सामाजिक हित है। इसी तरह सामाजिक हित की दूसरी अपेक्षा है कि समाज में योग्यता व दक्षता रखी जाय। दोनों हितों में सामंजस्य तथा संतुलन के दृष्टिकोण से उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि 50 प्रतिशत तक स्थान आरक्षण के माध्यम से भरे जा सकते हैं व कम-से-कम 50 प्रतिशत स्थान योग्यता की श्रेणी अथवा मेरिट पूल के लिए खुली प्रतियोगिता द्वारा भरे जाने के लिए छोड़ दिये जाने चाहिए। उच्चतम न्यायालय की नौ न्यायाधीशों की पीठ ने कुछ स्पष्टीकरण के साथ 50% की आरक्षण स्तर के संतुलनकारी फार्मूले को अपने इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ (1992) के नवीनतम निर्णन में फिर से स्वीकार किया है। *तृतीय,* अल्पसंख्यक वर्गों में सांस्कृतिक व शैक्षिक अधिकारों को विशिष्ट संरक्षण दिया गया है। इस संरक्षण में दो तरह के परस्पर-विरोधी लाभ उत्पन्न होते हैं। *प्रथम,* अल्पसंख्यक वर्गों को अपने चयन की शैक्षिक संस्था की स्थापना तथा व्यवस्था या प्रशासन का पूरा व अबाधित अधिकार और *द्वितीय,* न्यूनतम मानदण्डों की सामाजिक अपेक्षा। न्यायालय ने यह माना है कि अल्पसंख्यकों के शैक्षिक अधिकारों को उत्साहित करने में स्वयं सामाजिक हित निहित है कि उस वर्ग के व्यक्तियों अपने को राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग न करें। उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 30(1) में दिये अल्पसंख्यकों के अधिकारों को आत्यन्तिक अथवा पूर्ण अधिकार मानने से इंकार कर दिया है। किन्तु यह माना कि उस अधिकर का विनियमन शैक्षिक संस्था के हित में होना चाहिए। सिद्धराज भाई तथा गुजरात राज्य (1963) में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि शिक्षा का कार्य क्षमता, अनुशासन, स्वास्थ्य, नैतिकता, शान्ति व्यवस्था के हित में विनियमित किया जाता है क्योंकि इस तरह का विनियमन अल्पसंख्यकों के शैक्षिक अधिकार पर निर्बन्धन नहीं है अपितु संस्था के उचित संचालन में सहायक है। न्यायाधिपति शाह ने विनियमनों की दो कसौटियाँ सुनिश्चित कीं—1.

विनियमन युक्तियुक्त होना चाहिए तथा 2. यह संस्था की शैक्षिक प्रकृति से संबंधित व संस्था को शिक्षा का प्राधिकारी वाहक बनाने में मददगार होना चाहिए। केरल राज्य बनाम मदर प्राविशियल (1970) के मामले में मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने साफ किया कि अल्पसंख्यकों के व्यवस्था संबंधी मूल अधिकार पर सामान्य सामुदायिक हित के तहत भी विनियमन नहीं किया जा सकता है। सिद्धराज भाई के मामले में निर्धारित कसौटी को नौ न्यायाधीशों की पीठ ने सेन्ट जेवियर कॉलेज बनाम गुजरात (1974) के मामले में कुछ व्यक्तिगत विभिन्नता के साथ मूलत: स्वीकार किया कि विनियमन अल्पसंख्यक संस्था को शिक्षा का उच्च वाहक बनाने में मददगार होना चाहिए। लिल्लीकुरियन बनाम लैविना (1979) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने साफ किया कि अल्पसंख्यक अधिकारों के उपयोग में हस्तक्षेप अल्पसंख्यकों के हित में किया जाना चाहिए। यहाँ तक कि सामान्य लोकहित में भी हस्तक्षेप को अनुचित माना जा सकता है। उच्चतम न्यायालय के विभिन्न निर्णय इस मत के द्योतक हैं कि व्यक्तिगत अल्पसंख्यक हितों व सामान्य लोकहितों में सामंजस्य बराबरी के स्तर पर हितों के मूल्यांकन द्वारा किया जाना चाहिए। अल्पसंख्यक हितों को लोकहित के स्तर पर बदलने में न्यायालय ने पाया कि अल्पसंख्यक हितों के ज्यादा तथा अबाधित संरक्षण में सामाजिक हित संरक्षित है। परन्तु न्यायालय इस मत से वाकिफ रहा है कि अल्पसंख्यकों के अधिकार आत्यन्तिक तथा पूर्ण नहीं हैं। जहाँ वास्तव में दो परस्पर विरोधी हितों में संघर्ष पैदा हुआ है वहाँ न्यायालय ने प्रभावकारी ढंग से संतुलन कायम करने का प्रयास किया है। उच्चतम न्यायालय से *सेन्ट स्टीफेन कालेज, दिल्ली* के मामले (1992) में सुनाया गया निग्रय साफ उदाहरण है। इस मामले में मुख्य प्रश्न यह था कि अल्पसंख्यक संस्थाएँ किस सीमा तक अपने वर्ग के बच्चों के लिए अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण कर सकती है। न्यायालय को दो साफ हितों के संघर्ष में संतुलन बनाए रखना था—*प्रथम,* अनुच्छेद 30(1) प्रदत्त शिक्षण संस्था की स्थापना और व्यवस्था संबंधी अल्पसंख्यकों का हित व *द्वितीय,* अनुच्छेद 29(2) के अन्तर्गत राज्य द्वारा पोषित तथा राज्य कोष से मदद पाने वाले किसी शिक्षा संस्था में किसी भी व्यक्ति को धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित न किये जाने का हित। उच्चतम न्यायालय ने इन दो प्रावधानों में अन्तर्निहित हितों के मध्य संतुलन कायम करते हुए निर्णय दिया कि अल्पसंख्यक वर्ग अपनी शिक्षा संस्थाओं में अपने वर्ग के बच्चों के लिए 50% तक (इससे अधिक नहीं) स्थानों का आरक्षण कर सकते हैं और न्यूनतम 50% सामान्य वर्गों के लिए खुले रखने चाहिए। तृतीय, न्यायालय ने यह भी निर्णय में शामिल किया कि अल्पसंख्यकों के अनियंत्रित प्रवेश की नीति के कारण धार्मिक उन्मादकता व पृथकतावाद को बढ़ावा मिल सकता है। अत: इस निर्णय से स्पष्ट है कि न्यायालय ने अल्पसंख्यक हितों और विस्तृत बहुसंख्यक हितों अथवा राष्ट्रीय हितों के बीच बिना किसी को नुकसान पहुँचाये संतुलित करने की कोशिश की है। *चतुर्थ,* उच्चतम न्यायालय ने अलगाववादी प्रवृत्तियों को दबाना मुख्य राष्ट्रीय हित मानकर उसे लगाया है। आर० आर० डलवाई बनाम भारत संघ (1977) के केस में उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडु सरकार के हिन्दी विरोधी आन्दोलनकर्ताओं के लिए जारी पेंशन व्यवस्था को राष्ट्र विरोधी, प्रजातन्त्र विरुद्ध व अलगाववादी प्रकृति के कारण अवैध घोषित कर दिया और अनुच्छेद 351 में केन्द्र द्वारा अपेक्षित हिन्दी प्रसार के दायित्व को माना है।

पंचम, उच्चतम न्यायालय ने नागरिकों के व्यवसाय अथवा व्यापार संबंधी मूल अधिकारों तथा न्यूनतम सामाजिक संरक्षा मानदण्डों के बीच संतुलन कायम करते हुए न्यूनतम मजदूरी की अदायगी, वायु प्रदूषण से मुक्त वातावरण को निश्चित करने के दायित्वों को लागू किया है।

● सामाजिक परिवर्तन के सैद्धान्तिक प्रतिमानों का विधिक क्षेत्र में विनियोग

विधि तथा सामाजिक परिवर्तन में परस्पर सहयोगात्मक संबंध है। विधि को सामाजिक परिवर्तन का आरम्भ करना चाहिए या विधि को सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करना चाहिए इस संबंध में भिन्न-भिन्न विचार हैं। सामाजिक परिवर्तन के अनेक प्रतिमान हैं कभी ये रेखीय, कभी चक्रीय तो कभी तरंगीय रूपों में दिखते हैं। विस्तृत तौर पर सामाजिक परिवर्तन के तीन सैद्धान्तिक प्रतिमान माने जाते हैं जिनकी चर्चा यहाँ की गई है। प्रथम सर्वसम्मत, द्वितीय विरोध मत और एकीकृत प्रतिमान। इन प्रतिमानों का अत्यधिक वैज्ञानिक

वर्गीकरण संभव नहीं है। कई बार सामाजिक सोच तथा सामाजिक परिवर्तन के बल, तीव्रता, गति व विशालता के आधार पर निर्भर होने के कारण प्रतिमान उपरोक्त मिलजुल भी जाते हैं।

संघर्ष प्रतिमान के अनुरूप विधि की भूमिका, आमूलचूल परिवर्तन को हस्तक्षेप करके प्रवर्तित किए जाने की होनी चाहिए। या राज्य को संघर्षकारी स्थिति में जो उचित हो उस पर अटल रहते हुए नीतियाँ बनानी चाहिए तथा विधि के माध्यम से परिवर्तन की दिशा तय करनी चाहिए। इस विषय में विधि अग्रणी भूमिका निभाती है या संघर्ष को समर्थन देती है जिससे परिवर्तन ज्यादातर निश्चित हो जाता है। जैसे भारतीय समाज में स्त्रियों एवं दलितों के लिए कानून बनाए गए हैं। परन्तु जन समाज परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होता है और विधि में बदलाव लाने के लिए आरोपित कर दी जाती है, तो यह बहुत अधिक प्रभावी नहीं रहती। किन्तु संघर्ष के साथ-साथ विधि के समर्थन के कारण लोगों के व्यवहार में बदलाव दृष्टिगोचर होने लगता है। सर्वसम्मत प्रतिमान की दृष्टि से विधि को समाज में शनैः शनैः होने वाले परिवर्तनों का सूक्ष्म अध्ययन तथा विश्लेषण करने के बाद, उसका पालन करना चाहिए। तात्पर्य है कि विधि को सामाजिक परिवर्तन के पीछे चलना चाहिए। जब सैविनी ने यह मत व्यक्त किया कि विधि में लोकात्मा परिलक्षित होती है तो इसका मतलब था कि समाज में लोगों की इच्छा के अनुरूप ही विधि पाई जाती है। विधि धीरे-धीरे समाज के विकास एवं परिवर्तनों के अनुरूप विकसित तथा परिवर्तित होती जाती है। विधि सामाजिक आकांक्षाओं एवं योजनाओं का आईना होती है। एहश्लिच के अनुसार सामाजिक विकास का केन्द्र न तो विधायन में है और न न्यायिक निर्णय में वरन् यह स्वयं समाज में शामिल होता है। उन्होंने समाज में जन्मी तथा वहीं पोषित एवं समृद्ध होने वाली विधि को जीवित विधि कहा। जब सामाजिक परिवर्तन की इच्छा तथा संकल्प समाज के गर्भ से उत्पन्न होता है तो विधि प्रभावी भी होती है और सामाजिक संघर्ष आदि न होने की वजह सामाजिक ऊर्जा नष्ट होने से बच जाती है। किन्तु इस प्रक्रिया की कमी है कि एक तो लोकमत बनना दुष्कर होता है तथा दूसरे इसमें बहुत अधिक समय नष्ट होता है। सर्वसम्मत प्रतिमान विधि की भूमिका को दूसरी बना देता है।

हस्तक्षेपकारी प्रतिमान के अनुरूप विधि की भूमिका सक्रिय पथप्रदर्शक की होती है। मार्क्सवादी, समाजवादी तथा कल्याणकारी प्रजातांत्रिक विचारधारा, राज्य की शक्ति के प्रयोग द्वारा सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार करती है। जरुरी है कि राज्य का उद्देश्य लोकहित एवं सामाजिक न्याय हो। विधिशास्त्र की विश्लेषणवादी विचारधारा के समर्थक आस्टिन, बेंथम, केल्सन आदि विधि की जरुरी तथा प्रभावी भूमिका को स्वीकार करते हैं। विधि द्वारा जनित सामाजिक बदलाव सामाजिक मूल्यों से समृद्ध एवं कल्याणकारी होना चाहिए जिससे उसकी सामाजिक स्वीकारिता सहज तथा सरल हो।

एकीकृत प्रतिमान समाज में सहमति, विरोध व सहसंवाद के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की वकालत करता है। इस प्रतिमान के अनुरूप विधि की भूमिका का प्रारंभ तब होता है जब परिवर्तन के लिए मूलभूत भूमि तैयार हो चुकी होती है। परिवर्तन संक्रमणकालीन स्थिति में होता है। मतलब है कि लोग सामाजिक परिवर्तन की ओर अभिमुख हो चुके होते हैं। और विधि द्वरा बदलाव को स्वीकार कर उसे निश्चित और अधिकारिक बनाना होता है। विधि के समर्थन के बाद सामाजिक परिवर्तन की दिशा तय हो जाती है।

रास्को पाउण्ड ने विधि को सामाजिक अभियंत्रण का उपकरण मानकर विभिन्न हितों को संतुलित करने एवं समाज में योजनाबद्ध तथा ऐच्छिक परिवर्तनों को लाने में समर्थ बताया है। ऐसा संभव है कि शुरु में विरोध हो परन्तु परिवर्तन के व्यवहारिक विनियोग व लाभों की व्याख्या कर उसे स्वीकारिता दिलाई जा सकती है। जब लोकमत सामाजिक परिवर्तन का समर्थन करता है तो भविष्य में सुधारों को किए जाने की भी आधारभूमि तैयार हो जाती है। समाजसुधार तथा आर्थिक सुधारों से संबंधित विधायन, डायसी के विचार कि विधि, विधि-रचना मत रचित करती है, को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं।

सामाजिक बदलाव में विधि की भूमिका के संबंध में भारतीय विचारकों में भी मतैक्य नहीं है। कौटिल्य का विचार संघर्ष व हस्तक्षेपकारी प्रतिमान से संगत हैं। उनके अनुसार उद्देश्य, माध्यम को न्यायानुमत सिद्ध कर देते हैं। उन्होंने ऐसी सूखा राहत नीति का समर्थन किया जिसमें धनिकों से लेकर निर्धन भूखों का पेट भरा जा

सके। उन्होंने कल्याणकारी राज्य की स्थापना पर जोर देते हुए राजा पर कर्तव्य अधिरोपित किया कि वह अनाथों, वृद्धों, अपंगों की मदद करें। बारहवीं शताब्दी में विजनेश्वर ने सामाजिक सुधार के लिए सर्वसम्मत प्रतिमान का साथ दिया। उनके अनुसार सामाजिक सुधारों की प्रस्तुति के पहले सामाजिक सहमति का इंतजार करना चाहिए। गाँधी जी ने सुधारवादी विधि की सक्रिय भूमिका को मानत किया परन्तु सुधार के बनने और लागू होने के चरण में लोगों का सहयोग जरुरी माना। डॉ० अम्बेडकर ने विधि की संघर्ष में प्रायोगिक तथा हस्तक्षेपकारी भूमिका पर बल दिया। उनके द्वारा बताए गए सामाजिक सुधार के उपायों में विद्यमान हैं—रोजगार में आरक्षण, धर्म परिवर्तन, व्यक्तिगत संपत्ति का राष्ट्रीयकरण। उनके विचार में विधि के उपकरण द्वारा विकास के फलों को प्राप्त किया जा सकता है। जवाहरलाल नेहरू ने, विभिन्न सामाजिक प्रतिमानों सकारात्मक विशेषताओं के एकीकरण वाले एकीकृत प्रतिमान को, अधिक उपयुक्त माना। पारिवारिक सुधार, कृषि सुधार व दहेज प्रतिषेध अधिनियम आदि सामाजिक विधियों के विषय में उनका विचार था कि विधायन गहरी जड़ों वाली सामाजिक समस्याओं का कोई समाधान नहीं है। इन समस्याओं के समाधान के लिए अन्य उपाय भी किए जाने चाहिए परन्तु विधायन आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके पीछे विधिक शास्ति होती है जो लोकमत को एक आकार प्रदान करती है।

निवारक, प्रतिषेधी तथा सुधारवादी विधायन सामाजिक नैतिकता को प्रबल समर्थन दे सकता है परन्तु यह भी जरुरी है कि लोकमत विधायन के पक्ष में हो या परिस्थितियाँ ऐसी हों कि लोकमत जल्द ही आवश्यक आकार ले सके। उपरोक्त परिस्थितियों में ही विधि, सामाजिक परिवर्तन में मददगार हो सकती है। समग्रता में सामाजिक परिवर्तन के लिए विधि तथा समाज दोनों की ही सक्रिय भूमिका आवश्यक है।

● विधि एवं सामाजिक परिवर्तन की अन्तर्क्रिया

विधि समाज का उत्पाद है व सामाजिक परिवर्तन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। विधि एवं सामाजिक बदलाव का संबंध परस्पर एवं बहुआयामी है। जस्टिस कोका सुब्बारॉव के अनुसार विधि तथा सामाजिक परिवर्तन के मुख्यत: निम्नलिखित संबंध संभव हैं।

सामाजिक परिवर्तन विधि से स्वतंत्र होता है।

यह एक प्रकार से संबंध की अनुपस्थिति है। मतलब है कि कुछ प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों में विधि का योगदान शून्य होता है। किन्तु विधि से विलगाव परिवर्तन के शुरुआत के चरणों में ही दृष्टिगोचर होता है। यदि परिवर्तन को स्थायित्व प्रदान करना है तो उपरान्त के चरणों में विधि का समर्थन आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप पहले मनुष्य अपनी कार्यों क्रियाओं में अत्यधिक स्वच्छन्द था। शनै: शनै: समुदाय, विवाह तथा परिवार जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ। भारत में वैवाहिक संबंधों में पवित्रता और अनुशासन बनाये रखने के लिए सगोत्र व सपिण्ड विवाहों को नकारा जाने लगा। भारतीय समाज में सपिण्ड और सगोत्र विवाहों को मान्यता मिलनी पूर्णरूप से बन्द हो गई। यह परिवर्तन पूर्णतया सामाजिक था। कुछ दशक पूर्व ही हिन्दू विवाह अधिनियम में इस सामाजिक नियम को विधिक मान्यता दी गई। स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन विधि से स्वतंत्र रह कर भी हो सकता है।

सामाजिक परिवर्तन विधि के विरुद्ध भी होता है

समाज में अनेक बार विधि के विरुद्ध भी सामाजिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन इतना अधिक प्रबल होता है कि विधि का पुनर्निमाण जरुरी हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 के प्राविधान के अनुरूप समलैंगिकता एक अपराध है। परन्तु भारतीय समाज में भी दुनिया के अन्य समाजों के समान समलैंगिकों की संख्या तथा इस प्रकार के व्यवहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह सामाजिक परिवर्तन इतना अधिक है कि लोग इस प्रकार के व्यवहार की लोक अभिव्यक्ति कर रहे हैं तथा दबाव डाल रहे हैं कि समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से निकाल दिया जाए। समलैंगिकता को एक सामान्य मान लिया जाए। वस्तुस्थिति देखते हुए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 के संशोधन पर मत विमर्श हो रहा है।

विधि सामाजिक परिवर्तन को सुसाध्य बनाती है

विधि के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन को साधना सरल हो जाता है। विधि की प्रवर्तनकारिता, प्राधिकारिता तथा इसके नियमों के अपालन में दण्ड का भय आदि गुण परिवर्तन की निश्चितता, प्रसार और दिशा तय करने में मददगार होते हैं। विधिक व्यवस्था ऐसा वातावरण बना देती है कि परिवर्तन संभव हो जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज में मुख्यत: हिन्दुओं में विवाह विच्छेद का प्रचलन नहीं रहा है। सदियों तक लोग अनैच्छिक वैवाहिक बंधनों में बंधे रहे तथा उनका शोषण होता रहा। परन्तु विवाह विच्छेद संबंधी विधि के प्रवर्तन में आने के बाद हिन्दुओं में एक युगान्तकारी परिवर्तन आया। अब विवाह के सामाजिक बंधन को बनाये रखने के लिए कोई भी मनुष्य विवश नहीं है। आज के युवा भारतीय ऐसे वैवाहिक बंधनों को घसीटने के विरूद्ध हैं। जिनका भविष्य न हो। विधि ने इस तरह के सामाजिक परिवर्तन को सुसाध्य बनाया है।

विधि सामाजिक परिवर्तन कारित करती है

इस प्रक्रिया के तहत विधि परिवर्तन का नेतृत्व करती है, समादेशित करती है तथा ऐसी नीतियाँ बनाती है जिससे समाज परिवर्तन के लिए तैयार हो जाए। विधि हस्तक्षेप कर के समाज में किसी परिवर्तन का सूत्रपात करने में सक्षम है। किन्तु बाद में धीरे-धीरे समाज भी उस परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। विधि से कारित परिवर्तन अधिकतर वाह्य होता है। समाज, आन्तरिक रूप से बदलाव को समय के साथ ही स्वीकार कर पाता है इसी कारण यकायक परिवर्तनकारी विधि बहुत ज्यादा प्रभावी नहीं होती है। परन्तु यदि उसमें समाज की भलाई निहित है तो लोग उसे जरुर ही स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणस्वरूप बालविवाह निषेध अधिनियम तथा सती प्रतिषेध अधिनियम। भारतीय समाज में आज भी अपवाद रूप में बाल विवाह अथवा सती के उदाहरण मिल जायेंगे किन्तु ऐसी प्रथाओं का सामान्य व्यवहार लगभग समाप्त हो चुका है। समाज ने इन परिवर्तनों को सहज ही स्वीकार नही किया है। किन्तु उपरोक्त विधि लोक हित में थी अतएव धीरे-धीरे लोकमत पक्ष में बन गया तथा सामाजिक परिवर्तन संभव हो सका।

सामाजिक परिवर्तन और विधि मिल कर कार्य करते हैं

इस संबंध के तहत विधि एवं सामाजिक परिवर्तन परस्पर प्रवर्तनीय होते हैं व समेकित जोड़े के रूप में कार्य करते हैं। सामाजिक मानकों में परिवर्तन लाने के लिए दोनों ही मिल-जुल कर कोशिश करते हैं। उदाहरणस्वरूप जब भारतीय समाज में अन्तर्जातीय व अन्तर्धार्मिक विवाहों का प्रारंभ हुआ तो इन्हें अत्यधिक हेय दृष्टि से देखा गया किन्तु इस प्रकार के विवाह विधिक व्यवस्था ने न केवल वैध ठहराए वरन् उन्हें विधि बना कर प्रोत्साहित भी किया। इसकी वजह भारतीय समाज में व्याप्त असमानता, छुआछूत व धार्मिक कटुता को दूर कर लोगों की सहनशीलता को बढ़ाना था। आज इस प्रकार के विवाहों को न केवल विधिक मान्यता प्राप्त है बल्कि समाज भी इनको स्वीकार रहा है।

विधि शास्त्री राजीव धवन ने नेहरु के विचारों को इस प्रकार बताया जाता है। विधि किसी रहस्य की तरह अद्‌भुत नहीं होती है वरन् विधियिका का सोचा समझा ऐच्छिक चुनाव होता है। प्रजातान्त्रिक विचार विमर्श तथा सामाजिक न्याय के अनुरूप होने के कारण विधि को वैधता मिलती है। विधि के नियम और जीवन के नियमों को एक साथ चलना चाहिए तथा सामाजिक आचरण विधि के अनुसार होना चाहिए। सामाजिक रूपान्तरण के लिए विधि द्वारा उद्‌घोषणा ही पर्याप्त नहीं है बल्कि शक्तिसम्मत प्रशासन से योजना बना कर, फुसलाकर, धमकाकर एवं दंडित कर के परिवर्तन का अनुपालन जरुरी है।

भारत में सामाजिक रूपान्तरण के लिए भारतीय संविधान संकल्पबद्ध है। संविधान इस हेतु राज्य तथा इसके तीनों अंगों अर्थात् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका को रेखांकित करता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्व सामाजिक परिवर्तन के दिग्दर्शक तथा आधारभूत तत्वों के समान हैं।

● सामाजिक परिवर्तन लाने में विधि की योग्यता एवं सामर्थ्य

विधि में कुछ ऐसे भी लक्षण हैं जो विधि के बदलाव लाने की सामर्थ्य को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते हैं। जैसे कि विधि में स्थायित्व व रक्षा का अत्यधिक आग्रह है। स्थायित्व बनाए रखने की कोशिश में सामाजिक विकास को अनदेखा किया जा सकता है। असुरक्षा का भय विधायक को नए परिवर्तन लाने में उत्साहित कर सकता है। किन्तु विधि में कुछ ऐसी विधिक तकनीकों का विकास किया गया है जो विधिक आदर्शों एवं सामाजिक यथार्थता के अन्तर को कम करने में सहायता दे रही हैं। जैसे कि संवैधानिक उपचार, लोकहित वाद आदि। विधि तथा सामाजिक परिवर्तन की अन्तर्क्रिया को वृहत् रूप से समझने के लिए कुछ चलित दोहरे विचारों की व्याख्या भी आवश्यक है। ये दोहरे विचार सामाजिक बदलाव में विधि की भूमिका, विधि की योग्यता एवं सामर्थ्य को प्रभावित करते हैं। हम कह सकते हैं कि इन दोहरे विचारों में संतुलन स्थापित करना जरुरी है।

रास्को पाउण्ड के अनुरूप विधि को स्थायी होना चाहिए फिर भी यह स्थिर खड़ी नहीं रह सकती। यह विचार दो विरोधी जरुरतों के सुलह तथा समेकन पर बल देता है। विधि का स्थायी होना जरुरी है जिससे लोगों को स्थापित नियमों का ज्ञान रहे, उन्हें शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा एवं न्याय की प्राप्ति हो सके। विधि में स्थायित्व विधिक व्यवस्था के अस्तित्व में होने का आधार है और एक विधिक संस्कृति को उत्पन्न करता है। दूसरी ओर समय के साथ समाज बदलता है उसकी आवश्यकतायें बदलती हैं। सामाजिक विकास के प्रति उत्तर तथा समस्याओं के निपटारे के लिए विधि को भी नया कलेवर धारण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए सूचना तकनीक के परिष्कृत होने से अपराधों के रूप, कोटियों, कार्यप्रणाली, विस्तार, प्रभाव तथा साक्ष्यों में क्रान्तिकारी बदलाव आए हैं। विधि को परिवर्तित होकर इस नवीन आयाम में अपनी योगिता सिद्ध करनी होगी। प्राचीन विधि से हमें केवल रूपरेखा लेनी चाहिए, नवीन परिस्थितियों में नई परिभाषाओं को गढ़ने का विधि पर भारी दबाव तथा दायित्व होता है। अतएव परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। व्यक्तिगत व लोकहित भी जो अक्सर विरोधी होते हैं, विधि द्वारा सामाजिक बदलाव की सामर्थ्य को प्रतिकूलता से प्रभावित करते हैं। विधि का विनियमन, दोनों प्रकार के हितों के संतुलन की तरफ निर्देशित होता है। परन्तु कभी-कभी स्थिति विकट हो जाती है व विधि को एक हित के ऊपर दूसरे को प्राथमिकता देनी पड़ती है। उदाहरण के लिए आय कराधान की प्रक्रिया वितरणात्मक न्याय की दृष्टि से उचित है किन्तु यह व्यक्तिगत हित के मूल्य पर ही संभव है। यहाँ लोकहित को प्राथमिकता दी गई है। एक अन्य उदाहरण सेक्स क्रिया संबंधी स्वतंत्रता का लिया जा सकता है। भारतीय समाज समलैंगिकता अस्वीकार कर रहा है किन्तु समलैंगिक व्यक्ति इसे अपनी स्वतंत्रता का हनन मान रहे हैं। इस प्रकार का व्यवहार अपराधिक माना जाता रहा है। यदि विधि इस स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान करती है तो यह व्यक्तिगत हित को, लोकहित पर प्राथमिकता देने का अच्छा उदाहरण होगा।

● विधि द्वारा सामाजिक परिवर्तन के लाभ एवं सीमायें

सामाजिक परिवर्तन के अन्य कारण जैसे विद्रोह, सामाजिक आन्दोलन की तुलना में विधि द्वारा सामाजिक परिवर्तन ज्यादा व्यवस्थित, जागरुक, तार्किक, युक्तियुक्त, शान्तिपूर्ण तथा सामाजिक संवाद पर आधारित होता है। साथ ही विधि की व्यापक संस्थागत व्यवस्था, तकनीक व प्रभावी प्रक्रिया, इसकी सामाजिक नियंत्रण की भूमिका की तरफ भी सशक्त करती है। सामान्य धारणा है कि विधि, औपचारिक राज्य-शक्ति से प्रवाहित होती है, किन्तु प्रजातन्त्र में यह समुदाय की सामान्य इच्छा को व्यक्त करती है अत: इसका सम्मान बढ़ जाता है। विधि का नैतिकता की तरफ झुकाव तथा सहमति, लोगों को इसका पालन करने के लिए बाध्य करती है। वैयक्तिक विधियों का अनुरूप संस्कृति व धार्मिक नैतिकता के कारण किया जाता है। विधि का पालन, असुविधा दूर करने, न्याय प्राप्त करने, शान्ति तथा सुव्यवस्थित जीवन जीने तथा सामाजिकता के कारण होता है। विधि पालन के पीछे दण्ड व शास्ति भी होते हैं। विधि के उपचारात्मक गुण ने इसे लोकप्रिय बनाया है। विधि के अस्तित्व से लोगों में परस्पर विश्वास, सुरक्षा व आत्म विश्वास बना रहता है। विधि के द्वारा ही शक्ति, धन

तथा अवसरों का उचित वितरण संभव हो पाता है। विधि में समाज के स्वीकृत नैतिक मूल्य व राज्य नीति की अभिव्यक्ति होती है, अत: यह लोगों के लिए सुआचरण की दिग्दर्शिका होती है।

परन्तु सामाजिक बदलाव लाने में विधि की अनेक सीमायें हैं। किसी भी सामाजिक समस्या का विधि, पूरा उत्तर नहीं दे सकती। चूँकि विधि राज्य नीति का उपकरण होता है अत: विरोधी विचार रखने वाले सामाजिक बदलाव में सहयोग नहीं करना चाहते। उदाहरणस्वरूप घरेलू हिंसा, काम के स्थान पर स्त्रियों के यौन शोषण संबंधी विधि का अनेक लोग विरोधी हैं।

समाज में बहुत-से रूढ़िवादी लोग वस्तुस्थिति को बनाए रखना चाहते हैं, वे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व सांस्कृतिक कारणों से विधि द्वारा सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करना चाहते। लोगों के समहित स्वार्थ, कट्टरपन, जाति संरचना, धर्मान्धता, अन्धविश्वास, वैचारिक समझ आदि विधि से सामाजिक अभियन्त्रण को अवरुद्ध करते हैं। मनोवैज्ञानिक तौर पर आदत, अज्ञानता, अदूरदर्शिता, असहनशीलता आदि विधि से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को शिथिल बनाते हैं। विधि बाह्य आचरण परिवर्तन में ला सकता है किन्तु आन्तरिक सोच तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने में अक्षम है।

विधि द्वारा सामाजिक परिवर्तन के विषय में उपेन्द्र बख्शी लिखते हैं कि भारतीय विधिक व्यवस्था में जो आपात स्थिति उत्पन्न हुई है वह विधि की वैधानिकता की आपात स्थिति है। उनके अनुरूप, भारत में विधि के शासन का न केवल लोग वरन् विधि निर्माता व प्रवर्तनकर्ता भी सम्मान नहीं करते जो कि स्तम्भित कर देने वाला है। ऐसा विधिवाद जो नैतिक तथा नीतिगत आदत बन जाए, भारतीय व्यवहार और संस्कृति का प्रभावी लक्षण नहीं है।

उनके अनुरूप विधि द्वारा उपाप्त सामाजिक परिवर्तन को अवरुद्ध करने वाले कारक निम्नलिखित हैं—

1. राजनीतिक उच्च वर्ग तथा उच्च मध्यम वर्ग ने विधिवाद के मूल्य को आत्मसात नहीं किया है।

2. अधिकतर लोग मानते हैं कि नियम का मानना न केवल अयुक्तियुक्त है बल्कि अनुत्पादक या प्रति उत्पादक है।

3. शक्ति का दुरुपयोग एवं भ्रष्टाचार।

4. बन्द, हड़ताले, प्रदर्शन, राजनीतिक चालें, मनमानेपन में वृद्धि करती हैं व विधि एवं सामाजिक नीति निर्णय के तालमेल को बिगाड़ती हैं।

5. राजनीतिक, वैधानिक तथा प्रशासनिक शक्तियों के संरक्षण का परिणाम सत्ता एवं शक्ति को हथियाने के रूप में प्रस्फुटित हुआ है और विधि का वास्तविक काम बाधित हुआ है।

6. लोगों की मूलभूत जरुरत की पूर्ति न होना भी विधिवाद के प्रति न्यून या अल्प संकल्प का कारण है।

विशेष

विशेषकर भारत के विषय में भारतीय समाज की विशालता, भाषा, जाति धर्म, वर्ग, संस्कृति, इतिहास तथा भूगोल की वैविध्यताओं, आधुनिकीकरण की चुनौतियों एवं विरोधाभासी विचारों के कारण, विधि तथा सामाजिक परिवर्तन को समझना जटिल है। तथा सूक्ष्म अध्ययन से समझा जा सकता है कि विधि सामाजिक परिवर्तन का एक उपकरण भी है। लोकहित वाद, न्याय के लक्ष्य, प्राविधानों के युक्ति से युक्त निवर्चन, संशोधन, नए प्राविधानों के प्रस्तुतीकरण तथा विशेष वर्गों के सशक्तीकरण आदि तकनीकों की सहायता से विधि सामाजिक परिवर्तन लाने की कोशिश करती है। विधिशास्त्र की प्राकृतिक ऐतिहासिक, यथार्थवादी व विशेषकर समाजशास्त्रीय विचारधारा यह स्वीकार करती है कि विधि का कार्य जरुरी है। विधि का मुख्य कार्य प्रत्यक्षत: समाज में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना व न्याय प्रदत्तीकरण है, परन्तु अप्रत्यक्षत: सामाजिक परिवर्तन भी इसका काम है। वर्तमान समय में विधि को सामाजिक परिवर्तन का मजबूत उपकरण माना जाता है।

● सांस्कृतिक परिवर्तन

वास्तव में संस्कृति एक अधिक व्यापक शब्द है अत: सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से अधिक व्यापक है। सामाजिक परिवर्तन में केवल सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन आते हैं जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन में कला, विज्ञान व प्रौद्योगिकी व विचार आदि के परिवर्तन भी आते हैं। इन सबके परिवर्तन का सामाजिक परिवर्तन में उसी सीमा तक महत्व है जिस सीमा तक ये सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। अत: सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तनों को एक-दूसरे से पृथक समझना चाहिए। डेविड ने इस विषय में ठीक लिखा है—''यह ठीक है कि संस्कृति का कोई भी भाग सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध नहीं है परन्तु यह सत्य है कि इन शाखाओं में सामाजिक व्यवस्था पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव डाले बिना परिवर्तन हो सकते हैं।''

छात्र क्रियाकलाप

1. सामाजिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में विधि का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. विधि एवं सामाजिक न्याय का क्या संबंध है? भारतीय संदर्भों में भी पूर्णत: स्पष्ट कीजिए?
3. सामाजिक परिवर्तन के सैद्धान्तिक प्रतिमानों के विधिक क्षेत्र में विनियोग की उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

● सारांश

सामाजिक बदलाव के लिए अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं जैसे शैक्षिक, प्रौद्योगिकीय, जनसांख्यिक, वैचारिक, आर्थिक नीतियाँ, राजनीतिक बदलाव, विधिक नियमों तथा संस्थाओं में उत्परिवर्तन, युद्ध, विद्रोह, उपनिवेशवाद, लोक गतिविधियाँ व जन आन्दोलन आदि। विधि तथा सामाजिक न्याय का गहरा संबंध है। समाज कल्याण के लिए होने वाले बदलावों का ही विधि समर्थन करती है। ऐसे सामाजिक बदलाव जिनका परिणाम, शोषण, हानिकर स्वास्थ्य, मानवाधिकार भंग तथा अनैतिकता होता है, विधि उनका विरोध एवं शमन करती है। विधि द्वारा सामाजिक बदलाव के विचार में ही मूल्य अभिमुखता निहित है। भारत में भिन्न-भिन्न संघर्षरत हितों के बीच संतुलन कायम करने के लिए विधि से सामाजिक अभियंत्रीकरण किया जाता है। उदाहरणस्वरूप भारतीय संविधान से समता का मूल अधिकार प्रदान किया गया है किन्तु पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जातियों, महिलाओं एवं बालकों के लिए संरक्षात्मक विभेदीकरण अनुमन्य है। इसमें दो परस्पर विरोधी हित अन्तर्निहित हैं—समाज के वंचितों का उन्नयन व समाज में समानता, योग्यता एवं दक्षता को कायम रखना। विधि सामाजिक अभियंत्रीकरण द्वारा दोनों हितों में संतुलन स्थापित करने की कोशिश करती है।

विधि तथा सामाजिक परिवर्तन में सहयोगात्मक संबंध है। विस्तृत तौर पर सामाजिक बदलाव के तीन सैद्धान्तिक प्रतिमान हैं—सर्वसम्मत, विरोधमत तथा एकीकृत। तीनों में ही विधि की विभिन्न प्रकार की भूमिका को स्वीकारा गया है। सर्वसम्मत प्रतिमान की दृष्टि से विधि को समाज में होने वाले बदलावों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने के उपरान्त उसका अनुसरण करना चाहिए। विरोधमत अथवा संघर्ष प्रतिमान के अनुसार विधि की भूमिका, आमूलचूल परिवर्तन को हस्तक्षेप करके बदले जाने की होनी चाहिए। अर्थात राज्य को विधि के माध्यम से बदलाव की दिशा करनी चाहिए। एकीकृत प्रतिमान समाज में सहमति विरोध तथा सहसंवाद के द्वारा सामाजिक बदलाव की वकालत करता है। इसमें विधि की भूमिका तब शुरू होती है जब परिवर्तन की आधार भूमि तैयार हो चुकी है।

विधि तथा सामाजिक परिवर्तन का संबंध परस्पर एवं बहुआयामी है। जैसे कि विधि सामाजिक परिवर्तन का उपकरण है किन्तु सामाजिक परिवर्तन विधि से स्वतंत्र भी होता है तथा विधि के विपरीत भी होता है। विधि सामाजिक बदलाव को सुसाध्य बनाती है। विधि सामाजिक परिवर्तन कारित करती है। सामाजिक परिवर्तन एवं विधि परस्पर कार्य करते हैं।

विधि से सामाजिक परिवर्तन के अनेक लाभ हैं तथापि इसकी सीमायें भी हैं। विधि से सामाजिक बदलाव अधिक व्यवस्थित, जागरुक, तार्किक, युक्तियुक्तक, शान्तिपूर्ण तथा सामाजिक संवाद पर आधारित होता है। विधि की व्यापक संस्थागत व्यवस्था, तकनीक और प्रभावी प्रक्रिया इसकी सामाजिक नियंत्रण की भूमिका को

और भी मजबूत बनाती है। विधि समुदाय की सामान्य इच्छा को दर्शाती है अत: इसका सम्मान होता है। विधि का नैतिकता की ओर झुकाव तथा सहमति, लोगों को इसका पालन करने के लिए बाध्य करती हैं। विधि पालन के पीछे दण्ड व शास्ति भी होते हैं। विधि के उपचारात्मक गुण ने इसे लोकप्रिय बनाया है। विधि की बहुत सी सीमायें भी हैं जैसे कि विधि किसी सामाजिक समस्या का पूर्ण उत्तर नहीं दे सकती। राज्य नीति का उपकरण होने की वजह इसके विरोधी भी होते हैं। विधि केवल बाह्य बदलाव ला सकती है, आन्तरिक नहीं।

● अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत को स्पष्ट कीजिए।
3. सांस्कृतिक परिवर्तनों के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
4. सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

●

इकाई-III

9

शहरी फैलाव की राजनीति
(POLITICS OF URBAN SPRAWL)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- शहरी फैलाव का अभिप्राय
- शहरी फैलाव के लक्षण
- वाणिज्यिक विशेषताएँ
- शहरी फैलाव के प्रभाव
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- शहरी फैलाव के अभिप्राय को।
- शहरी फैलाव के लक्षणों व प्रभावों को।
- वाणिज्यिक विशेषताओं को।

● प्रस्तावना

शहरी फैलाव या उपनगरीय फैलाव केंद्रीय शहरी क्षेत्रों से कम घनत्व, मोनोफंक्शनल और आम तौर पर कार-निर्भर समुदायों में मानव आबादी के विस्तार का वर्णन करता है, उपनगरीय नामक प्रक्रिया में। शहरीकरण के एक विशेष रूप का वर्णन करने के अलावा, यह शब्द इस विकास से जुड़े सामाजिक और पर्यावरणीय परिणामों से भी संबंधित है। कॉन्टिनेंटल यूरोप में ''पेरी-शहरीकरण'' शब्द का प्रयोग अक्सर इसी तरह की गतिशीलता और घटनाओं को दर्शाने के लिए किया जाता है, हालाँकि शहरी फैलाव शब्द वर्तमान में यूरोपीय पर्यावरण एजेंसी द्वारा उपयोग किया जा रहा है। फैलाने के तरीके और इसे मापने के तरीके के बारे में व्यापक असहमति है। उदाहरण के लिए, कुछ कमेंटेटर केवल किसी दिए गए क्षेत्र में प्रति एकड़ आवासी इकाइयों की औसत संख्या के साथ फैलते हैं। लेकिन अन्य इसे विकेन्द्रीकरण (एक अच्छी तरह से परिभाषित केंद्र के बिना आबादी का प्रसार), असंतुलन (नीचे परिभाषित अनुसार, विकास के रूप में विकास), उपयोगों का पृथक्करण और आगे के साथ संबद्ध करते हैं।

शब्द शहरी फैलाव अत्यधिक राजनीतिक है, और लगभग हमेशा नकारात्मक अर्थ है। पर्यावरणीय गिरावट के कारण इसकी आलोचना की जाती है, और पृथक्करण को तेज किया जाता है और मौजूदा शहरी क्षेत्रों की जीवन शक्ति को कमजोर कर दिया जाता है और सौंदर्य आधार पर हमला किया जाता है। इस शब्द के अपमानजनक अर्थ के कारण, कुछ इस तरह शहरी फैलाव का समर्थन करते हैं। शब्द शहरी विकास के प्रबंधन के लिए एक रैलींग रोना बन गया है।

● शहरी फैलाव का अभिप्राय

फैलाव की परिभाषा अलग-अलग होती है; क्षेत्र में शोधकर्ता मानते हैं कि इस अवधि में परिशुद्धता की कमी है। बैटी एट अल, परिभाषित स्पॉल को ''असंगठित विकास: अल्पसंख्यक, अनियमित शहरी विकास में, इसके परिणामों के लिए चिंता के बिना समुदाय का विस्तार, जिसे अक्सर असंभव माना जाता है।'' भट्टा एट अल, 2010 में लिखा था कि फैलाव की सटीक परिभाषा पर विवाद के बावजूद ''आम सहमति है कि शहरी फैलाव को विकास की अनियोजित और असमान पैटर्न द्वारा दर्शाया गया है, जो प्रक्रियाओं की भीड़ से प्रेरित है और सक्षम संसाधन उपयोग की ओर अग्रसर है।''

रीड एविंग ने दिखाया है कि स्प्राल को आमतौर पर निम्नलिखित विशेषताओं में से कम से कम एक शहरी विकास के रूप में वर्णित किया गया है—कम घनत्व या एकल उपयोग विकास, स्ट्रिप विकास, बिखरे हुए विकास, और/या लीपफ्रोग विकास (खाली भूमि के साथ फैले विकास के क्षेत्र)। उन्होंने तर्क दिया कि स्प्राल की पहचान करने का एक बेहतर तरीका विशेषताओं के बजाय संकेतकों का उपयोग करना था क्योंकि यह एक अधिक लचीला और कम मनमाना तरीका था। उन्होंने संकेतक के रूप में ''अभिगम्यता'' और ''कार्यात्मक खुली जगह'' का उपयोग करने का प्रस्ताव रखा। एविंग के दृष्टिकोण की आलोचना करने के लिए आलोचना की गई है कि स्प्राल को नकारात्मक विशेषताओं द्वारा परिभाषित किया गया है।

स्प्राल का गठन करने के लिए डिग्री की बात माना जा सकता है और यह शब्द की कई परिभाषाओं के तहत हमेशा कुछ हद तक व्यक्तिपरक होगा। इविंग ने यह भी तर्क दिया है कि उपनगरीय विकास, प्रतिरूप के आधार पर फैलता है, हालाँकि गॉर्डन और रिचर्डसन ने तर्क दिया है कि इस शब्द को कभी-कभी उपनगरीय तरीके से समानार्थी रूप से प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण के लिए मेट्रोपॉलिटन लॉस एंजिल्स, एक विशाल शहर होने की लोकप्रिय धारणाओं के बावजूद, अमेरिका में सबसे बड़ा महानगरीय क्षेत्र है; न्यूयॉर्क मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र और सैन फ्रांसिस्को खाड़ी क्षेत्र की तुलना में घनत्व होने के नाते। अनिवार्य रूप से, अधिकांश मेट्रोपॉलिटन लॉस एंजिल्स अधिक समान कम से मध्यम घनत्व पर बनाया गया है, जिससे पूरे क्षेत्र के लिए कुल घनत्व बहुत अधिक होता है। यह न्यूयॉर्क, सैन फ्रांसिस्को या शिकागो जैसे शहरों के विपरीत है, जिनमें अत्यधिक कॉम्पैक्ट, उच्च घनत्व, कोर हैं लेकिन बहुत कम घनत्व वाले बड़े क्षेत्रों से घिरे हुए हैं।

फैलाव के अंतरराष्ट्रीय मामले अक्सर इस शब्द की परिभाषा पर सवाल उठाते हैं और शहरी विकास के लिए कौन सी स्थितियों को जरुरी माना जाता है। मेट्रोपॉलिटन क्षेत्रों जैसे ग्रेटर मैक्सिको सिटी, दिल्ली नेशनल कैपिटल रीजन और बीजिंग, को अपेक्षाकृत घने और मिश्रित उपयोग के बावजूद अक्सर फैलाने के रूप में माना जाता है।

● शहरी फैलाव के लक्षण

स्प्राल को परिभाषित करने के बारे में स्पष्ट रूप से सहमत होने की कमी के बावजूद अधिकांश परिभाषाएँ अक्सर निम्नलिखित विशेषताओं को फैलाने के साथ जोड़ती हैं।

1. एकल उपयोग विकास

यह ऐसी परिस्थिति को संदर्भित करता है जहाँ वाणिज्यिक, आवासीय, संस्थागत और औद्योगिक क्षेत्र एक-दूसरे से अलग होते हैं। नतीजतन, भूमि के बड़े हिस्से एक ही उपयोग के लिए समर्पित हैं और खुले स्थान, बुनियादी ढाँचे या अन्य बाधाओं से एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। नतीजतन, जिन स्थानों पर लोग रहते हैं, काम करते हैं, खरीदारी करते हैं, और पुनरुत्थान एक-दूसरे से दूर होते हैं, आमतौर पर चलने, पारगमन का उपयोग और साइकिल चलाना अव्यवहारिक होता है, इसलिए इन सभी गतिविधियों को आम तौर पर एक ऑटोमोबाइल की आवश्यकता होती है। जिस डिग्री से अलग भूमि उपयोगों को एक साथ मिलाया जाता है, वह अक्सर इस विषय के अध्ययन में फैलाव के संकेतक के रूप में उपयोग किया जाता है।

2. नौकरी फैलाना और स्थानिक मेल नहीं मिला

नौकरी फैलाना शहरी फैलाव और कार-निर्भर समुदायों का एक और भूमि उपयोग लक्षण है। इसे कम घनत्व, भौगोलिक दृष्टि से फैलाने वाले पैटर्न के रूप में परिभाषित किया जाता है, जहाँ दिए गए मेट्रोपॉलिटन क्षेत्र में अधिकांश नौकरियाँ मुख्य शहर के केंद्रीय व्यापार जिले (सीबीडी) के बाहर स्थित होती हैं, और उपनगरीय परिधि में तेजी से होती हैं। यह अक्सर शहरी विनिवेश का परिणाम होता है, जो कि कई अमेरिकी उपनगरों के मुख्य रूप से कार-निर्भर कम्यूटिंग पैटर्न द्वारा नियोजित रोजगार स्थान की भौगोलिक आजादी है, और कई कंपनियों की कम घनत्व वाले क्षेत्रों में स्थित होने की इच्छा जो अक्सर अधिक किफायती होती हैं और विस्तार के लिए संभावित पेशकश करती हैं। स्थानिक विसंगति नौकरी के फैलाव और आर्थिक पर्यावरण न्याय से संबंधित है। स्थानिक विसंगति को उस परिस्थिति के रूप में परिभाषित किया जाता है जहाँ गरीब शहरी, मुख्य रूप से अल्पसंख्यक नागरिकों को नौकरी के फैलाव और सीमित परिवहन विकल्पों में वृद्धि के परिणामस्वरूप उपनगरों को रिवर्स कम करने में मदद मिलती है।

नौकरी के फैलाव को विभिन्न तरीकों से दस्तावेज और मापा गया है। यह अमेरिका के महानगरीय क्षेत्रों में बढ़ती प्रवृत्ति के रूप में दिखाया गया है। ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूशन ने इस विषय पर कई लेख प्रकाशित किए हैं। 2005 में, लेखक माइकल स्टॉल ने सीबीडी से 5-मील (8.0 किमी) त्रिज्या से अधिक की नौकरियों के रूप में नौकरी के फैलाव को परिभाषित किया, और वर्ष 2000 अमेरिकी जनगणना डेटा के आधार पर अवधारणा को माप लिया। सीबीडी के आस-पास अधिक विस्तृत छल्ले के साथ अवधारणा को मापने के अन्य तरीकों में एडवर्ड ग्लेसर और एलिजाबेथ कनीबोन के 200 लेख के एक 2001 लेख में शामिल है, जो दिखाता है कि शहरी परिधि रोजगार बढ़ रही है जबकि सीबीडी के करीब के इलाकों में नौकरियाँ खो रही हैं। इन दो लेखकों ने सीबीडी के चारों ओर 35 मील (56 किमी) त्रिज्या तक सीमित तीन भौगोलिक छल्ले का इस्तेमाल किया—3 मील (4.8 किमी) या उससे कम, 3 से 10 मील (16 किमी०, और 10 से 35 मील (56 किमी)। केनेबोन के अध्ययन ने 2006 में सबसे बड़े महानगरीय क्षेत्रों के लिए निम्नलिखित राष्ट्रव्यापी टूटने को दिखाया। आंतरिक अंगूठी में स्थित 21.3% नौकरयाँ, 3-10 मील की अंगूठी में 33.6% नौकरियाँ और 10-35 मील की अंगूठी में 45.1%। यह वर्ष 1998, 23.3%, 34.2% और 42.5% उन संबंधित छल्ले में तुलना करता है। अध्ययन से पता चलता है कि सीबीडी रोजगार में कमी आई है, और उपनगरीय और उपनगरीय बाहरी मेट्रोपॉलिटन के छल्ले में नौकरी की वृद्धि केंद्रित है।

3. कम घनत्व

स्प्राल को अक्सर कम घनत्व वाले विकास के रूप में चिह्नित किया जाता है। ''कम घनत्व'' की सटीक परिभाषा तर्कसंगत है, लेकिन एक आम उदाहरण है कि बड़े परिवारों पर एकल परिवार के घरों का एक सामान्य उदाहरण है। इमारतों में आमतौर पर कम कहानियाँ होती हैं और लॉन, लैंडस्केपिंग, सड़कों या पार्किंग स्थल से अलग, अलग-अलग दूरी पर होती हैं। कम घनत्व का गठन करने वाले विशिष्ट माप सांस्कृतिक रूप से सापेक्ष हैं; उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति एकड़ 2-4 घरों को काम घनत्व माना जा सकता है जबकि यूके में 8-12 को अभी भी कम घनत्व माना जाएगा। क्योंकि अधिक ऑटोमोबाइल का उपयोग किया जाता है और अधिक जमीन को पार्किंग के लिए नामित किया जाता है। कई समुदायों में कम घनत्व विकास का प्रभाव यह है कि जनसंख्या बढ़ने की तुलना में विकसित या ''शहरीकृत'' भूमि तेजी से बढ़ रही है।

कुल मिलाकर घनत्व अक्सर ''लीपफ्रॉग विकास'' द्वारा कम किया जाता है। यह शब्द उपविभागों के बीच संबंध, या इसकी कमी को संदर्भित करता है। इस तरह के विकास आम तौर पर बड़े हरे रंग के बेल्ट, यानी अविकसित भूमि के ट्रैक्ट से अलग होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय घनत्व माप द्वारा संकेतिक कम घनत्व की तुलना में औसत घनत्व बहुत कम होता है। विकास की स्थिति के रूप में उपविभाजन आधारभूत संरचना प्रदान करने के लिए एक डेवलपर की आवश्यकता के वर्तमान कस्टम द्वारा उत्पन्न यह 20वीं और 21वीं शताब्दी की घटना है। आम तौर पर, डेवलपर को सड़कों, पार्कों और स्कूलों सहित सार्वजनिक उपयोग के लिए विकसित भूमि का एक निश्चित प्रतिशत अलग करने की आवश्यकता होती है। अतीत में, जब एक

स्थानीय सरकार ने किसी दिए गए स्थान पर सभी सड़कों का निर्माण किया था, तो शहर बिना रुकावट और सुसंगत परिसंचरण प्रणाली के साथ विस्तार कर सकता था, क्योंकि इसकी निंदा शक्ति थी। निजी डेवलपर्स में आम तौर पर ऐसी शक्ति नहीं होती है (हालांकि वे कभी-कभी स्थानीय सरकारों को मदद करने के इच्छुक लोगों को ढूँढ सकते हैं), और अक्सर जब वे बनाना चाहते हैं तो बिक्री के लिए होने वाले ट्रैक्ट्स पर विकसित करना चुनते हैं, अतिरिक्त भुगतान करने या प्रतीक्षा करने के बजाए एक और उपयुक्त स्थान।

कृषि भूमि को शहरी उपयोग में परिवर्तित करना

फैलाव के लिए जमीन अक्सर उपजाऊ कृषि भूमि से ली जाती है, जो अक्सर आसपास के शहरों में स्थित होती है; आधुनिक फैलाव की सीमा ने सबसे अधिक उत्पादक कृषि भूमि, साथ ही वन, रेगिस्तान और अन्य जंगल क्षेत्रों की बड़ी मात्रा में उपभोग किया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में विक्रेता पूँजी लाभ कर से समान प्रकार के एक्सचेंजों को छोड़कर टैक्स ब्रेक का उपयोग करके लाभ पर कर से बच सकता है; बिक्री से प्राप्त आय का उपयोग कहीं और कृषि भूमि खरीदने के लिए किया जाता है और लेनदेन को ''स्वैप'' या संपत्तियों के व्यापार के रूप में माना जाता है और कोई कर देय नहीं होता है। इस प्रकार शहरी फैलाव कर कोड द्वारा सब्सिडी दी जाती है। चीन में, भूमि को मांग से पहले ग्रामीण से शहरी उपयोग में परिवर्तित कर दिया गया है, जिससे भविष्य में विकास के लिए खाली ग्रामीण भूमि और अंतत: शहरी फैलाव हो रहा है।

आवास उपखंड

आवास उपखंड भूमि के बड़े इलाके हैं जो पूरी तरह से नव निर्मित निवासों से युक्त हैं। नई शहरीवादी वास्तुकला फर्म डुनी प्लाटर-ज़ीबर्क एंड कंपनी का दावा है कि आवास उपविभागों को कभी-कभी गाँवों, कस्बों और पड़ोसियों को उनके डेवलपर्स द्वारा बुलाया जाता है, जो भ्रामक है क्योंकि उन शर्तों को उन स्थानों को दर्शाया जाता है जो विशेष रूप से आवासीय नहीं हैं।'' उन्हें विकास के रूप में भी जाना जाता है।

उपविभाग अक्सर घुमावदार सड़कों और cul-de-sacs शामिल होते हैं। ये उपविभाग केवल कुछ स्थानों को पेश करने और विकास से बाहर निकलने के लिए पेशकश कर सकते हैं, जिससे यातायात उच्च मात्रा कलेक्टर सड़कों का उपयोग कर सकता है। सभी यात्राओं, चाहे कितना छोटा हो, उपनगरीय प्रणाली में कलेक्टर रोड में प्रवेश करना होगा।

लॉन

क्योंकि फैलाव के आगमन का मतलब कम लागत के लिए अधिक भूमि था, घर मालिकों के पास उनके निपटारे में अधिक जमीन थी, और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आवासीय लॉन का विकास उपनगरों में आम तौर पर, लेकिन विशेष रूप से उत्तरी अमेरिका में नहीं हुआ। देश क्लबों और गोल्फ कोर्स की 20वीं शताब्दी की शुरुआत में निर्माण ने संयुक्त राज्य अमेरिका में लॉन संस्कृति का उदय पूरा किया। लॉन अब उपनगरीय विकास में एक महत्वपूर्ण राशि लेते हैं, जो किसी भी छोटे हिस्से में फैलाने में योगदान नहीं देते हैं।

● वाणिज्यिक विशेषताएँ

फैलाव के क्षेत्रों में, वाणिज्यिक उपयोग आम तौर पर अन्य उपयोगों से अलग किया जाता है। अमेरिका और कनाडा में, ये अक्सर स्ट्रिप मॉल का रूप लेते हैं, जो आम पार्किंग स्थल साझा करने वाली इमारतों के संग्रह को संदर्भित करते हैं, आमतौर पर व्यावसायिक कार्यों (यानी, ''पट्टी'') के साथ एक उच्च क्षमता वाली सड़क मार्ग पर बनाया जाता है। ब्रिटेन में इसी तरह के विकास को खुदरा पार्क कहा जाता है। बड़े बॉक्स स्टोर्स या श्रेणी हत्यारों से युक्त स्ट्रिप मॉल को कभी-कभी ''पावर सेंटर'' (यूएस) कहा जाता है। ये विकास कम घनत्व होते हैं; इमारतें एकल कहानी हैं और डिलीवरी वाहनों के लिए पार्किंग और पहुँच के लिए पर्याप्त जगह है। यह चरित्र पार्किंग स्थल और पैदल मार्गों और खुदरा प्रतिष्ठानों के स्पष्ट संकेतों के विशाल भूनिर्माण में परिलक्षित होता है। कुछ स्ट्रिप मॉल लाइफस्टाइल केंद्रों में बदलाव से गुज़र रहे हैं; आम क्षेत्रों और सुविधाओं (प्लाजा, कैफे) में निवेश में निवेश और दैनिक सामान से मनोरंजन खरीदारी में किरायेदारी स्थानांतरित करना।

फैलाव द्वारा विशेषता क्षेत्रों में खुदरा विकास का एक और प्रमुख रूप शॉपिंग मॉल है। स्ट्रिप मॉल के विपरीत, यह आमतौर पर एक पार्किंग स्थल से घिरी एक इमारत से बना होता है जिसमें कई दुकानें होती हैं, आमतौर पर एक या अधिक डिपार्टमेंट स्टोर्स (ग्रुएन और स्मिथ 1960) द्वारा ''लंगर'' होती है। समारोह और आकार स्ट्रिप मॉल से भी अलग है। फोकस लगभग दैनिक वस्तुओं की बजाय मनोरंजक खरीदारी पर लगभग विशेष रूप से है। शॉपिंग मॉल भी व्यापक (क्षेत्रीय) जनता की सेवा करते हैं और उच्च-आदेश बुनियादी ढाँचे की आवश्यकता होती है जैसे राजमार्ग पहुँच और इसमें दस लाख वर्ग फुट (सीए 100,000 वर्ग मीटर) से अधिक मंजिलें हो सकती हैं। शॉपिंग मॉल अक्सर आसपास के शहरों के डाउनटाउन शॉपिंग सेंटर के लिए हानिकारक होते हैं क्योंकि शॉपिंग मॉल शहर के केंद्र (क्रॉफर्ड 1992) के लिए एक सरोगेट के रूप में कार्य करते हैं। कुछ डाउनटाउन ने अपने स्वयं के शॉपिंग सेंटर (फ्राइडन और सैगलेन 1989) का निर्माण करके इस चुनौती का जवाब दिया है।

फास्ट फूड चेन अक्सर कम संपत्ति मूल्य वाले क्षेत्रों में बनाए जाते हैं जहाँ जनसंख्या में तेजी आने की उम्मीद है और जहाँ बड़े यातायात की भविष्यवाणी की जाती है, और भविष्य के विकास के लिए एक उदाहरण निर्धारित किया जाता है। एरिक श्लोसर, अपनी पुस्तक फास्ट फूड नेशन में, तर्क देते हैं कि फास्ट फूड चेन उपनगरीय फैलाव को तेज करते हैं और अपने विशाल पार्किंग स्थल, चमकदार संकेत और प्लास्टिक वास्तुकला (65) के साथ अपने स्वर को सेट करने में मदद करते हैं। डुनी प्लाटर ज़ीबर्क एंड कंपनी का मानना है कि यह एक अंतहीन खोज में वृद्धि के विनाशकारी पैटर्न को फैलाने के लिए प्रेरित करता है जो केवल इससे अधिक बनाने में परिणाम देता है।

विशेष

शहरीकरण

औद्योगिक शहरों के घनत्व ढाल ने एक विशिष्ट पैटर्न का पालन करने के लिए प्रेरित किया है—शहर के केंद्र की घनत्व शहरीकरण के दौरान बढ़ेगी और जनसंख्या परिधि की ओर निपटने में तेजी से गिरावट के साथ शहर के केंद्र में भारी केंद्रित रहेगी। फिर, निरंतर आर्थिक विकास और सार्वजनिक परिवहन के विस्तारित नेटवर्क के साथ, लोग (विशेष रूप से मध्यम वर्ग) धीरे-धीरे उपनगरों की तरफ बढ़ते हैं, धीरे-धीरे जनसंख्या घनत्व ढाल को नरम बनाते हैं। यह बिंदु आमतौर पर तब तक पहुँचा जब शहर आर्थिक विकास के एक निश्चित चरण तक पहुँच गया। लंदन में, यह बिंदु 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, पेरिस में सदी के अंत और 20वीं के अंत में न्यूयॉर्क शहर में पहुँचा था। ''शहरी स्प्राल'' शब्द का इस्तेमाल पहली बार द टाइम्स में 1955 में लंदन के बाहरी इलाके में नकारात्मक टिप्पणी के रूप में किया गया था। हालाँकि, लंदन 18वीं शताब्दी के बाद से शहर के भीतर अपनी मध्ययुगीन सीमाओं से बाहर नकल रहा था, जब शहर ने अपनी पहली महान शहरी वृद्धि का अनुभव किया था। वेस्टमिंस्टर के पश्चिम में क्षेत्रों को शहर के उपनगरों में रहने के लिए अमीर के लिए तेजी से बनाया गया था। 19वीं शताब्दी में शहर के शहरी फैलाव में नाटकीय वृद्धि हुई, जब मजदूरों ने ग्रामीण इलाकों से नये कारखानों में काम करने के लिए झुकाया जो तब उभर रहे थे। छोटे टेरेस वाले घरों के बड़े विकास प्रकट होने लगे और नए सार्वजनिक परिवहन प्रणालियों—(मेट्रो, बसों और ट्राम)—श्रमिकों को रोज़ाना शहर में जाने की इजाजत दी गई। उपनगरीय जिलों ने भी शहर के केंद्र के चारों ओर उगाया ताकि उन लोगों को समायोजित किया जा सके जो औद्योगिक शहर की वैध परिस्थितियों से बचना चाहते थे।

19वीं शताब्दी के मध्य तक, पहला प्रमुख उपनगरीय क्षेत्र लंदन के आसपास उभर रहा था क्योंकि शहर (तब दुनिया में सबसे बड़ा) अधिक अतिसंवेदनशील और अस्वस्थ हो गया। शहरी फैलाव में वृद्धि में एक प्रमुख उत्प्रेरक 1860 के दशक में मेट्रोपॉलिटन रेलवे के उद्घाटन से आया था। लाइन शहर में पूँजी के वित्तीय दिल में शामिल हो गई जो कि मिडिलसेक्स के उपनगर बनने के लिए थी। हैरो 1880 में पहुँचा था, और अंतत: लाइन बेकर स्ट्रीट और लंदन के केंद्र से 50 मील (80 किलोमीटर) से अधिक, बकिघमशायर में वेर्नी जंक्शन तक फैली हुई थी।

अन्य रेल कंपनियों के विपरीत, जिन्हें अधिशेष भूमि का निपटान करने की आवश्यकता थी, मेट को ऐसी भूमि को बनाए रखने की अनुमति थी जिसे माना जाता था कि भविष्य में रेलवे उपयोग के लिए आवश्यक था। प्रारंभ में, अधिशेष भूमि, भूमि समिति द्वारा प्रबंधित की गई थी, और, 1880 के दशक से, जमीन विकसित की

गई थी और विलीडेन पार्क एस्टेट, सेसिल पार्क, पाइनर के पास और वेम्बली पार्क में घरेलू खरीदारों को बेचा गया था। 1919 में, एक पोस्टवार हाउसिंग बूम की उम्मीद के साथ, मेट्रोपॉलिटन रेलवे कंट्री एस्टेट्स लिमिटेड का गठन किया गया था और नेसडेन, वेम्बली पार्क, सेसिल पार्क और ग्रेंज एस्टेट के पास किंग्सबरी गार्डन गाँव में पिनर और सीडर एस्टेट में रिकमन्सवर्थ में निर्माण और निर्माण करने के लिए आगे बढ़े। हैरो गार्डन गाँव जैसे स्थानों।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, मध्यम वर्ग के समृद्धि में वृद्धि के दौरान, अर्द्ध-पृथक घरों के बड़े कम घनत्व वाले उपनगरों ने शहर भर में उछाल दिया था, जनसंख्या वृद्धि के बावजूद अकेले अंतराल अवधि में निर्मित लंदन के क्षेत्र को दोगुना कर दिया था सिर्फ 10 प्रतिशत होने के नाते। एचजी वेल्स ने भी 1902 में भविष्यवाणी की थी कि सौ वर्षों के भीतर दक्षिणी इंग्लैंड के ज्यादातर लंदन में केंद्रित एक विशाल गिनती में शामिल हो गए होंगे।

शहरी फैलाव को जोड़ने के शुरुआती प्रयास

20वीं शताब्दी की शुरुआत में, शहरी फैलाव के पर्यावरणीय विरोध ने उद्यान शहर के आंदोलन में जड़ों के साथ-साथ अभियान समूहों जैसे अभियान को ग्रामीण इंग्लैंड (सीपीआरई) से दबाव के साथ तालमेल करना शुरू कर दिया।

लंदन काउंटी काउंसिल के 1934 के नेतृत्व के हरबर्ट मॉरिसन के तहत, पहला औपचारिक प्रस्ताव ग्रेटर लंदन क्षेत्रीय योजना समिति द्वारा ''सार्वजनिक खुली जगहों और मनोरंजक क्षेत्रों की आरक्षित आपूर्ति प्रदान करने और खुली जगह के हरे रंग की बेल्ट या गर्डल स्थापित करने के लिए किया गया था''। इसे फिर से 1944 में पैट्रिक एबरक्रॉम्बी द्वारा तैयार सलाहकार ग्रेटर लंदन योजना में शामिल किया गया था। 1947 के टाउन एंड कंट्री प्लानिंग एक्ट ने सभी राष्ट्रीय शहरी विकास में हरे रंग के बेल्ट को स्पष्ट रूप से शामिल किया।

1947 टाउन एंड कंट्री प्लानिंग एक्ट में मुआवजे के लिए नए प्रावधानों ने देश भर के स्थानीय अधिकारियों को अपनी पहली विकास योजनाओं में ग्रीन बेल्ट प्रस्तावों को शामिल करने की अनुमति दी। ग्रीन बेल्ट नीति का कोडिफिकेशन और लंदन के अलावा अन्य क्षेत्रों में इसका विस्तार स्थानीय परिपत्र प्राधिकरणों को ग्रीन बेल्ट की स्थापना पर विचार करने के लिए ऐतिहासिक परिपत्र 42/55 के साथ आया था। अमेरिका में पहली शहरी विकास सीमा 1958 में फेयेट काउंटी, केंटकी में थी।

उदाहरण

राष्ट्रीय संसाधन सूची (एन०आर०आई०) के अनुसार, संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग 8,900 वर्ग किलोमीटर (2.2 मिलियन एकड़) भूमि विकसित की गई थी, 1992 से 2002 के बीच विकसित हुई थी। वर्तमान में, एन०आर०आई० लगभग 100,000 वर्ग किलोमीटर (40,000 वर्ग मील) (एक क्षेत्र लगभग केंटकी का आकार) जैसा कि जनगणना ब्यूरो से विकसित शहरी के रूप में वर्गीकृत किया गया है। एन०आर०आई० वर्गीकरण में अंतर यह है कि इसमें ग्रामीण विकास शामिल है, जिसे परिभाषा के अनुसार ''शहरी'' फैलाव नहीं माना जा सकता है। वर्तमान में, 2000 की जनगणना के अनुसार, अमेरिकी भूमि क्षेत्र का लगभग 2.6 प्रतिशत शहरी है। देश की भूमि का लगभग 0.8 प्रतिशत 37 शहरीकृत क्षेत्रों में है जहाँ 1,000,000 से अधिक आबादी है। 2002 में, इन 37 शहरीकृत क्षेत्रों ने कुल अमेरिकी आबादी का लगभग 40% समर्थन किया था।

फिर भी, डेट्रॉइट जैसे कुछ शहरी क्षेत्रों ने जनसंख्या खोने के दौरान भौगोलिक रूप से विस्तार किया है। लेकिन यह अमेरिका में शहरीकृत क्षेत्र नहीं था जो जनसंख्या खो गया और काफी हद तक फैल गया। केनवर्थी और लाउबे (1999) द्वारा ''शहरों और ऑटोमोबाइल निर्भरता'' के आँकड़ों के मुताबिक, शहरीकृत क्षेत्र की जनसंख्या हानि हुई, जबकि 1970 और 1990 के बीच एम्स्टर्डम, नीदरलैंड में फैलाव का विस्तार हुआ; ब्रुसेल्स, बेल्जियम; कोपेनहेगन, डेनमार्क; फ्रैंकफर्ट, हैम्बर्ग और म्यूनिख, जर्मनी; और ज़्यूरिख, स्विट्ज़रलैंड, हालाँकि संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई बुनियादी ढाँचे को खत्म किए बिना।

● शहरी फैलाव के प्रभाव

पर्यावरण

शहरी शहरी फैलाव कई नकारात्मक पर्यावरणीय परिणामों से जुड़ा हुआ है। फैलाव से जुड़ी प्रमुख पर्यावरणीय समस्याओं में से एक भूमि, हानि, आवास नुकसान और जैव विविधता में बाद में कमी है। चेक और सहयोगियों की एक समीक्षा से पता चलता है कि शहरीकरण अन्य प्रजातियों को खतरे में डाल देता है और मुख्य भूमि संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी अन्य मानव गतिविधि की तुलना में अधिक भौगोलिक रूप से सर्वव्यापी है। शहरी फैलाव देशी वनस्पतियों और जीवों के लिए विघटनकारी है और अपने वातावरण में आक्रामक पौधों को पेश करता है। यद्यपि प्रभाव मूल वनस्पति के सावधानीपूर्वक रखरखाव, पारिस्थितिक उत्तराधिकार और सार्वजनिक शिक्षा की प्रक्रिया के माध्यम से कम किया जा सकता है, विस्फोट जैव विविधता के प्राथमिक खतरों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है।

अप्रत्याशित शहरी विकास और कोलकाता जैसे उभरती हुई मेगासिटी के कारण उच्च जन्म दर और अप्रवासन वाले क्षेत्र पर्यावरणीय समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

समस्याएँ

1. बाढ़, जो सड़कों और पार्किंग के लिए अभद्र सतहों में वृद्धि हुई है गर्मी द्वीपों से तापमान में वृद्धि हुई, जिससे बुजुर्ग आबादी में मृत्यु दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। साथ ही, संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी यूरोप और जापान के इन सभी और लगभग सभी अन्य प्रमुख शहरों के शहरी कोर ने नए क्षेत्र को नहीं जोड़ा, विशेष रूप से अमेरिका में, और विशेष रूप से अमेरिका में गिरने के संबंधित घटनाओं का अनुभव किया। ''जनसंख्या घाटे को बनाए रखना। हाल के वर्षों में इस प्रवृत्ति में कुछ हद तक धीमा हो गया है, क्योंकि अधिक लोगों ने शहरी जीवन में रुचि हासिल की है।

2. शहरी पड़ोस की तुलना में फैले उपनगरों द्वारा खपत बड़े क्षेत्र के कारण, प्रति निवासी और अधिक वन्यजीव निवास स्थान प्रति निवासियों को विस्थापित कर दिए जाते हैं। चूँकि वन कवर को मंजूरी दी जाती है और उपनगरों में अभद्र सतहों (कंक्रीट और डामर) के साथ कवर किया जाता है, इसलिए भूजल जलीय जल में वर्षा प्रभावी रूप से अवशेषित होती है। यह पानी की आपूर्ति की गुणवत्ता और मात्रा दोनों को धमकाता है। स्पोल जल प्रदूषण को बढ़ाता है क्योंकि बारिश के पानी में पार्किंग स्थल और सड़कों से चलने वाले पेट्रोल, मोटर तेल, भारी धातुओं और अन्य प्रदूषक बढ़ते हैं।

3. गॉर्डन और रिचर्डसन ने तर्क दिया है कि कृषि उत्पादन की बढ़ती दक्षता के कारण कृषि भूमि को शहरी उपयोग में परिवर्तित करना कोई समस्या नहीं है; वे तर्क देते हैं कि शहरी भूमि उपयोग के विस्तार के बावजूद वैश्विक खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुल कृषि उत्पादन अभी भी पर्याप्त है।

स्वास्थ्य

फैलाव में ड्राइविंग बढ़ने की ओर बढ़ता है, और बढ़ती ड्राइविंग वाहन उत्सर्जन की ओर ले जाती है जो वायु प्रदूषण में योगदान देती है और इसके कर्मचारी मानव स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। इसके अलावा, बढ़ी हुई ऑटोमोबाइल उपयोग द्वारा निहित कम शारीरिक गतिविधि में नकारात्मक स्वास्थ्य के परिणाम हैं। फैलाव ने पुरानी चिकित्सीय स्थितियों और जीवन से संबंधित स्वास्थ्य से संबंधित गुणवत्ता की भविष्यवाणी की है, लेकिन मानसिक स्वास्थ्य विकार नहीं हैं। अमेरिकन जर्नल ऑफ़ पब्लिक हेल्थ एंड द अमेरिकन जर्नल ऑफ हेल्थ प्रमोशन, दोनों ने कहा है कि फैलाव, मोटापे और उच्च रक्तचाप के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में, जब वाहन स्वामित्व व्यापक हो रहा था, सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकारियों ने शहर के केंद्र में सूट और औद्योगिक धुएँ के कारण उपनगरों के स्वास्थ्य लाभों की सिफारिश की। हालाँकि, शहरी पड़ोस में हवा की तुलना में आधुनिक उपनगरों में हवा जरूरी नहीं है। वास्तव में, सबसे प्रदूषित हवा भीड़ वाले राजमार्गों पर है, जहाँ उपनगरों में लोग अधिक समय व्यतीत करते हैं। औसतन,

उपनगरीय निवासियों ने अपने शहरी समकक्षों की तुलना में अधिक प्रति व्यक्ति प्रदूषण और कार्बन उत्सर्जन उत्पन्न किया है क्योंकि उनकी बढ़ती ड्राइविंग की वजह से।

सुरक्षा

ऑटोमोबाइल पर भारी निर्भरता पूरे शहर में यातायात को बढ़ाती है साथ ही ऑटोमोबाइल दुर्घटनाओं, पैदल यात्री चोटों और वायु प्रदूषण को भी बढ़ाती है। मोटर वाहन दुर्घटनाएँ पाँच और चौबीस वर्ष की आयु के बीच अमेरिकियों के लिए मौत का प्रमुख कारण हैं और सभी आयु समूहों के लिए प्रमुख दुर्घटना से संबंधित कारण है। ड्राइविंग के संपर्क में वृद्धि के कारण अधिक फैलाने वाले क्षेत्रों के निवासियों को आम तौर पर कार दुर्घटना में मरने का अधिक खतरा होता है। साक्ष्य इंगित करता है कि घूमने वाले क्षेत्रों में पैदल चलने वाले घने क्षेत्रों में पैदल चलने वालों को अधिक जोखिम होता है, हालाँकि वाहनों में ड्राइवरों और यात्रियों के मुकाबले संबंध कम स्पष्ट है।

जर्नल ऑफ इकोनॉमिक इश्यूज एंड स्टेट एंड लोकल गवर्नमेंट रिव्यू में शामिल अनुसंधान में फैलाव और आपातकालीन चिकित्सा सेवाओं की प्रतिक्रिया और अग्नि विभाग प्रतिक्रिया देरी के बीच एक लिंक दिखाया गया है।

बढ़ी बुनियादी ढाँचे/परिवहन लागत

बड़े, अधिक फैलाने वाली जगहों में रहने से आम तौर पर सार्वजनिक सेवाएँ अधिक महँगी होती हैं। चूँकि कार का उपयोग स्थानिक हो जाता है और सार्वजनिक परिवहन अक्सर अधिक महँगा हो जाता है, इसलिए शहर योजनाकारों को राजमार्ग और पार्किंग बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने के लिए मजबूर किया जाता है, जो बदले में कर योग्य भूमि और राजस्व को कम करता है, और इस तरह के संरचनाओं के निकट क्षेत्र की वांछनीयता को कम करता है। पानी, सीवर और बिजली जैसी सेवाएँ प्रदान करना कम घने क्षेत्रों में प्रति परिवार अधिक महँगा है। कम घनत्व वाले क्षेत्रों के निवासी उच्च घनत्व वाले क्षेत्रों के निवासियों की तुलना में परिवहन पर अपनी आय का उच्च अनुपात खर्च करते हैं। आरएसी का अनुमान है कि यूके में एक कार चलाने की औसत लागत £ 5,000 प्रति वर्ष है, जिनमें से अधिकांश वित्त पोषक लागत और मूल्यह्रास से उत्पन्न होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सामाजिक पूँजी में गिरावट के लिए शहरी फैलाव आंशिक रूप से जिम्मेदार हो सकता है। कॉम्पैक्ट पड़ोस पड़ोसियों के बीच आरामदायक सामाजिक बातचीत को बढ़ावा दे सकते हैं, जबकि फैलाव बाधा उत्पन्न करता है। फैलाव सार्वजनिक स्थानों को निजी स्थानों जैसे फेंडेड-इन बैकयार्ड के साथ प्रतिस्थापित करता है। फैलाव के आलोचकों का कहना है कि फैलाव जीवन की गुणवत्ता को मिटा देता है। डुनी और प्लाटर-ज़ेबरक का मानना है कि पारंपरिक पड़ोस में कार्यस्थल की निकटता खुदरा और रेस्तरां की जगह पर है जो शहरी जीवन के सफल संतुलन के लिए दिन के ग्राहकों के साथ कैफे और सुविधा स्टोर प्रदान करती है। इसके अलावा, वे कहते हैं कि कार्यस्थल के निकट घरों में निकटता लोगों को काम करने या स्कूल में साइकिल चलाने या सवारी करने का विकल्प देती है और जीवन के विभिन्न घटकों के बीच इस प्रकार की बातचीत के बिना शहरी पैटर्न जल्दी से अलग हो जाता है। जेम्स हॉवर्ड कुन्स्लर ने तर्क दिया है कि उपनगरीय वातावरण में खराब सौंदर्यशास्त्र उन्हें ''देखभाल करने योग्य नहीं हैं'', और उन्हें इतिहास और पहचान की भावना नहीं है। शहरी फैलाव में दुनिया के कई हिस्सों में वर्ग और नस्लीय प्रभाव पड़ता है; कई फैलाव विकास की सापेक्ष एकरूपता आवासीय अलगाव के माध्यम से वर्ग और नस्लीय विभाजन को मजबूत कर सकती है। कई अध्ययनों ने वृद्धि आक्रामकता के साथ जनसंख्या घनत्व में वृद्धि की है। कुछ लोग मानते हैं कि जनसंख्या घनत्व में वृद्धि अपराध और सामाजिक-सामाजिक व्यवहार को प्रोत्साहित करती है। यह तर्क दिया जाता है कि मनुष्यों, जबकि सामाजिक जानवरों को, सामाजिक स्थान की महत्वपूर्ण मात्रा की आवश्यकता होती है या वे उत्तेजित और आक्रामक हो जाते हैं। हालाँकि, उच्च घनत्व और सामाजिक रोगविज्ञान के बीच संबंध काफी हद तक अस्वीकार कर दिया गया है।

वैकल्पिक विकास शैलियाँ

'स्मार्ट ग्रोथ' शब्द का इस्तेमाल विशेष रूप से उत्तरी अमेरिका में किया गया है। 'कॉम्पैक्ट सिटी' या 'शहरी तीव्रता' शब्द अक्सर यूरोप और विशेष रूप से ब्रिटेन में समान अवधारणाओं का वर्णन करने के लिए

उपयोग किए जाते हैं, जहाँ हाल के वर्षों में सरकार नीति और योजना अभ्यास को प्रभावित किया गया है। ओरेगॉन राज्य ने 1973 में शहरी विकास सीमाओं के माध्यम से क्षेत्र शहरी क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था। नतीजतन, पोर्टलैंड, राज्य का सबसे बड़ा शहरी क्षेत्र, स्मार्ट विकास नीतियों में अग्रणी बन गया है जो शहरी क्षेत्रों को अधिक कॉम्पैक्ट बनाने की तलाश में हैं (उन्हें शहरी समेकन नीतियाँ कहा जाता है)। इस सीमा के निर्माण के बाद, शहरीकृत क्षेत्र की जनसंख्या घनत्व कुछ हद तक बढ़ी (1970 में 1,135 से 2000 में 1,290 प्रति वर्ग किमी तक)। जबकि विकास सीमा घनत्व में काफी वृद्धि करने के लिए काफी तंग नहीं रही है, आम सहमति यह है कि विकास सीमाओं ने मेट्रो क्षेत्र के आसपास जंगली क्षेत्रों और खेत की बड़ी मात्रा में रक्षा की है। सैन फ्रांसिस्को खाड़ी क्षेत्र के कई हिस्सों ने शहरी विकास सीमाएँ भी अपनाई हैं; इसके 25 शहरों और इसकी 5 काउंटी में शहरी विकास सीमाएँ हैं। इनमें से कई को ग्रीनबल्ट एलायंस, एक गैर-लाभकारी भूमि संरक्षण और शहरी नियोजन संगठन के समर्थन और वकालत के साथ अपनाया गया था। अन्य क्षेत्रों में, जिला क्षेत्रीयता और नए शहरीकरण के डिजाइन सिद्धांतों को शहरी फैलाव से निपटने के लिए नियोजित किया गया है। परिपत्र प्रवाह भूमि उपयोग प्रबंधन की अवधारणा को यूरोप में विकसित किया गया है ताकि आंतरिक शहर और भूरे रंग के विकास को बढ़ावा देने के माध्यम से शहरी फैलाव से भूमि को कम किया जा सके। जबकि लॉस एंजिल्स जैसे शहर उपनगरों के लिए जाने जाते हैं, नीतियाँ और सार्वजनिक राय बदल रही है। पारगमन उन्मुख विकास, जिसमें उच्च घनत्व मिश्रित उपयोग क्षेत्रों को पारगमन स्टॉप के पास अनुमति या प्रोत्साहित किया जाता है, कुछ क्षेत्रो में विशेष रूप से हल्के ओर भारी रेल ट्रांजिट सिस्टम वाले अधिक कॉम्पैक्ट विकास को प्रोत्साहित करता है। कई देशों में साइकिल यात्रा के पसंदीदा साधन हैं। साथ ही, सार्वजनिक पारगमन में साइकिलों की अनुमति है। कुछ कस्बों के क्षेत्रों में व्यवसाय जहाँ साइकिल उपयोग उच्च है, संपन्न हैं। व्यवसायों की सफलता की दिशा में साइकिल और पारगमन दो महत्वपूर्ण तरीकों से योगदान दे रहे हैं; सबसे पहले, औसत पर इन व्यावसायिक जिलों के सबसे नज़दीकी रहने वाले लोगों के पास स्थानीय रूप से खर्च करने के लिए अधिक पैसा होता है क्योंकि वे अपनी कारों पर उतना खर्च नहीं करते हैं। दूसरा, क्योंकि ये लोग ड्राइविंग की तुलना में साइकिल चलाना, चलना और पारगमन पर अधिक भरोसा करते हैं, वे स्थानीय स्तर पर स्वामित्व वाले पड़ोस के व्यवसायों पर अपने अधिक वाणिज्य पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो उनके लिए सुविधाजनक हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. शहरी फैलाव के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. शहरी फैलाव के अभिप्राय पर चर्चा कीजिए।

● सारांश

- चलने की योग्यता एक उपाय है कि एक क्षेत्र चलने के लिए कितना दोस्ताना है। चलने योग्यता में कई स्वास्थ्य, पर्यावरण और आर्थिक लाभ हैं। हालाँकि, चलने योग्यता का मूल्यांकन चुनौतीपूर्ण है क्योंकि इसे कई व्यक्तिपरक कारकों पर विचार करने की आवश्यकता है। चलने योग्यता को प्रभावित करने वाले कारकों में उपस्थिति या अनुपस्थिति और फुटपाथ, फुटपाथ या अन्य पैदल यात्री, रास्ते यातायात और सड़क की स्थिति, भूमि उपयोग पैटर्न, अभिगम्यता निर्माण और सुरक्षा, दूसरों के बीच की गुणवत्ता शामिल है। टिकाऊ शहरी डिजाइन में चलने योग्यता एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।

● अभ्यास प्रश्न

1. शहरी फैलाव के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।
2. शहरी फैलाव में वाणिज्यिक विशेषताओं को उल्लेखित कीजिए।

●

इकाई-IV

नए शहरी प्रतिमान
(NEW URBAN PARADIGM)

10

शहरी कॉमन्स व साझा शहरी संसाधन
(URBAN COMMONS AND THE SHARED URBAN RESOURCES)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- शहरी कॉमन्स व साझा शहरी संसाधन
- व्यावहारिक दिशा निर्देश
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- शहरी कॉमन्स व साझा शहरी संसाधनों को।
- व्यावहारिक दिशा निर्देशों को।

● प्रस्तावना

समग्र तथा टिकाऊ शहरों को हासिल करने के लिए, सुगम्य, हरित व न्यायपूर्ण शहरों के सारे आयामों पर एक-दूसरे के साथ विचार करने, उन्हें सन्दर्भ के साथ व्यवस्थित करने तथा सह-क्रिया एवं तालमेल के लिए उनका मूल्यांकन करने की भी जरुरत है।

टिकाऊ विकास के तीन आयाम हैं—सामाजिक, आर्थिक तथा पर्यावरणीय टिकाऊपन। वे एक-दूसरे की मदद करते हैं परन्तु उनमें कई द्वन्द्व भी गुँथे हुए हैं।

- आर्थिक व सामाजिक टिकाऊपन के मध्य—निजी और सरकारी के बीच।
- आर्थिक और पर्यावरणीय टिकाऊपन के बीच—लोगों और प्रकृति के बीच।
- सामाजिक व पर्यावरणीय टिकाऊपन के मध्य उदाहरण के तौर पर जब वैश्विक उत्तर के द्वारा वैश्विक दक्षिण में पर्यावरणीय सुरक्षा की माँग आर्थिक विकास तथा सार्वजनिक निवेशों को बाधित करती है।

टिकाऊ विकास की परिभाषा स्थानीय व्यवहार तथा स्थानीय परम्पराओं के साथ ही स्थानीय संघर्षों व दृष्टिकोणों में भिन्नताओं के माध्यम से बदलती है। इसलिए अवधारणा के तीनों आयामों की लगातार परीक्षा होती है तथा उनपर फिर से काम किया जाता है, जो उनके लिए दी जाने वाली दलीलों को और जोरदार भी बनाता है।

क्या हम इस बात पर बल दे सकते हैं कि इसका वर्णन एक सैद्धांतिक रूपरेखा के रूप में करने से पहले टिकाऊ विकास को स्थानीय रूप से सामने लाया जाए? इस किताब के मुख्य अध्यायों के तीन लेखक मानते हैं

कि शहरी टिकाऊपन को समझने व संभवत: उसे साकार करने के लिए स्थानीय सन्दर्भ अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिए, एक संभव निष्कर्ष स्थानीयता को टिकाऊ विकास के एक चौथे तथा महत्वपूर्ण आयाम के रूप में रेखांकित करना होगा।

● शहरी कॉमन्स व साझा शहरी संसाधन

टिकाऊ विकास के सिद्धान्त व व्यवहार के मध्य के अंतर को संघर्षों के बीच समझौते पर काम करके और साथ-साथ शहर में टिकाऊ विकास क्या होगा इस दृष्टिकोण को बढ़ावा देकर दूर करने की आवश्यकता है। इसमें शहरी कॉमन्स साझा शहरी संसाधन का अपना महत्व है। लेकिन घनत्व के टिकाऊ विकास के एक एकमात्र माध्यम के रूप में होने पर सवाल किया जा सकता है व सुगमता के पक्ष में घनत्व के पुनर्निरूपण की सलाह भी ग्रहण की जा सकती है। सुगमता मुख्य रूप से गतिशीलता व सार्वजनिक परिवहन तक पहुँच के बारे में, विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक स्थान, हरित क्षेत्र, किफायती आवास तथा सामुदायिक सुविधाओं तक पहुँच के बारे में व सामाजिक तन्त्र तथा सामुदायिक समूहों तक पहुँच के बारे में हैं।

शहरी विकास का कार्यान्वयन करने के लिए, सुगमता का उपाय उत्तम व्यावहारीकरण तथा योजना के लिए एक अच्छा मापक है, साथ ही यह सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने का जरिया भी है। लेकिन कई दुविधाएँ विरोधाभास भी पैदा कर सकती हैं, उदाहरण के तौर पर विकसित सार्वजनिक परिवहन व हरित, निर्माणमुक्त स्थानों की आवश्यकता के बीच की दुविधा।

सुगमता की अवधारणा का विस्तार अन्य आयामों जैसे जानकारी, ज्ञान अथवा अनुभव तक पहुँच के साथ किया जा सकता है। स्थानीय ज्ञान तथा अनुभव को एक शून्य भविष्य में परिवर्तन को निर्मित करने के लिए प्रयुक्त होने में समर्थ करने के लिए, सुगम्य शहर को ज्ञान के विभिन्न स्रोतों तक पहुँच को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। सुगमता शहरी नागरिकों और शहर के बीच एक सम्बन्धात्मक अवधारणा है व ज्ञान तक पहुँच अपने शहरी वातावरण के साथ नागरिकों के सीधे सम्बन्ध तथा अन्तर्क्रिया को बढ़ावा देता है।

हरित शहर के लिए भी न्याय एक मौलिक मार्गदर्शी सिद्धान्त है। हरित शहर का पश्चिमी उद्गम एबनेजर हावर्ड, के उद्यान शहर (गार्डेन सिटी) में है परन्तु उद्यान शहर ने उन समस्याओं का समाधान नहीं निकाला जिनसे आज के हरित शहर गुजर रहे हैं, आज जलवायु परिवर्तन सबसे विकट चुनौती है जो हरित शहर को कार्य सूची में पीछे ढकेल दे रही है। लेकिन बिना एक ऐसे सामाजिक कार्य सूची के जलवायु परिवर्तन से निबटा अथवा इससे बचा नहीं जा सकता है, जो न्याय और समानता को भी शामिल करता है।

वैश्विक वातावरण के लिए दूसरी 'नई' चुनौती मधुमक्खियों के द्वारा परागण व अन्य समान प्राकृतिक कार्यों का सफाया है जिसने नई पारिस्थितिक तन्त्र सेवाओं को उत्पन्न किया है। परन्तु कभी कभी वे एक प्रकार के विनिमय में अधिकतर परिवर्तित हो जाते हैं। एक उदाहरण स्वरूप, पेड़ों के एक झुरमुट, जिसे हटा दिया गया है, को हरी छतों से बदला जा सकता है। झुरमुट के सौन्दर्य, छाँव, सूक्ष्म-वातावरण, पहचान व ऐतिहासिक जुड़ाव जैसे मूल्यों की जगह ऊँचे-ऊँचे भवनों की छतों पर सेडम पौधे की 'अदृश्य' कालीनों के साथ एक कार्यमूलक हरीतिमा-समीकरण से व्यस्थापित किया जाता है।

'विकृतियों अथवा भ्रष्ट परिणामों' की ओर बढ़ने के अलावा यह परिभाषा की इस दुविधा को दर्शाता है कि अत: हम किसी चीज का नामकरण कर सकते हैं तो इसे संख्या-आधारित (परिमाणात्मक) रूप में देखा जा सकता है। दूसरी तरफ गुणात्मक मूल्य संख्यात्मक मापन पर आधारित नहीं होते हैं जैसा कि झुरमुट का उदाहरण दिखलाता है।

हालाँकि ये द्वन्द्व पूर्व में विचरित विकास के द्वन्द्व के साथ जाते हैं जहाँ पर्यावरणीय आधुनिकीकरण सामाजिक विकास के पहले अभिजात आदर्शवादी दृष्टिकोण को रखता है। हम टिकाऊ विकास को बढ़ावा देते हुए विरोधी अवधारणाओं के लिए नये मतैक्य प्रस्तावित करते हैं।

टिकाऊ विकास के मानदंड

टिकाऊ विकास को एक मानदंड संबंधी दिशा प्रदान करने के लिए यदि 'सुगम' और 'हरित' दोनों अवधारणाओं को 'न्यायपूर्ण' की परिभाषा में समाहित करने की जरुरत है, तब 'न्यायपूर्ण' के आयाम में कौन से नए संघर्ष पाए जाने हैं? शहर के अनुभवों तथा संस्थानात्मक क्षमताओं की वैश्विक भिन्नताओं के साथ इस बात पर सरलता से कोई आम विद्वतापूर्ण समझदारी नहीं प्राप्त की जा सकती कि किसी शहर में न्याय का क्या मतलब होगा अथवा न्याय को कैसे प्राप्त किया जा सकता है और शहरों को और अधिक न्यायपूर्ण बनाने की चुनौती कभी इतनी बड़ी नहीं रही है।

वैश्विक दक्षिण के शहरों में न्यायपूर्ण शहरों की अवधारणा को भी प्रयोग होना है, चूँकि एक बेहतर विश्व के लिए अफ्रिका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के उभरते शहरों की शहरी स्थिति में सुधार की आवश्यकता है। यह मुख्य रूप से सामाजिक पैमाने पर न्यायपूर्ण उपायों के विषय में है, न्यायपूर्ण शहर रोजना की आधारभूत संरचनाओं में चाहे कि लैंगिकता, जातीयता, वर्ग अथवा सांस्कृतिक पहचान जो भी हो तक सुगम पहुँच बनाने और शहरी जीवन में शामिल होने का मामला है।

● व्यावहारिक दिशा निर्देश

टिकाऊ शहर के आयाम

टिकाऊ शहरों के तीन आयामों यथा सुगम हरित व न्यायपूर्ण और उनके क्रमश: क्रमिक विकास, अवधारणात्मक आधार, वर्तमान आयामों व मुख्य मुद्दों पर विमर्श किया है। टिकाऊ शहरों की योजना बनाने हेतु एक स्पष्ट रणनीति को आकार देने के लिए अब हम इन तीनों आयामों को एक जगह करते हैं।

पहले, इस एकीकरण को लेने का कोई सार्वभौमिक तरीका नहीं है क्योंकि प्रत्येक सन्दर्भ विशिष्ट है और इसकी वजह प्रत्येक आयाम को दिया गया प्रासंगिक महत्व भिन्न होगा। हम प्रत्येक आयाम के प्रासंगिक ताकत या कमजोरी से आरम्भ करें।

दूसरे, उन बाधाओं व समस्याओं को समझना आवश्यक है जिनका सामना टिकाऊ शहरों का विकास कर सकता है। ये समस्याएँ तकनीकी, नौकरशाही सम्बंधित, संस्थानिक, कानूनी, वित्तीय तथा राजनीतिक हो सकती हैं। इसका मतलब यह है कि यहाँ तक कि अच्छे ढंग से तैयार प्रगतिशील परिवर्तन परियोजनाएँ को भी बाधित किया जा सकता है, उनका रास्ता बदल दिया जा सकता है अथवा उन्हें कमजोर कर दिया जा सकता है।

इसलिए यह जरुरी कि तीनों आयामों को एक साथ एक ऐसी समग्र रूपरेखा के अंतर्गत रखा जाए जो अपरिहार्य चुनौतियों के बावजूद शोध, योजना तथा कार्यान्वयन को समेकित करती हो। किस प्रकार समेकित शहरी टिकाऊपन कार्यसूचियों को आगे ले जाने से इस हेतु यह पुस्तक शोधकर्ताओं, योजनाकारों व अन्य अधिकारियों साथ ही साथ निर्वाचित प्रतिनिधियों एवं अन्य निर्णयकर्ताओं के लिए व्यावहारिक दिशा निर्देश पेश करती है। लगभग प्रति एक मनुष्य हर संदर्भों संसाधनों तक पहुँच में न्याय की आवश्यकता को स्वीकार करता है हालाँकि न्याय व कार्यक्षमता के संतुलन के विषय में विभिन्न विचार हैं। इसलिए न्यायपूर्ण शहरों की अवधारणा सुगमता, हरीतिमा व न्याय के तीनों आयामों को एक साथ रखने का औचित्य सिद्ध करती है।

पहला व्यावहारिक कदम स्थानीय स्तर पर मुख्य हिस्सेदार समूहों के मध्य समर्थन को लामबंद करना है और इस प्रकार विधान और अन्य नियमों की वर्तमान बाधाओं को दूर कर देना तथा वित्तीय संसाधन प्रदान करना है। अनुभव भी दिखलाते हैं कि मुख्य संगठनों के बीच सही संपर्कों का होना जरुरी है। ऐसे लोगों को चिन्हित और उनका समर्थन करने की जरुरत है जो अपने-अपने संस्थानों के अन्दर प्रभाव डाल सकते हैं।

मतैक्य को ढूँढ़ना व विश्वास विकसित करना बहुत ही आवश्यक पहलू है, जो एक जटिल, धीमा और पहले से अनुमान लगाने में कठिन क्रिया हो सकती है। यह भी महत्वपूर्ण है कि स्थानीय स्वीकार्यता के लिए स्थानीय विमर्श या शोध के बगैर सामान्य दिशा निर्देश अथवा दूसरी जगहों की अनुशंसाओं और समाधानों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न नहीं किया जाए।

स्थानीय प्राधिकारों अथवा अन्य संगठनों के पास पर्याप्त आंतरिक शोध क्षमता कदाचित ही होती है। इसलिए, यह जरुरी है कि शोधकर्ताओं को टीम मे लाया जाए और इस प्रकार एक शोध संस्थान को क्षमता बढ़ाने व परियोजना में आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य लाने के लिए हिस्सेदार के रूप में रखा जाए। इस प्रकार टीम के उद्देश्य में शोध तथा प्राप्त निष्कर्षों को व्यवहार में कार्यान्वित करने की योजना दोनों सम्मिलित है। इस प्रकार का समर्थन तथा साझेदारी से प्राप्त अधिकार एवं शोध निष्ठा अक्सर परियोजना को चलाने और अप्रत्याशित समस्याओं, जो बहुधा उठ खड़े होते हैं, से निबटने में बहुत मददगार है।

संबंधों को स्थापित तथा विकसित करना चुनौतीपूर्ण है। विभिन्न संगठनों और व्यक्तियों के बीच गतिरोध को दूर करने और सहयोग का रास्ता निकालने में बहुत समय व प्रयास की आवश्यकता है। प्रत्येक मामले में संक्षिप्त प्रक्रिया तैयार करने की जरुरत है, आदर्शत: यदि पहले से चिन्हित हों तो इसका नेतृत्व अनुभवी परियोजना प्रबंधकों द्वारा हो लेकिन कुछ केवल प्रक्रिया के तहत ही उभरेंगे और बाद में नियुक्त कर लिए जाएँगे। यह समय लेता है, यह जोखिम से मुक्त नहीं है तथा परिणाम अनिश्चित है। हालाँकि इस प्रक्रिया में कोई छोटा रास्ता नहीं है जो विश्वास निर्मित करने, सम्बन्ध बनाने व इस बात के लिए महत्वपूर्ण है कि स्थान हासिल हो सके जो शोध, प्रयोग तथा नवाचार के लिए साझेदार बन सके।

साझा ज्ञान, अनुभव व दक्षता को परियोजना के अन्दर दूसरे शब्दों में, सामूहिक बौद्धिक संपत्ति के एक प्रकार के रूप में सुरक्षित रखना भी जरुरी है। इनका निजीकरण नहीं होना चाहिए, हालाँकि इसमें उचित निजी क्षेत्र के साझेदारों को त्याग नहीं देना चाहिए क्योंकि सामान्य बौद्धिक संपत्ति अधिकार को रखने की आवश्यकता को एक औपचारिक साझेदारी के समझौते का हिस्सा बनाकर संबोधित किया जा सकता है।

न्यायपूर्ण शहरों के पास हार्ड तथा सॉफ्ट दोनों आधारभूत संरचनाएँ अवश्य होनी चाहिए जो शहरी क्षेत्रों के विभिन्न हिस्सों को जोड़ती हों व टिकाऊ गतिविधियों को मुमकिन करती हों। निर्धारित दिशानिर्देशों के अनुसार प्राथमिकता की भी कसौटी अवश्य होनी चाहिए। अधिक बड़ा हमेशा बेहतर नहीं होता, व कुछ अपेक्षाकृत ऐसे छोटे हस्तक्षेपों के जो किसी विशेष कमी को दूर करते हों, असामान्य रूप से बड़े प्रत्यक्ष तथा परोक्ष परिणाम (मल्टीप्लायर इफेक्ट्स) हो सकते हैं।

प्रभावकारी रूप से भूमि का प्रयोग होना भी बहुत महत्वपूर्ण है, सामान्य रूप से इस कार्य का प्रबंध एक अथवा उससे अधिक स्तरों पर सरकारी संस्थानों द्वारा किया जाता है। यह केवल हरीतिमायुक्त स्थलों पर निर्माण के बारे में नहीं है। यह हरीतिमाविहीन स्थलों पर भी निर्माण के बारे में है जिससे कि 'मृतप्राय', सामाजिक रूप से अलगावकारी तथा खतरनाक स्थानों की उपस्थिति को टाला जा सके। परम्परागत भूमि कानूनों से काम नहीं चलता। हालाँकि, नए समाधानों को सामान्यत: व्यापक समर्थन व स्वीकृति मिलती है उदाहरण के तौर पर कार्यान्वयन प्रक्रिया में जन–समर्थन के साथ अंतर्विषयक शोध पर आधारित समाधान का लागू करना। प्रभावकारी भूमि–उपयोग लोगों के घरों, कार्यस्थलों व वाणिज्यिक एवं सामाजिक सुविधाओं के बीच की दूरी को खत्म कर देता है जो बदले में यात्राओं, यात्रा की दूरी और यात्रा के समय को कम कर देगा और इस प्रकार निजी मोटर वाहन स्वामित्व से सार्वजनिक परिवहन का प्रयोग करने की ओर मुड़ने को बढ़ावा देगा।

विभिन्न तरीकों से व्यवहार–परिवर्तन को बढ़ाने के लिए, जो टिकाऊपन को बढ़ावा देते हों, कर राजस्व का प्रयोग किया जा सकता है। मोटर यातायात को कम करने के लिए बेहतर सार्वजनिक परिवहन के अतिरिक्त उदाहरण के तौर पर यह संभव है कि निर्धन तथा हाशिए पर के सामाजिक समूहों को प्राथमिकता दी जाए, संपत्ति दरों में फर्क किया जाए, अपनी–अपनी संपत्तियों में ऊर्जा को बचाने की गतिविधियों को चलाने के लिए निजी व्यक्तियों तथा कम्पनियों को प्रोत्साहित किया जाए जो सम्पूर्ण हरित आधारभूत संरचना, पानी व कचरे, इत्यादि के पुनरावर्तन में सहयोग करती हों।

इन सारे मुद्दों की व्यवस्था करने के लिए स्वैच्छिक कार्य तथा नियमों के बीच एक अच्छा स्थानीय संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। टिकाऊपन में बदलाव के विभिन्न चरणों में समय के साथ यह संतुलन

बदल सकता है। उदाहरण के तौर पर, सामाजिक व व्यवहार संबंधी परिवर्तन में कोई नियम प्रभावकारी रूप से तेजी ला सकता है, परन्तु एक बार जब बदलाव आ गया तो वह नियम उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। स्थानीय प्राधिकारों तथा नागरिक समाज का सक्रिय जुड़ाव भी, उदाहरण के तौर पर अंतर्विषयक साझेदारियों, स्वैच्छिक समूहों, गैर-सरकारी संगठनों व विशेष तौर पर सामाजिक मीडिया के माध्यम से, आवश्यक है।

कभी-कभी किन्हीं जरुरी कानूनों को, कम-से-कम एक अपेक्षाकृत अल्पावधि में, लागू करवाना मुश्किल हो जाता है। ऐसे मामलों में वर्तमान के अनुपयुक्त नियमों के लागू किए रहने को निष्क्रिय कर देना एक महत्वपूर्ण काम हो सकता है। एक सामान्य उदाहरण यह है कि ऐसे व्यक्ति को जिन्होंने खुले स्थानों पर अपनी जरुरतों की पूर्ति के लिए झुग्गी-झोंपड़ियाँ बना ली हों, उजाड़ नहीं देना बल्कि यदि यह आवश्यक नियोजित विकास में बाधा न डालता हो तो उनकी अवधि को नियमानुकूल कर उन्हें बुनियादी आधारभूत रचना प्रदान कर देना। इसी को शहरी इलाकों के खुले स्थानों पर खेती किए जाने के सिलसिले में भी लागू किया जा सकता है, भले ही तकनीकी रूप से यह वर्जित हो। यह निर्धनतम व्यक्तियों की भोजन सुरक्षा में मदद करता है और शहरी हरितकरण में योगदान देता है।

अंततः, 2016 से सारे शहरों व स्थानीय प्राधिकारों को शामिल करने वाली एक नई वैश्विक प्रवृत्ति के तौरपरं शहरों में उपयुक्त टिकाऊ निवेशों तथा नवाचारों को प्रेरित करने की महान संभावनाएँ हैं। यह 2016 से 2030 तक चलने वाले 17 टिकाऊ विकास उद्देश्यों के समूह के तहत एक रूप से शहरी उद्देश्य का प्रवेश है। पूरे विश्व के सभी देशों पर प्रयुक्त होता है जो टिकाउपन की चुनौती वैश्विक स्तर पर अविभाज्य प्रकृति को दर्शाता है। सारे शहरों को समावेशी, सुरक्षित, टिकाऊ तथा लचीलापन की क्षमता वाला बनाने के लिए गोल सात लक्ष्यों व तीन अनुपूरक लक्ष्यों कुल मिलाकर 17 सूचकांकों से पूरित है।

सारे स्थानीय प्राधिकारों के लिए वार्षिक प्रतिवेदन देना चुनौतीपूर्ण साबित हो सकता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान में सारे प्रासंगिक आँकड़े इकट्ठा नहीं किए हुए हैं अथवा आसानी से उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रक्रिया में सहायता प्रदान करने के लिए लक्षित समर्थन के साथ संयुक्त राष्ट्र (यू एन) के द्वारा प्रबोधन तथा मूल्यांकन होगा। इस प्रकार यह टिकाऊ शहरी विकास को बढ़ावा देने हेतु राजनीतिक नेताओं व स्थानीय प्राधिकार अधिकारियों को प्रेरित करने के लिए लक्ष्यों तथा सूचकांकों के इस्तेमाल का एक अनूठा अवसर पेश करता है।

विशेष

समर्थन व तंत्रजाल (नेटवर्किंग) के बाहरी स्रोत

समर्थन व नवाचारी पद्धतियों के लिए राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर विभिन्न बाहरी (नेटवर्क्स) मौजूद हैं। देशों के अपने अन्दर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय सरकारें एवं शोध संस्थान प्रभावकारी बहुस्तरीय संचालन में लग सकते हैं। कुछ ऐसे सम्बन्ध जटिल अथवा यहाँ तक कि विरोधी भी हो सकते हैं, उदाहरण के तौर पर यदि शक्तियाँ और उत्तरदायित्व अस्पष्ट हैं अथवा विरोधपूर्ण कार्यसूचियों वाले राजनीतिक दल विभिन्न संस्थानों को नियंत्रित करते हों।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ व नेटवर्क भी विभिन्न प्रकार की सलाह, व्यावहारिक समर्थन और सीखने के संसाधन पेश करते हैं, उदाहरण के स्वरूप—

- टिकाऊपन के लिए स्थानीय सरकारें (आई सी एल इ आई—ICLEI)
- संयुक्त शहर व स्थानीय सरकारें (यू सी एल ज—UCLs)
- अग्रणी शहरों की सी 40 नेटवर्क (C40)
- स्मार्ट सिटीज काउन्सिल
- लन्दन में स्थित इंटरनेशनल ईश्टीच्यूट ऑफ इनवायरमेंट एण्ड डेवलपमेन्ट (IIED)
- यू एन की यू एन—हैबिटेंट (UN-HAVITAT) व यू एन इ पी (UNEP) एजेंसियाँ (जो नियमित प्रतिवेदन पेश करती हैं और जिनके पास शहरों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए प्रासंगिक विशेष कार्यक्रम भी हैं।)

छात्र क्रियाकलाप

1. साझा शहरी संसाधनों के कारकों पर चर्चा कीजिए।
2. समर्थन व तंत्रजाल के बाहरी स्रोतों पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

एक समान सन्दर्भ बिन्दु यह है कि 20वीं सदी के शुरुआत से ही यूटोपियन विचारधारा ने शहरी योजना को प्रभावित किया है। पूर्व की बहुत सारी यूटोपियन विचारधाराओं का आधार अराजकतावादी विचार में था। कार्यान्वयन एक दूसरी बात है। यह वास्तविकता की अपनी सारी जटिलताओं व विरोधाभासों के साथ हस्तक्षेप करने की प्रवृति है।

कार्यान्वयन की अनिवार्यता हर जगह अत्यंत जरुरी है, खासकर वैश्विक दक्षिण में जहाँ शहर बहुत तेजी से बढ़ रहे हैं तथा कल के शहर, आज जिनमें से कई पहले से ही निर्माणाधीन हैं, वैश्विक उत्तर के गैर–टिकाऊ शहरीकरण की नकल कर रहे हैं। वैश्विक दक्षिण में नये टिकाऊ मतों के कुछ उदाहरण हैं जो देशी सांस्कृतिक व वास्तुशिल्पीय रूप रेखाओं को सर्वोत्तम 'अन्तर्राष्ट्रीय' औद्योगिक रूपरेखा, सामग्रियों और जीवन शैलियों के साथ मेल स्थापित करते हैं।

शहरों में विकसित होते हुए टिकाऊपन की कई समस्याओं तथा सीमाओं को देखे तो हम प्रस्तावित करते हैं कि आगे बढ़ने का रास्ता टिकाऊ शहरों के लिए एक समेकित पद्धति प्रयोग करने का है जिससे कि शहर आवश्यक रूप से सुगम, हरित तथा न्यायपूर्ण हो सकें।

इतना कहने के बाद ऐसी वैचारिकताओं व आकांक्षाओं में किसी स्थायित्व या अंतिम स्थिति के भाव से परहेज करना आवश्यक है। देशकाल के सन्दर्भ में स्थानीय रूप से प्रासंगिक रहने के लिए उन्हें जरुरी रूप से निरन्तर क्रमिक रूप से विकसित होना चाहिए। शहरों को बेहतर स्थान बनाने और शहरी योजना में यूटोपियन विचार के प्रवक्ता जॉन फ्रीडमैन ने संयुक्त योजना व्यवहार पर अपने महत्वपूर्ण लेख को इस प्रकार निष्कर्षित किया है।

''शहर की मेरी छवि' अपूर्ण रह गई तथा मैं समझता हूँ यह ठीक ही है क्योंकि किसी के भी पास एक अच्छे शहर के लिए आखिरी कथन नहीं होना चाहिए, यूटोपियन विचार एक निरन्तर, समयबद्ध विमर्श है जिसका उद्देश्य हमारे प्रयत्नों को सामने रखना है, यह इससे ज्यादा कुछ नहीं, लेकिन इससे कम भी नहीं।''

● अभ्यास प्रश्न

1. टिकाऊ शहर के आयामों को स्पष्ट कीजिए।
2. टिकाऊ विकास के मानदण्डों को स्पष्ट कीजिए।

●

इकाई-IV

11

अभिगम, पहुँच व शहरी पात्रता

(ACCESS, ENTITLEMENTS AND URBAN ENFRANCHISMENT)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- अभिगम व पहुँच
- शहरी पात्रता
- 21वीं सदी में शहरों के लिए आदर्श विचारधाराएँ
- शहरी योजना
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- अभिगम, पहुँच व शहरी पात्रता को।
- 21वीं सदी में शहरों के लिए आदर्श विचारधाराओं को।
- शहरी योजना को।

● प्रस्तावना

19वीं सदी के अंत से शहरी योजना—निर्माण एक पेशे के रूप में औद्योगिकरण के आरंभिक चरणों में इसके हानिकारक प्रभावों के मुद्दों के सम्बन्ध में सोचती रही है। तब से स्वास्थ लाभ व तंदुरस्ती के लिए खुले स्थानों की आवश्यकता एक केन्द्रीय मुद्दा रही है।

इंग्लैण्ड में इसके परिणामों में एक यह था कि पहले से बन्द शाही पार्क आम जनों के लिए खोल दिए गए तथा विभिन्न खेलों जैसे फुटबॉल, से जुड़ाव को बढ़ावा, उदाहरण स्वरूप नई पिचों और सुविधाओं का निर्माण करके दिया गया। मैदानी (आउटडोर) शौक लोकप्रिय हुए उदाहरण के तरह जो स्काउट आन्दोलन द्वारा प्रदान किए गए।

योजना जल्द ही रिहाइशी इलाके को औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक इलाकों से अलग करने पर केन्द्रित होने लगी। 20वीं सदी के आते ही उद्यान शहरों के विकास में तीव्रता आई। ऊलीवल हेगबी का निर्माण ओस्लों में हुआ। 1910 के दशक के बीच में अंग्रेजी उदाहरणों को रोल मॉडल के रूप में इस्तेमाल करें तो गोथेनबर्ग में, लंदाला इग्नेहेमसौमरेड, का और एक दशक बाद और्ग्रिटट्रैडगार्ड्स टेड का निर्माण शुरु हुआ।

लेकिन शहरी योजना का विकास उसका बस एक हिस्सा है जिसे आज वैश्विक स्तर पर 'टिकाऊ शहर' कहा जाता है।

वैश्विक दक्षिण शहरी योजना व टिकाऊ शहरी विकास को अक्सर पश्चिमी विश्व द्वारा चुनौतियों का सामना करने हेतु विकसित अवधारणाओं के स्वरूप में देखा जा रहा है। अन्य देशों, जैसे दक्षिणी अफ्रिका, में

स्थानान्तरित होकर इन्हें इसके परिवर्तित सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के अतिरिक्त साक्ष्य के रूप में देखा जा रहा है। प्रकृति संरक्षण के मुद्दों में अधिक सहभागिता में निवासियों की आवाजें व जानकारियाँ केवल बाद के चरणों में शामिल हुईं ह्यू पैरनेल द्वारा लिखित चौथा अध्याय देखें। निम्न आय क्षेत्रों में अक्सर हरित क्षेत्रों का अभाव है जो अधिक संपन्न क्षेत्रों के समीप है हरीतिमा विहीन धरती सार्वजनिक स्थानों पर निवेश और देखरेख का अभाव दर्शाती है।

टिकाऊपन की बहसों का एक बहुत ही न्यून विमर्शित लेकिन अहम पहलू कमजोर वोल और अधिक जोर टिकाऊपन के मध्य का अंतर है। ब्रंड्टलैंड कमीशन रिपोर्ट (1987) के बाद टिकाऊपन पद को विस्तृत प्रकार के विषयों में इस्तेमाल किया जाने लगा। एकदम क्षीण हालतों में इसका इस्तेमाल बिना किन्हीं वास्तविक सुधारों के विद्यमान गतिविधियों को उचित ठहराने के लिए किया जाने लगा, जो 'ग्रीनवाश' के रूप में जाना जाने लगा। मजबूत टिकाऊपन पहल कदमियाँ कारणों, चलाने वालों व सत्ता के सम्बन्धों को सम्बोधित करती हैं वरन् कमजोर पहल कदमियाँ मौजूदा प्रणालियों और सम्बन्धों के क्रमिक परिवर्तनों को सन्निहित करती हैं, मजबूत पहल कदमियों के उदाहरण स्वरूप शहरों में वाहन यातायात को कम करने के लिए पादचारीकरण योजनाओं से मिले हुए सुलभ वहनयोग्य जन परिवहन में निवेश हैं।

● अभिगम व पहुँच

अभिगम के अन्तर्गत हरित अर्थव्यवस्था का अपना विशेष महत्व है। इसका महत्व सतही से आत्यंतिर रूप में बदलता रहता है जहाँ मुख्य मुद्दा आर्थिक विकास व टिकाऊपन के बीच संतुलन से जुड़ा होता है। बहुत ही चरम हालातों में यह सामाजिक संरचना में मौलिक बदलावों की माँगों तक ले जा सकती है। हालाँकि, वर्तमान में प्रबल प्रवृत्ति मुख्यत: टिकाऊपन को बढ़ावा देनेवाली नयी उदार रणनीतियों और उनके अवसरों के बचाव की प्रतीत होती हैं।

हरित अर्थव्यवस्था अब एक राष्ट्रीय मामले के रूप में नहीं विकसित हुई है। शहर और अन्य गैर-राष्ट्रीय संगठन न केवल प्रतिभागी हुए हैं वरन् कई मामलों में राष्ट्रीय रणनीतियों के विकास में पहलकदमी की है तथा उन्हें प्रेरित किया है। जलवायु परिवर्तन अनुकूलन और प्रशामक चुनौतियों को सुलझाना एक मुख्य शहरी प्राथमिकता बन गया है चूँकि विशेष रूप से कारण व प्रभाव दोनों असुरक्षित शहरी क्षेत्रों के लिए गंभीर खतरे उत्पन्न करते हैं, पारिस्थितिक तन्त्र सेवाएँ और शहरी हरित रणनीतियों को कार्य के महत्वपूर्ण तत्वों के रूप में देखा जाता है।

वैश्विक दक्षिण में एक हरित अर्थ व्यवस्था व विकास की रणनीतियों में अक्सर वृद्धि और परिवर्तन दोनों के तत्व रहते हैं। भीषण बेरोजगारी व निम्न आजीविका को कम करने के लिए वृद्धि आवश्यक है। ऐसे दृष्टिकोणों में टिकाऊ समाज तथा टिकाऊ शहरों में एक उचित पारगमन सन्निहित है। यह 'हरित' से टिकाऊ समाजों के दो अन्य पहलुओं—पहुँच तथा न्याय—के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

आपदा संकट की कमी और जलवायु परिवर्तन

आपदा संकट की कमी तथा जलवायु परिवर्तन से निबटने के काम की विभिन्न उत्पत्तियाँ हैं लेकिन हाल के वर्षों में वे एक-दूसरे से मिल गई हैं खासकर जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से सम्बंधित सुरक्षा को कम करने और प्रतिरोध में सुधार करने के मामले में शोध की पदावली में 25 वर्षों की एक काल में समाज विज्ञानों और गैर-अकादमिक ज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देने के साथ तीव्रता से यह काम शुद्ध रूप से वैज्ञानिक होने से अंतर्विषयक व पारविषयक होने तक भी विकसित हुआ।

जलवायु परिवर्तन को दो स्पष्ट तरीकों से अभिव्यक्त किया जाता है। मौसम की अत्यधिक तेज स्थिति, जो तेजी से बराबर व और अधिक गंभीर परिणामों के साथ हो रही है (आपदा संकट की कमी से इसका जुड़ाव स्पष्ट है) तथा धीमे परिवर्तन जैसे समुद्री जल स्तर में वृद्धि। इन दोनों अभिव्यक्तियों का सीधा असर शहरी क्षेत्रों पर है खासकर उनके आर्थिक महत्व के लिए। कई मामलों में, आवश्यक पहलकदमियों व

रणनीतियों की जिम्मेदारी भी स्थानीय अथवा क्षेत्रीय हैं। खासकर इन कारणों से इस क्षेत्र में स्थानीय अधिकारी तेजी से सक्रिय हो गए हैं, चाहे पूर्ण स्वतंत्र रूप से या कई स्तरों पर भागीदारी व अन्य स्रोतों से आर्थिक सहायता के साथ।

हरित शहरों से सम्बंधित विमर्शों तथा पहलकदमियों के आधार के तौर पर विभिन्न प्रकार के राजनीतिक और व्यावहारिक प्रभावों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध चिन्हित कर पाना मुश्किल है।

- ऊपर से पहलकदमियाँ व निर्देश।
- पहलकदमियाँ व गतिविधियाँ जो 'समानांतर रूप से' विकसित होती हैं उदाहरणस्वरूप सहयोगी संस्थाओं में जैसे सी तथा आई सी एल इ आई ।
- समर्थकों के द्वारा अक्सर प्रेरित आंतरिक गतिविधियाँ जिनके महत्व को न्यून नहीं आँका जाना चाहिए।

शहरों के विश्लेषण करने का एक तरीका यह है कि उनके आर्थिक, तकनीकी तथा पर्यावरणीय पहलुओं को उनकी सामाजिक व्यवस्थाओं, परिप्रेक्ष्यों व सन्दर्भों से जोड़ा जाए। इन तीन व्यवस्था परिप्रेक्ष्यों पर आधारित करके 'शहरी हरितकरण' पद पर विचार किया व परखा जा सकता है।

एक सामाजिक–आर्थिक पद्धति के साथ भिन्न–भिन्न पहलकदमियों के मूल्य से लेकर आधारभूत संरचना, तकनीकी व नई नौकरियों में निवेश तक हरित अर्थ व्यवस्था के आर्थिक पहलुओं पर ध्यान केंन्द्रित किया जा सकता है। अध्ययनों की एक बड़ी संख्या संकेत देती है कि 'हरित' कंपनियों तथा संगठनों में नई नौकरियों की संख्या क्रमिक रूप से बन्द किए गए पुराने, प्रदूषणयुक्त उद्योगों में चली गई नौकरियों की संख्या की तुलना में कहीं ज्यादा है। सामाजिक–आर्थिक पद्धति नव उदारवादी व मिश्रित आर्थिक सिद्धान्तों के साथ अक्सर जुड़ी होती है परन्तु विशेष क्षेत्रों में उन पद्धतियों को भी शामिल करती है जो टिकाऊपन में योगदान दे सकते हैं; जैसे—भवनों का रोधन, निर्माण के लिए जीवाश्म मुक्त तकनीकी का विकास तथा फैला हुआ शहरी और–शहरी अर्धशहरी खाद्य उत्पादन जो नौकरी एवं व अधिक सुरक्षा पैदा करते हैं।

सामाजिक–आर्थिक पद्धति विशेष रूप से जिलावार अथवा शहरवार हस्तक्षेपों का आकलन करने के लिए उपयुक्त है जहाँ तकनीकी नवाचार नए, टिकाऊ तथा हरित हलों को पैदा करना और साकार करना संभव करता है। ऐसे स्थिति सम्बंधित शहरों या स्मार्ट शहरों के साथ अक्सर विस्तृत वाणिज्यिक विपणन होता है और होते हैं स्थानीय मेयर व राजनीतिज्ञ जो टिकाऊपन के मुद्दे पर अपनी अग्रगामी स्थिति का प्रदर्शन करना चाहते हैं।

शोध की शब्दावली में, परिस्थिति सम्बंधित शहरों अथवा स्मार्ट शहरों की पहलकदमियों को कुछ शक की नजरों से देखा जाता है तथा टिकाऊ व न्यायसंगत शहरों के विकास में उनके योगदान पर प्रश्न खड़े किए गए हैं। शहरी क्षेत्रों में और इनके माध्यम से प्राकृतिक व्यवस्थाओं व संसाधन आवाजाही के मामले में सामाजिक–पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल बहुत ही व्यापक तरीके से किया गया है। सारे शहर भले उनका आकार कुछ हो, हवा, पानी, खुले स्थानों तथा वनस्पति पर आश्रित हैं। औद्योगिक युग के दरम्यान हालाँकि इन परिसम्पत्तियों के मूल्य को इस हद तक कम आँका गया कि प्रदूषित जल, क्षीण हवा तथा मनोरंजन के अवसरों की कमी के कारण आदमी की सेहत एकदम बेकार हो गई है।

हाल के वर्षों में इन मुद्दों की समझ तथा ज्ञान में आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई है। शहरी क्षेत्रों में मानव को जो सेवाएँ प्रकृति देती है उनको आँकने के लिए पारिस्थितिक तन्त्र सेवाओं के अध्ययन अधिक समान उपकरण बन गए हैं। इसलिए पारिस्थितिक तंत्रों का रख–रखाव व वृद्धि भी सामाजिक–पर्यावरणीय तंत्रों में प्रतिरोध क्षमता का आधार बनते हैं। प्रचंड घटनाओं व अन्य परिवर्तनों का सामना करने के लिए प्राकृतिक छलनियों व बाँधों का जीर्णोद्धार अक्सर नई आधारभूत संरचनाएँ बनाने से ज्यादा योग्य साबित हुआ है। यह

और फायदों की ओर भी ले जा सकता है जैसे बढ़ा हुआ जैविक वैविध्य, शहरी खाद्य उत्पादन के लिए बेहतर अवसर, ग्रीनहाउस प्रभाव में कमी व निवासियों के लिए मनोरंजन के उन्नत अवसर।

वर्गीकरण

शहरी हरितकरण की छतरी तले पहलकदमियों के विविध फैलाव को वर्गीकृत करने के बहुत संभव तरीके हैं। भौगोलिक पैमाने पर आधारित एक प्रारूप वर्गीकरण जो लघु से व्यापक के रूप में व्यवस्थित है, निम्नवत् प्रस्तुत है।

पैमाने के सबसे छोटे सिरे की पहलकदमियाँ, छोटे भवन, भी जरुरी हैं क्योंकि वे उदाहरण के रूप में काम करते हैं तथा पहलकदमियों के समेकित प्रभाव में योगदान देते हैं, अधिकतर पहलकदमियाँ स्वैच्छिक होती हैं लेकिन कभी-कभी अनुदानित होती हैं। इनमें निम्न-ऊर्जा बल्ब, सौर पैनलों को स्थापित करना, घरेलू कूड़े कचरों को वनस्पतिक खाद्य बनाना व साइकिलों तथा जन परिवहन का बढ़ता इस्तेमाल शामिल है।

सामूहिक खरीद और निर्णय से एक खंड अथवा किरायेदार-स्वामी संगठन पैमाने का अर्थ-प्रबंधन कर सकता है।

तीसरा स्तर एक क्षेत्र एक उपनगर अथवा जिला है जहाँ स्थानीय अधिकारी रणनीति से सम्बंधित निर्णय ले सकते हैं, उदाहरण स्वरूप जिला को गर्म करने में निवेश। यह भी है जहाँ मुख्य पुनर्विकास परियोजनाओं का कार्यान्वयन किया जा सकता है, उदाहरण स्वरूप जब घरों और नए व्यापारों की राह निकालने के लिए पूर्व के जहाज निर्माण या औद्योगिक क्षेत्रों का फिर से निर्माण किया जाता है या उन्हें नष्ट कर दिया जाता है।

टिकाऊपन के परिप्रेक्ष्य से उस भूमि पर जो पहले से निर्मित था शहरी विकास श्रेयस्कर है, क्योंकि जल, निकासी तथा अन्य सेवाएँ पहले से ही अपनी जगह पर हैं, अन्य क्षेत्र से जोड़ने का व्यय औसतन कम पड़ता है। हालाँकि ग्रीनफील्ड स्थलों पर यदि शहरी सेवाओं को प्रति निवासी अथवा प्रति क्षेत्र इकाई की दर से जोड़ा जाए तो नया भवन निम्नतर घनत्व व उच्चतर व्यय देता है।

हालाँकि ऐसी अधिकाँश समग्र पुनर्विकास योजनाएँ, उदाहरण के तौर पर गोथेनबर्ग में अल्वास ट्रैंडम, मुख्य रूप से मध्यवर्गीय निवासियों को लक्षित करते हैं, जबकि इसकी जरुरत नहीं है, ये परियोजनाएँ इसके लिए अच्छे अवसर प्रदान करती हैं कि एक टिकाऊपन खाका प्रतिबिंबित हो जो न्याय को बढ़ावा देता हो तथा ये जर्जर क्षेत्रों के पुनर्निर्माण में योगदान दे सकती हैं और आकर्षक क्षेत्रों तक पहुँच को बढ़ावा दे सकती हैं।

अगले स्तर पर, जो पूर्ण शहर, एक स्थानीय प्राधिकार या एक बड़ी व्यवस्था में कई स्थानीय प्राधिकार हो सकता है, ऐसी योजनाओं जैसे ऊर्जा क्षमता वृद्धि, हरित आधारभूत संरचना अथवा कूड़ा-कचरा पुनरावर्तन की नीतियों और रणनीतियों के लिए पहलकदमी कर सकता है, इस पैमाने पर, मिलाजुला कार्य के मिश्रित फायदे महत्वपूर्ण हो सकते हैं। परन्तु यह स्थानीय संतुलन और शक्ति एवं उत्तरदायित्व के वितरण पर भी निर्भर करता है।

अन्ततः जैव भौतिक प्रक्रियाएँ (जैसे देश और शहर, नदियों और बाँधों का संतुलन स्थापित करना), आर्थिक विकास तथा संसाधन उपयोग के मामले में शहरी क्षेत्र सबसे पैमाना बनते हैं। हालाँकि ऐसे एक क्षेत्र को स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्तरों के बीच सुसंगत सीमाओं और शक्तियों के साथ जैसे एक जिला प्रशासनिक बोर्ड, जिला काउंसिल अथवा क्षेत्र, किसी प्रकार के प्रशासन की आवश्यकता होती है।

हरितशहर, शहरी हरितकरण व हरित, टिकाऊ शहरों को बढ़ावा देने के लिए बढ़ता समर्थन कई स्थानिक कार्यसूचियों पर प्रधानता से दिखलाई दे रहा है, आरम्भिक तौर सबसे ऊपर यह समृद्ध देशों में दिखलाई पड़ रहा है लेकिन यह तीव्रता से विश्वव्यापी हो रहा है। ऐसे कार्यक्रमों और पहलकदमियों का उपयोग निःसंदेह कभी-कभी वाणिज्यिक हितों के लिए किया जा सकता है। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए एक मुख्य चुनौती इन हितों को जहाँ तक संभव हो जनता के फायदे से जोड़ना है। सारे स्तरों पर हरित कार्यसूचियाँ प्रोत्साहनों तथा उद्देश्यों का एक जटिल मिश्रण दर्शाती हैं।

फिर भी, प्रगतिशील पहल कदमियों व कार्यवाईयों के लाभों के कई उदाहरणों में मुख्य संभावनाएँ अन्तर्निहित हैं, चाहे इन्हें सीधे जलवायु परिवर्तन को कम करने अथवा उनसे अनुकूलन के लिए या शहरों को उनके निवासियों के लिए ज्यादा आकर्षक रूप में रहने के लिए उठाया गया हो।

यह कई स्थानीय सरकारों के संकुचित सरकारी पूँजी व सीमित क्षमता के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है और इसलिए समुचित उपायों को विकसित व कार्यान्वित करने के लिए मजबूत औचित्य प्रदान करता है।

यहाँ पेश किए गए कई बदलावों के कार्यान्वयन के अवरोधों में एक दुनिया के कई हिस्सों में पुराने शहर योजना कानून हैं। ये 20वीं सदी के बीच के दिशा-निर्देश हैं जो उस समय के सिद्धान्तों और मूल्यों को प्रतिबिंबित करते हैं जो समकालीन शहरीकरण की जटिलताओं व गति की एवं और अधिक निर्धन शहरी निवासियों की व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए प्रतिकूल है।

हालाँकि विशेषकर पिछले निवेशों व औद्योगिक मंदी के कारण बदलाव को कार्यान्वित करना कठिन भी है और अधिक समय लेने वाला भी। यह सच है भले ही शहरी ऊर्जा व्यवस्था में टिकाऊपन बेहतर करने व शहरी और सीमान्त-शहरी कृषि विकसित करने तथा शहरी हरितकरण के अन्य प्रकार की आवश्यकता सर्वविदित और स्वीकार्य दोनों है। केवल वर्तमान नियमों को लागू नहीं करने से, उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक स्थानों पर खेती को स्वीकृति देकर, स्वयं ही नवीनीकरण के लिए कुछ मुख्य समर्थन हो सकता है।

ऐसे समाजों में जहाँ निजी संपत्ति अधिकार पवित्र हैं, कई व्यक्ति सरकारी नियमों तथा 'हस्तक्षेप' को नापसंद करते हैं, भले ही ये सामाजिक चुनौतियों के सम्बन्ध में हों, राजनीतिक प्रतिबद्धता, पूर्व के निवेशों व मजबूत हित-समूहों से जुड़कर यह क्रमिक हरित हस्तक्षेपों से मौलिक रूपांतरणकारी बदलावों की यात्रा केा एक कठिन चुनौती बना देता है।

आम तौर पर किसी-न-किसी प्रकार से जलवायु परिवर्तन से सम्बंधित पर्यावरणीय मुद्दे बल्कि राजनीतिक कार्यसूची में तीव्रता से बढ़े हैं, कभी कभार ही वे निर्णायक चुनावी मुद्दे बने हैं, हालाँकि, विश्वभर में स्थानीय प्राधिकार तीव्रता हरितकरण उपायों के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सक्षम हुए हैं। ये हरितकरण उपाय भवनों व मुख्यत: स्थानों दोनों के लिए हैं जो पृथक्करण से ऊर्जा बचत, मानकों, वर्षा जल के अन्त:सरण व तेजी से फैलने वाले प्रतिकूल वनस्पति प्रजातियों के नियंतण तक फैले हैं। इसके बराबर ही महत्वपूर्ण निवासियों के लिए स्थानीय अनुदान तथा अन्य प्रोत्साहन हैं जिससे कि वे भी इसमें स्वयं शामिल हो सकें। इसमें सौर पैनलों को स्थापित करना, विदेशी के स्थान पर देशी प्रजातियों की खेती करना, शावर व डिशवाटर के पानी को सींचने के लिए फिर इस्तेमाल करना, छोटी सैर के लिए साइकिल का प्रयोग करना या कार पूल और जन परिवहन का इस्तेमाल करना हो सकते हैं।

साख तथा दुकानदारी दोनों के लिए निजी फार्मों का टिकाऊपन के लिए विभिन्न उद्योग मानकों का स्वैच्छिक पालन करना जरुरी हो गया है, उदाहरणस्वरूप इंग्लैण्ड में बी आर इ इ एएम (विश्व का सबसे पुराना मानक, 1990 में स्थापित) भवनों के लिए एक वैश्विक मानक व कई अन्य देशों में समान प्रमाणी करणों के लिए मॉडल बन गया है।

अन्त में, शहरी योजना में प्रकृति की भूमिका पर चेतावनी के दो बोल, इसमें छिपा हुआ व कुछ हद तक मुखरित विचार यह है कि प्रकृति को शहर और इसकी योजना के लिए वश में अथवा अनुकूल कर लिया जाए। इसमें कुछ कार्य हो सकते हैं जैसे शहरों के किनारों पर गीली जमीनों और समुद्र तटों की हिफाजत करना। ऐसे कई क्षेत्रों का प्रयोग फुर्सत के क्षणों या मनोरंजन के लिए किया जाता है, उसी प्रकार घास भरे क्षेत्रों का उपयोग खेलकूद के लिए किया जाता है। बल्कि, 'प्राकृतिक' क्षेत्र के रूप में उन्हें संरक्षित करने के लिए कुछ स्थानों में व्यक्तियों का प्रवेश वर्जित करने की भी एकप्रवृत्ति है। यदि विशेष तौर पर असुरक्षित प्रजातियाँ अथवा पारिस्थितिक तन्त्र शामिल न हों तो ऐसी अनयता की अनदेखी की जा सकती है। प्रकृति को मानवीय गतिविधियों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

पर्यावरणीय रूप से नवाचारी शहर बनाने की अपने प्रयत्न में शहरी डिजायनर प्रकृति-छवि लैंडस्केप आर्किटेक्ट मानव संस्कृति की अनदेखी नहीं कर सकते। समाज की समस्याओं का जवाब अविकृत प्रकृति में ढूँढने का हर प्रयास प्रकृति को उस रूप में देखने की कोशिश है जैसी यह है या मानवों की पूर्ण अनुपस्थिति में थी। फिर भी योजना अपरिहार्य है तथा कोई भी परियोजना चीजों को उस हालत में वापस नहीं ला सकती जैसा वे मानवों के आने के पहले थीं।

● शहरी पात्रता

2015 के यू एन सस्टेनेब्ल गोल्स (SDGs) ने इस विचार को सामने रखते हुए कि लोग चाहे किसी भी जगह हों उन्हें सार्वभौमिक रूप से प्रयुक्त किए जाने वाली इच्छाओं की कामना करनी चाहिए कि इनमें इस व आने वाली पीढ़ियों में 'कोई पीछे न छूटें', अपनी वैश्विक मूल्यों में एक रूप लाया, हमें पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को कई स्तरों पर समझने की जरुरत है।

संयुक्त राष्ट्र का नया शहरी लक्ष्य (नं० 11) शहरों को समावेशी, सुरक्षित, टिकाऊ व लचीला बनाने का उद्देश्य रखता है।

टिकाऊ विकास के लिए ये हिस्से एक दूसरे पर आश्रित हैं। लक्ष्य 11 को प्राप्त करने के लिए यहाँ तक कि निर्धन और असमान शहरों में जिस प्रकार (खास तौर पर धनवान) रहते हैं उसे धरती के लिए कम नुकसानदायक बनाना है।

2015 के बाद कार्यसूची की सबसे बड़ी चुनौती न्याय को वैश्विक रूप से अनुकूलित करना है व विश्व भर के सारे शहरी निवासियों को समान निम्नतम नियम और रक्षा प्रदान करनी है। वर्तमान में इसका कोई तर्क नहीं कि शहरी निवासियों की पूर्व, वर्तमान व भविष्य की पीढ़ियों के लिए न्याय के अलग-अलग संस्करण हों। साधारण सा तर्क है—सारे शहरी निवासी समान हैं तथा उनकी सुरक्षा की जानी चाहिए।

लेकिन वास्तविक रूप से उन शहरों में क्या किया जा सकता है जहाँ असमानता व अन्याय का वास है? यह अध्याय एक परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन करता है जो एक ऐसे मत, जो शहरों में एक अधिक न्यायपूर्ण भविष्य के बनाने की कामना रखता है, की अवधारणा, रूपरेखा व कार्यान्वयन को समन्वित करती है।

पहला केन्द्रीय उद्देश्य है रूपरेखा, संस्कृति व प्रशासन के मामले में शहरों के अन्याय को कम करने की कोशिश करना। यह अध्याय शहरों पर केन्द्रित है परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उचित विकास को निश्चित रूप से किसी स्थानीय प्रशासन द्वारा उत्पन्न व नियंत्रित किया जाए। यह उद्देश्य केवल एक याददिहानी है कि एक और अधिक न्यायोचित विश्व के निर्माण को कार्यरत करने के लिए स्थानीय प्रशासनों के पास अबतक आवश्यक शक्तियाँ और संसाधन नहीं हैं।

क्या न्यायोचित है इसकी अवधारणाएँ विभिन्न शहरी विचारों व व्यवहारों से सम्बन्धित हैं और वे समान रूप से न्याय को परिभाषित नहीं करतीं। बात न्याय के एक मत को दूसरे के विरुद्ध रखने की नहीं है बल्कि इस बात के महत्व को रेखांकित करते हुए आरम्भ करने की है कि शहर के सम्बन्ध में विविध मूल्यों के बारे में हम किस प्रकार से सोचते हैं और तब हम उन प्रमुख कारवाई कर्ताओं और उपकरणों को परिभाषित करें जो शहरों में मूल्य-आधारित हस्तक्षेपों को विकसित कर सकते हों।

शहरी विकास के व्यापक क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्थानिक सन्दर्भ के महत्व को स्वीकार करते हुए, यू एन-हैबिटैट (UNHABITAT) अब राष्ट्रीय शहरी विकास योजनाओं के विचार को आगे ले जा रहा है। ऐसा यह हैबिटैट (HABITAT III) की तैयारियों के माध्यम से एस डी जी गोल 11 को साकार करने के लिए जरुरी वचनबद्धताओं को कार्यरत करने के एक साधन के रूप में कर रहा है। SDGs और HABITAT III शहरी जीवन की गुणवत्ता में राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय असंगतियों के साथ सारे शहरों के लिए एक वैश्विक कार्यसूची परिभाषित करने की एक कोशिश का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आस-पास के सैद्धांतिक मतभेदों के अलावा शहरों में पुनर्वितरण तथा सामाजिक सुरक्षा में सरकारों से समुचित रूप से अपेक्षा की जानी चाहिए कि उच्च, मध्य व आय सन्दर्भों में न्याय और समानता की अवधारणाओं के उपयोग में साफ अन्तर भी हैं। इस बात पर भी विवाद के महत्वपूर्ण बिन्दु हैं कि न्याय और समानता के सम्बन्ध में किस तरह राज्य की भूमिका को देखा जाए।

पश्चिमी दुनिया में वर्तमान में इस बात की निश्चितता संकट में है कि सरकारें न्यायपूर्ण शहरों के प्रबंधन को संभाल सकती हैं। यहाँ तक कि सम्पन्न समाजों में भी शहरी वातावरण, खासकर निर्धनों के लिए, बेकार हो गया है, इसलिए एक न्यायपूर्ण शहर की दृष्टि को पुनर्निर्माण की जरुरत है।

वैश्विक दक्षिण (Global South) में प्रारम्भिक बीसवीं सदी में बने वातावरण में शहरी योजना और सार्वजनिक निवेश शहर के सबसे असुरक्षितों की हालत की प्रमुख रूप से अनदेखी करते हुए केवल विदेशी व स्थानीय अभिजात वर्ग के हितों की पूर्ति करते थे। विकासशील देशों के लिए वैश्विक समर्थन के उदय से यह स्थिति सीमित तरीकों से बदली, उदाहरण स्वरूप पर विशेष परियोजनाओं के माध्यम से बुनियादी आवश्यकताओं जैसे जल और सफाई व्यवस्था अथवा आवास तक पहुँच प्रदान कर। इस सदी में केवल बाद में शहरी सामाजिक सुरक्षा और शहरी निर्धन अपनी आजीविका को बेहतर करने के लिए स्वयं क्या कर सकते थे, पर तात्कालिक रूप से ध्यान फोकसित किया गया।

वैश्विक दक्षिण में ऐसे शहरों की संख्या अब बढ़ रही है जिनके पास न्याय तथा समान मूल्यों पर आधारित सामाजिक सुरक्षा है बल्कि यह असमान रूप से वितरित है। अब शहरी योजना के सामूहिक लाभों में एक फिर से उपजी दिलचस्पी भी है। हालाँकि शहरी निवासियों के ज्यादातर हिस्से के लिए यहाँ तक कि अल्पतम अधिकारों की प्राप्ति में अभी बहुत देर है। बहुत सारे नगरों व शहरों में यहाँ तक कि अत्यधिक बुनियादी घरेलू सेवाओं तक के स्तरों का अभाव जारी है जो शहरी निर्धनों के अवसरों को खत्म कर दे रहा है।

इस बात पर कोई आम विद्वतापूर्ण असहमति है कि एक शहर में न्याय का अर्थ क्या हो सकता है या न्याय को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। न ही एक 'न्यायपूर्ण शहर' का कोई सार्वभौमिक मॉडल है, लेकिन यह संभव है कि परोक्ष रूप से एस डी जी इस आधार रेखा को परिभाषित कर देगा जैसे की HABITAT III के अंतर्गत 'शहर को अधिकार' पर विमर्श एक वैश्विक मानक का निर्माण कर सकते हैं।

आज के शहरी वातावरण में बढ़ती विसंगतियों को देखते हुए, यह उपयोगी हो सकता है कि न्यायपूर्ण शहरी विकास की पूर्ववर्ती विचारधाराओं पर गौर किया जाए तथा इस पर भी कि किस प्रकार ये आदर्शवादी विचार शहरी प्रबन्धन की बदली हुई विधियों से मेल खा सकते हैं खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ शासन व प्रशासनिक शासन पद्धति पश्चिमी यूरोप से भिन्न हैं, जहाँ व्यापक पैमाने के वितरण की कई विधियाँ विकसित हुईं।

● 21वीं सदी में शहरों के लिए आदर्श विचारधाराएँ

वर्तमान तथा भविष्य के शहरों को सुधारने का अवधारणात्मक काम अपना ध्यान निवासी पर केन्द्रित करता है। हालाँकि आबादी के बढ़ने व खपत ने बहुत सारे पर्यावरणशास्त्रियों को यह मानने पर विवश कर दिया है कि जलवायु परिवर्तन और पारिस्थितिकी तन्त्र का विनाश जिस तरह शहरी निवासी रहते हैं उसके कारण होते हैं और हमें प्राकृतिक व्यवस्था में मानवों की भूमिका के बारे में व अधिक सचेत होना चाहिए। इस व्याख्या में, न्याय का पद ज्यादा पर्यावरणीय पदचिन्ह, अंतरपीढ़ी समानता व अंतरप्रजातीय सहनिवास के बारे में है। लेकिन राजनीतिक पर्यावरणशास्त्री भविष्य के हल के रूप में शहरों को ही नहीं नकार देते लेकिन वे मूल्य-आधारित शहरी प्रबंधन तथा नवाचारी विधियों के माध्यम से शहरों को बदलना चाहते हैं।

कई शहरवादियों, इसमें उनको भी सम्मिलित कर लें जिनके लिए अर्थव्यवस्था के बदले पर्यावरण न्याय का आधार है, के लिए यह शहरी निवासियों की एक रोजाना आधारभूत रचना तक पहुँच है जो न्याय पैदा

करती है। यह केवल एक भौतिक प्रक्रिया नहीं है अपितु यह है जो शहर पर नागरिक के अधिकार को पहले से मानकर चलती है जहाँ भेदभाव से मुक्ति शहरी जीवन व संस्कृति में प्रतिभागिता को सक्षम बनाती है।

कुछ लोगों का मानना है कि एक न्यायपूर्ण शहर के निर्माण का आरम्भ इन बुनियादी सवालों को संबोधित कर होती है कि शहर को किन जरुरतों की पूर्ति करनी चाहिए। जो भी सन्दर्भ हो शहरी पैमाने पर न्याय संरचना, अधिकारियों और संस्थानों के मध्य परस्पर क्रिया पर आधारित है। यूरोपीय सन्दर्भ में, जिस प्रकार से बहुत ही हाल में शहर में अन्याय को अभिव्यक्त किया गया है वह प्रवासियों, हाशिए पर के लोगों, समूहों के अ-समावेश के जरिये से जाहिर हुआ है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य (लैंगिकता, जातीयता और भाषा को शामिल करते हुए भेदभाव के विभिन्न प्रकारों पर अंशत: आधारित) बस सेवाओं की उपलब्धता नहीं, पहुँच और वितरण के मुद्दों को देखने का एक दृष्टिकोण प्रदान करता है। एक यूटोपियाई आदर्श की तरह शहर का अधिकार न्याय की अवधारणा को चार तरीकों से सामने रखता है।

1. हथियाई हुई जमीन को वापस प्राप्त करने के लिए यह एक पूर्वशर्त है।

2. यह सम्पूर्ण शहर के लिए एक रणनीति है न कि केवल व्यक्तियों व परिवारों के लिए।

3. यह मानता है कि झुग्गी-झोंपड़ी क्षेत्र अथवा हाशिए पर के पड़ोस स्थानीय शासन की एक समूची व्यवस्था में समाहित होते हैं।

4. यह आश्रय के सार्वभौमिक अधिकार की माँग की आवाज उठाता है।

SDGs और HABITAT III एक न्यायपूर्ण शहर को क्या जरुरी है इस पर अधिक विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं लेकिन आज के सामाजिक विकास के लिए एक तथा अधिक न्यायपूर्ण शहरी भविष्य हेतु अवधारणात्मक और राजनीतिक ढाँचे के रूप में सबसे ज्यादा स्वीकृति सामाजिक अ—समावेश और शहर पर अधिकर की।

शहरों को बदलाव के बहुत सारे रास्ते हो सकते हैं और कुछ समृद्धि की स्थितियों के लिए बेहतर रूप से उपयुक्त हैं तो कुछ अत्यधिक निर्धनता के सन्दर्भ के लिए तथा अधिक न्यायपूर्ण बनने के लिए किस प्रकार शहर अपने को बदलने का प्रयास करते हैं इस पर आधारित अधिक व्यावहारिक सामग्री हस्तक्षेप के चार सामान्य क्षेत्रों को चिन्हांकित करती है।

1. शहरी योजना

2. कल्याण अथवा सामाजिक सुरक्षा

3. नागरिकों की प्रतिभागिता

4. हाशिए के समूहों की खुद की कार्रवाई

कभी-कभी ये एक-दूसरे से प्रतिद्वंदिता करते हैं तथा कुछ मामलों में एक हल दूसरे से बेहतर काम करता है। लेकिन 'एक न्यायपूर्ण शहर' को पूरा करने के लिए ये साधन एक-दूसरे पर परस्पर आश्रित हैं।

यूटोपियन आदर्शों को बढ़ावा देने और न्यायपूर्ण शहर बनाने के उपकरण

व्यक्तियों अथवा समूहों की शहर में न्यायपूर्ण ढंग से प्रतिभागिता करने की क्षमता को विभिन्न कारक प्रभावित करते हैं। ये कल्याण (भोजन, पानी, धन) सुनिश्चित करने के बुनियादी कारकों से लेकर अपराध से मुक्ति तथा स्वतंत्रता से घूमने-फिरने अथवा पर्यावरणीय सुरक्षा का उपभोग करने के अधिक जटिल कारकों तक फैले होते हैं।

न्यायपूर्ण शहरों को बढ़ावा देने के सारे हस्तक्षेपों में अधिक बड़ी पूँजी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस बात के स्पष्ट रूप से गहरे राजनीतिक व वित्तीय निहितार्थ है कि विभिन्न कारकों को किस प्रकार का महत्व दिया जा रहा है। प्रत्येक रणनीतिक निर्णय को अपनाए गए उपायों को शुरू करने में समर्थ होने के लिए संस्थानात्मक समर्थन की भी जरुरत होती है।

● शहरी योजना

शहर स्वाभाविक रूप से न्यायपूर्ण जगहें नहीं हैं। भूमि व श्रम के बाजार वर्तमान और भविष्य के निवासियों को असमान लाभ प्रदान करते हैं। लेकिन, किस प्रकार शहरों की रूप रेखा तैयार की जाती है, उनका प्रबंधन किया जाता है और उन्हें चलाया जाता है, उनसे समावेश व अ-समावेश के प्रकार प्रभावित होते हैं। यह और कहीं भी और उतना प्रत्यक्ष नहीं है। जितना अफ्रिका, एशिया व लैटिन अमेरिका के तेजी से विकसित होते शहरों में है। यहाँ बेहतर योजना क्षमता वाले शहर कमजोर योजना वाले शहरों की बनिस्बत वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रवेश करने तथा फलने-फूलने में अधिक सक्षम प्रतीत होते हैं। वे वैश्विक योजना प्रणालियों को अंशत: ऑवरलैप करते हैं, यहाँ तक कि उनसे प्रतिद्वंदिता करते दिखते हैं, लेकिन, किसी शहर में सक्षम योजना किसी प्रकार से यह निश्चित नहीं करती कि जनता की आवश्यकताओं को न्यायपूर्ण तरीके से संबोधित किया जा रहा है तथा इसमें राजनीतिक इच्छाशक्ति की आवश्यकता है कि सामाजिक योजना जनता की बेहतरी की पूर्ति करती है।

इस कारण कौन एक न्यायपूर्ण शहर योजना की मशीन को चला सकता है? इसका पारंपरिक उत्तर स्थानीय सरकार है हालाँकि कई शहरों (बड़े देशों की तरह केन्या और भारत को भी इसमें शामिल कर सकते हैं) में इस स्तर पर निश्चित लोकतांत्रिकता या कार्यरत प्रशासन का अभाव है। बिना एक सक्षम नगरपालिका व्यवस्था तथा एक स्थानीय अभिजात वर्ग के, जो उन निहित स्वार्थों, जो शहरी राजनीति पर अक्सर छाए रहते हैं, से ऊपर उठकर निर्धनों व वंचितों के हितों को बढ़ावा देने के लिए कटिबद्ध है, शहरी प्रबंधन के प्रभावकारी और समावेशी व्यवहारों को प्राप्त करना ज्यादातर असंभव है।

हालाँकि, इसमें अन्य लोग भी हैं जो न्यायपूर्ण शहर की कार्य सूची को संचालित कर सकते हैं और शहरी नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित कर सकते हैं। अमेरिका तथा वैश्विक दक्षिण के मामले में, जहाँ समाजवाद की उतनी महत्वपूर्ण परम्परा नहीं है जितना यह यूरोप अथवा आस्ट्रेलिया में है, अक्सर यह राष्ट्रीय सरकार और मजबूत नागरिक समूह और कम्पनियाँ हैं जो विकास व पुनर्वितरण कार्यसूचियों को संतुलित करने के लिए महत्वपूर्ण शहरी कार्यान्वयक हैं।

एक न्यायपूर्ण शहर को प्राप्त करने के लिए सरकार, समुदायों तथा निजी क्षेत्र में सक्षम प्रशासकों और पेशेवरों का रहना जितना जरुरी है उतनी ही उनकी मिलकर कार्य करने की क्षमता। कई शहरों के लिए समस्या यह है कि यह साफ नहीं है कि मुख्य कर्ता कौन हैं, शायद इसलिए कि निजीकरण या आउटसोर्सिंग ने उनकी भूमिका को ढँक लिया है अथवा फिर यह हुआ है कि संसाधनों को आबंटित करने या वितरित करने के दौरान पारंपरिक अधिकारियों अथवा नागरिक समाज की भूमिका को ना मान्यता दी गई ना इनका प्रवेश हुआ।

इस बात को निश्चित करने का कोई एकमात्र रास्ता नहीं है कि किसी शहर में न्याय का व्यवहार होता है। सिंगापुर जैसे कुछ शहरों ने योजना को सशक्त करके व शहरी वृद्धि प्रक्रिया का कठोरता से प्रबंधन करके महान प्रगति की है, अन्य शहरों, जैसे पोर्टो एलेग्री तथा क्यूरिटिबा ने शहरी निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में प्रतिभागी योजना पर जोर दिया है। हालाँकि, ये भिन्न उदाहरण इस बात को प्रकट करते हैं कि ऐसी गतिविधियाँ जो पारदर्शी तथा निर्भरयोग्य हैं किसी प्रक्रिया के न्यायपूर्ण होने में विश्वास प्रदान करते हैं।

सामान्य दक्षिण पूर्वी एशियाई मॉडल, जिनके पास सशक्त भूमि उपयोग नियंत्रण हैं, दर्शाते हैं कि शहरी क्षेत्रों में गतिविधियों की सघनता आर्थिक विकास के लिए बेहतर संभावनाओं, सार्वजनिक सेवा तथा अधिक किफायती वितरण व विशेष पर्यावरणीय चुनौती का सामना करने की और अधिक बड़ी गुंजाइश की ओर ले जाती है। यह दक्षिण एशिया के एकदम उलटा है जहाँ शहरों ने आवासन तथा सेवाओं की घटी हुई दर में सामाजिक एकीकरण को सरकार की मदद के माध्यम से बढ़ावा देने के लिए अपना ध्यान केन्द्रित किया है। लेकिन यहाँ भी अ-समावेश को कम करने में थोड़ी सफलता मिली है। पिछले 15 वर्षों के तहत शहरी निर्धनता

व असमानता दोनों का स्तर नीचे गया है। योजना विधियों के ये विरोधाभासी उदाहरण दर्शाते हैं कि किस प्रकार शहरी योजनाकर्ता न्यायपूर्ण शहरों को प्राप्त करें इसके कारण कोई अंतिम रूप रेखा नहीं है लेकिन संसाधनों के साथ सरकारों की सम्मिलित कार्रवाइयाँ एक जरुरी अंत ला सकती हैं।

प्रभावकारी शहरी विकास और योजना को जरुरी रूप से बहुत ही सन्दर्भ-संवेदनशील होना चाहिए, ऐसी कोई एक नीति नहीं हो सकती जो सब पर लागू हो जाए, पहले की अलग ही ऊपर से नीचे की योजनाएँ कई सन्दर्भों में कारगर नहीं हुई हैं, हालाँकि UNHABITAT के अनुरूप, ऐसे चार योजना हस्तक्षेप हैं जिनके बारे में व्यापक रूप से समझा जाता है कि वे एक मंच दे सकते हैं जहाँ से एकीकरण और न्याय को बढ़ावा दिया जा सकता है, ये हैं—

बुनियादी सेवाएँ और आधारभूत संरचना

बुनियादी आवश्यकताएँ जैसे सुरक्षा, पानी व स्वच्छता तथा सामाजिक सुविधाएँ जैसे स्वास्थ्य देखभाल और सामाजिक देखभाल तक पहुँच को बढ़िया करने में सघन रूप से रहना सामान्यत: प्रति व्यक्ति और अधिक आसान व सस्ता बनाता है। हालाँकि बड़े शहरों की यह प्रवृत्ति है उन आधारभूत संरचना को प्राथमिकता दे जो आर्थिक विकास को बढ़ावा देती हो अथवा राजनीतिज्ञों को मतदाताओं के सामने लोकप्रिय बनाती हों, इस प्रकार अक्सर व्यय दूरसंचार एवं आवागमन का बुनियादी ढाँचा (Connectivity Infrastructure) जैसे—बन्दरगाह, मोटरों का रास्ता, एयरपोर्ट इत्यादि 'संपर्क आधारभूत संरचनाओं' की तरफ चला जाता है। यह लोगों के लिए बुनियादी आधारभूत संरचनाओं, जिससे शहरी नागरिकों के एक बड़े हिस्से को लाभ मिलता है, के बदले में किया जाता है। न्यायपूर्ण शहरों का निर्माण ऐसी शहरी नीतियों को जरुरी बनाता है जो बड़ी आधारभूत संरचनाओं, सामाजिक व्यय तथा क्षेत्र-विशिष्ट हस्तक्षेपों जैसे आवासन में निवेश को एक समग्र कार्यसूची के हिस्से के रूप में एकीकृत करती हों जिससे सारे निवासियों की पहुँच पूरे शहर तक हो सके।

सार्वजनिक परिवहन

सबको अर्थव्यवस्था में भाग लेने के एक जैसे अवसर प्रदान करने के लिए परिवहन सेवाओं और आधारभूत संरचना जैसे सड़कें, पैदल पथ, बस पथ तथा अन्य आवागमन तरीकों में निवेश के माध्यम से सम्पूर्ण शहरी आबादी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देना जरुरी है। शहरी यातायात नीतियों में असफलता निर्धनों को जरूरी रूप से संकटग्रस्त अवस्था में छोड़ देती है क्योंकि वे लम्बी दूरी तक आने जाने का खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकते व अक्सर बुरे ढंग से अवस्थित क्षेत्रों या सीमान्त में रहते हैं।

शहरी संपत्ति और आवासन

आवासन (रहवास) व संपत्ति एक बड़ी सीमा तक निवासियों की इस क्षमता को तय करती हैं कि वे कहाँ रहना चुनें व इस प्रकार उनकी बचत करने तथा सामाजिक विकास में योगदान करने की क्षमता को भी तय करती हैं। इस क्षेत्र की नीतियों का इस बात पर असर पड़ता है कि एक शहर किस तरह एक जीने योग्य सामुदायिक जीवन को बनाए रखता है, शहरी जीवन में अप्रवासी समूह का समावेश करता है व टिकाऊ शहरी विकास के लिए रणनीति विकसित करता है।

आवासन में अपर्याप्त पहुँच गरीबी तथा अ-समावेश के एक दुष्चक्र, खास तौर पर अप्रवासियों और निर्धन निवासियों के लिए जो अक्सर अस्थायी आवासन पर निर्भर रहते हैं, को बढ़ाता है। अवधि की अस्थिरता का अर्थ यह भी है कि नगरपालिकाओं को कभी-कभी कम कर राजस्व प्राप्त होते हैं तथा इस प्रकार वे आवश्यक सेवाएँ प्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब सेवाओं को अन्य स्रोतों से प्राप्त करना होता है जो अक्सर इन्हें और खर्चीला बना देता है।

इस बात की तरफ अधिक जागरुकता की जरूरत है कि सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय अ-समावेश को रोकने के लिए शहरी योजना एक सशक्त उपकरण है। वर्तमान में जो प्रमुख कमियाँ हैं खासकर वैश्विक दक्षिण के शहरों में, उनसे निबटने के ज्यादा अनियोजित हस्तक्षेपों, जो शहरों को न्यायपूर्ण

जगह बनाने में मदद करेंगे को अधिक स्थान देने की जरुरत को अंधेरे में नहीं धकेलना (ओवरशेडो) चाहिए। इनमें से बहुत जरूरी वे व्यापक पैमाने के सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम हैं जो विशिष्ट रूप से राष्ट्रीय सरकारों द्वारा वित्तपोषित है।

शहरी सामाजिक सुरक्षा तन्त्र

वैश्विक उत्तर में, शहरों तथा देशों के बीच कल्याण समर्थन के पैकेज में भारी विषमता है लेकिन विशिष्ट रूप से उनमें बेरोजगारी भत्ता, आवासन सहायता, पेंशन, बाल समर्थन, नि:शुल्क अथवा अनुदानित स्वास्थ्य सुरक्षा और शिक्षा तथा अन्य सामाजिक सेवाओं का एक विस्तार है। सहायता के लिए प्रशासनिक प्रबंध भिन्न हो सकते हैं लेकिन सरकार व गैर सरकारी संगठनों से वैकल्पिक सेवा देने वालों के अलावा विशिष्ट रूप से स्थानीय सरकारें एक अहम् भूमिका अदा करती हैं।

वैश्विक दक्षिण में, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, सामाजिक बीमा, बाल सुरक्षा आदि जैसे सामाजिक सुरक्षा के तहत सामाजिक आर्थिक नीतियों का एक व्यापक फैलाव है। पिछले दशक में पूरे विश्व के कई देशों में सामाजिक रक्षा के इन प्रकारों का विकास इस बोध को दिखलाता है कि राज्य को बाजारों को आकार देने, विकास के लाभों का पुनर्वितरण करने व मानव पूँजी और निर्धन के कल्याण में उचित निवेश सुनिश्चित करने में एक और ज्यादा सक्रिय भूमिका निभाते हुए सामाजिक क्षेत्र में फिर से लगने की आवश्यकता है।

एक बड़ी अथवा छोटी सीमा तक अधिकाँश शहर सामाजिक सुरक्षा के काम में लगे हैं और यदि यह एक अच्छे तरीके से हो जाता है, अ-समावेश की दरों पर इसका सीधा असर पड़ेगा, सामाजिक सुरक्षा के विकारण न केवल गरीबी को कम करते हैं व आय-विसंगतियों को घटाते हैं, वे मानव पूँजी और उत्पादकता को भी बढ़ाते हैं और अन्य की अपेक्षा कुछ शहरों को ज्यादा ही न्यायपूर्ण स्थान बनाते हैं।

यहाँ तक कि निम्न आय क्षेत्रों में भी यह महसूस हुआ है कि सामाजिक सुरक्षा उपायों का अपना एक महत्व है। लैटिन अमेरिका, अफ्रीका व पूर्व एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के नगरों में सामाजिक सहायता कार्यक्रमों में एक विस्तृत फैलाव हुआ है। वैश्विक दक्षिण के शहरों में सामाजिक सुरक्षा उपायों को अनौपचारिक क्षेत्रों को समर्थन करना है जहाँ ज्यादातर निर्धन शहरी निम्न आय वाली, असुरक्षित नौकरियों में हैं। औपचारिक क्षेत्र में भी इसे गति देने के लिए स्थानीय अधिकारी लोगों के द्वारा अपने व्यापारों को औपचारिक रूप देने के लिए कीमत को कम करने तथा लाभ को बढ़ाने के लिए अपने कानूनों और नियमों को अनुकूल कर सकते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. अभिगनव पहुँच पर प्रकाश डालिए।
2. शहरी संपत्ति व आवासन पर चर्चा कीजिए।
3. शहरी सामाजिक सुरक्षा तन्त्र पर चर्चा कीजिए।

● सारांश

समय के साथ शहरीकरण ने सामान्य रूप से समाजों को तथा अधिक न्यायपूर्ण एवं और अधिक समान कर दिया है लेकिन इसके बावजूद शहर स्वयं असमान तथा अन्यायपूर्ण जगहों के रूप में रह गए। इसके अनेकों कारण हैं कि देशों, क्षेत्रों व पूरे विश्व में शहरों में इतनी भारी असमानताएँ क्यों हैं। सारे शहरों में भिन्न राजनीतिक, सामाजिक व पर्यावरणीय शक्तियाँ हैं, इसलिए उन्हें और अधिक न्यायपूर्ण बनाने में दीर्घकालिक राजनीतिक कार्य की जरुरत है।

सारे शहरों के पास एक से पर्यावरणीय संसाधन नहीं हैं जो इस बात को प्रभावित करता है कि शहरों के मध्य पानी, ऊर्जा व भोजन जैसी सेवाएँ कैसे गतिमान होती हैं। न ही एक शहर में सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं का न्यायोचित वितरण केवल वर्तमान की माँगों पर फोकसित रह सकता है, इसे भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को भी जरूर देखना होगा।

शहरी असमानता व निर्धनता को समझने के लिए उन आर्थिक शक्तियों को भी समझना आवश्यक है जो शहरी जीवन को आकार देते हैं और उसकी संरचना करते हैं। पूँजी व श्रम के प्रवाह जो शहरों को खिलाने या भूखा रखने की क्षमता रखते हैं; वैश्विक और राष्ट्रीय नियामक शक्तियों की तरह व्यापार समझौतों, सूद दरों और उत्पाद मानकों से अत्यंत प्रभावित होते हैं।

असमान रूप से वितरित प्राकृतिक संसाधनों, अपने भिन्न इतिहासों तथा पूँजी के असमान वैश्विक और राष्ट्रीय प्रवाहों, जो कुछ शहरों में नौकरियाँ पैदा करते हैं व अन्य में नहीं के कारण शहर न्यायपूर्ण नहीं हैं। नौकरियों तथा आर्थिक अवसरों तक न्यायपूर्ण पहुँच बढ़ाने में शहरों के हस्तक्षेप भविष्य के न्यायपूर्ण शहरों का निर्माण करने के कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण साधनों में हैं।

शहर इसलिए भी न्यायपूर्ण नहीं हैं क्योंकि अभिजात समूह अपने हितों की सुरक्षा करते हैं और करों में अपने योगदान को कम-से-कम कर देते हैं जिनपर सामाजिक पुनर्वितरण आश्रित होता है। शहरों में न्यायपूर्णता नहीं होना जातीयता, उम्र, लैंगिकता, धर्म और भाषाई पूर्वाग्रह इत्यादि का परिणाम भी हो सकता है। शहरी समाजों के बहुत ही अधिक गंभीर फॉकों में एक युवा लोगों तथा अप्रवासियों का हाशिए पर होना भी है।

शहरी न्याय की प्राप्ति में कई स्तरों (वैश्विक, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व स्थानीय) पर और विभिन्न कर्ताओं (सरकारें, प्राधिकार और निजी क्षेत्र) से कार्रवाई की जरुरत है। न्याय में एक आम सहमति निहित है जो दूसरों की माँगों को मान्यता देती हो तथा सार्वजनिक हितों को निजी हितों के आगे रखती हो। शहरी आदर्शवादी विचारों की एक समृद्ध विरासत है जिससे हम बहुत कुछ ले सकते हैं व हमें लेना चाहिए जब हम नवाचारी रूप से एक सामूहिक एवं और न्यायपूर्ण शहरी भविष्य के बारे में विचार कर रहे हों।

● अभ्यास प्रश्न

1. शहरी पात्रता को समझाइए।
2. शहरी योजना का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. शहरी व्यवस्था के अन्तर्गत बुनियादी सेवाएँ व आधारभूत संरचना को स्पष्ट कीजिए।

●

इकाई-IV

12

एक समावेशी शहरी लोकतंत्र की ओर

(TOWARDS AN INCLUSIVE URBAN DEMOCRACY)

संरचना

- उद्देश्य
- प्रस्तावना
- समावेशी शहरीकरण
- टिकाऊ शहरी व्यवस्था
- लोकतंत्र के अन्तर्गत शहरी नियोजन
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

● उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी निम्न तथ्यों को समझने योग्य होंगे—

- समावेशी शहरीकरण को।
- टिकाऊ शहरी व्यवस्था।
- लोकतंत्र के अन्तर्गत शहरी नियोजन को।

● प्रस्तावना

हाल के वर्षों में टिकाऊ शहरीकरण शोधकार्य तथा राजनीतिक कार्यसूचियों में बहस का एक अहम मुद्दा बन गया है। इसकी कई वजह हैं और जो कारण अहम बनते हैं उसके पीछे देशों तथा क्षेत्रों के बीच भिन्नता है। फिर भी, चीन, भारत और निम्न व मध्य आय तथा ऐतिहासिक तौर पर शहरीकरण के निचले स्तर वाले देशों में तेज शहरीकरण के परिणामों को लेकर जागरुकता सबसे जरुरी है। प्राय: शहरीकरण में ये देश उन अदीर्घकालिक तथा प्रचुर साधनों पर निर्भर शहरीकरण का अनुसरण करते हैं, जिनके जरिये उच्च आय वाले देश विकसित हुए थे। बढ़ी हुई वैश्विक आवाजाही, आर्किटेक्टों, शहरी नियोजन—सलाहकारों तथा निर्माण कंपनियों, मीडिया के वैश्वीकरण नई सूचनाओं व संचार तकनीकों की प्रसार-शक्ति तथा इनके तीव्र वैश्विक आवागमन के चलते यह चलन की तरफ बढ़ रहा है।

इसी तरह, विश्व के कई शहरों व क्षेत्रों ने जलवायु और पर्यावरणीय बदलावों के रूप में संभावित चुनौतियों व उनसे निबटने को लेकर तेज कार्रवाई के महत्त्व को समझना शुरु कर दिया है। गरीब शहरों और क्षेत्रों के लिए भी यही सच्चाई हैं इससे कुछ वर्षों पहले तक की स्थिति में उल्लेखनीय प्रगति हुई है जब इस तरह की दलीलें अनसुनी रह जाती थीं, क्योंकि संसाधनों की तात्कालिक आवश्यकताओं की तुलना में ये समस्याएँ सुदूर भविष्य में घटने वाली प्रतीत होती थीं। लगभग हर जगह, मौसम में उतार-चढ़ाव तथा इसके अप्रत्याशित उदाहरण, खासकर चरम आपदाओं की बढ़ती आवृत्ति और उनकी भयावहता व जनजीवन की व्यापक क्षति और आर्थिक व पर्यावरणीय हानि की वास्तविकताएँ राजनीतिज्ञों, अधिकारियों व आम नागरिकों की समझ को समान रूप से बदल रही हैं।

शहरी मुद्दे, जिस तरह अंतर्राष्ट्रीय एजेंडा बन चुके हैं, यह उनकी बढ़ती अहमियत की एक मुख्य निशानी है। शहरों को समावेशी, सुरक्षित, लचीले व टिकाऊ बनाने का खास शहरी लक्ष्य (नंबर 11) अब संयुक्त राष्ट्र की 2015 की आम सभा द्वारा लिए गये 17 सस्टेनेबल डेवलपमेंट गोल्स (सतत विकास लक्ष्यों) के ढाँचे में सम्मिलित है। ये एसडीजीज़ 2016 से मिलेनियम सस्टेनेबल गोल्स (सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों) की जगह प्रतिस्थापित हैं। एमडीजीज़ के विरूद्ध, एसडीजीज़ का प्रतिपादन एक जटिल व मुक्तलिफ विमर्शात्मक प्रक्रिया के जरिये किये गये थे, जिसमें राष्ट्रीय व उप राष्ट्रीय सरकारें, अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ, गैरसरकारी संगठन (एनजीओज़), निजी क्षेत्र व हर देश की सामुदायिक ऐजेंसियाँ मिल रही थीं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ये लक्ष्य प्रतिव्यक्ति आय या ह्यूमन डेवलपमेंट इंडेक्स (मानव विकास सूचकांक) पर बिना किसी विभेद पर आधारित सभी देशों पर लागू हैं। यह स्थिरता की चुनौतियों के सामने मानव जीवन के साझी नियति के प्रश्न को सामने लाती है। ये चुनौतियाँ बुनियादी जरुरतों की पूर्ति हेतु संसाधनों तथा जीवन की स्वीकार्य गुणवत्ता तक नाकाफी पहुँच या अत्यधिक उपभोग और उससे संबंधित स्वास्थ्य, संसाधनों की कमी, व पर्यावरणीय समस्याओं से संबंधित हैं।

दुनिया भर में, शहरी क्षेत्रों का जनसांख्यिकीय, आर्थिक, पर्यावरणीय तथा सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व निरन्तर बढ़ रहा है। शहरों व अन्य उपराष्ट्रीय तत्वों का जिक्र पहली बार 2015 की शुरुआत में पेरिस में हुए यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कन्वेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज (पर्यावरणीय बदलाव पर संयुक्त राष्ट्र के बुनियादी सम्मेलन) में हुआ था। यह जलवायु परिवर्तन का सामना करने को लेकर शहरी क्षेत्रों की भूमिका को मुख्य मान्यता देता है। उसी समय, संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों ने विश्वभर के विभिन्न हितधारक समूहों के साथ नई शहरी कार्यसूची को सक्रिय स्वरूप से तैयार किया।

विशेष

1. डेविड सायमन—स्वीडन में शाल्मर्स यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्नोलोजी के मिस्त्रा अरबन फ्यूचर्स के 2014 से डायरेक्टर हैं। 1999 ई० से वे लन्दन के रॉयल हॉलोवे यूनिवर्सिटी के डेवलपमेंट जिओग्राफी के प्रोफेसर हैं। उनकी शोध संबंधी रुचियाँ शहरों, टिकाऊपन व जलवायु परिवर्तन के विषय में हैं। डेविड सायमन की बड़ी संख्या में लेख, पुस्तक अध्याय तथा पुस्तकें व्यापक रूप से प्रकाशित हुई हैं।

2. हेनेरिटा पामर—एक आर्किटेक और शाल्मर्स यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्नोलोजी के आर्किटेक्चर और सिविल विभाग की आर्टिस्टिक प्रोफेसर हैं। वे मिस्त्रा अरबन फ्यूचर्स में डेप्युटी साइंटिफिक डायरेक्टर भी हैं। हेनेरिटा पामर स्टाकहोम के रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ आर्ट्स में सक्रिय रही हैं, जहाँ उन्होंने अंतरविषयक कार्यक्रम संसाधनों को विकसित किया। उनके शोध परिवर्तन की प्रक्रियाओं और उनकी दृश्य अभिव्यक्तियों के विषय में है।

3. सू पारनेल—अरबन जिओग्राफी की प्रोफेसर और दक्षिण अफ्रिका के यूनिवर्सिटी ऑफ केप टाउन में अफ्रिकन सेंटर ऑफ सिटीज के जनकों में एक हैं। हाल ही में वे क्लाइमेट एट अ सिटी स्केल, द रूट्लेज हैंडबुक ऑन सिटीज ऑफ ग्लोबल साउथ और अफ्रिकाज अरबन रिवोल्यूशन किताबों की सह-सम्पादक रही हैं।

4. जेम्स वाटर्स—अरूप इंटरनैशनल डेवलपमेंट में शोधकर्ता और परामर्शी हैं। वे अरबन रेजिलिएंस रिसर्च नेटवर्क के जनकों में एक हैं और उन्होंने शहरी प्रतिरोधक क्षमता, प्रवास और शहरों के निर्धन निवासियों पर कई लेख लिखे हैं।

● समावेशी शहरीकरण

शहरी कार्यसूची का आरम्भ अक्टूबर 2016 में क्विटो, इक्वाडोर में संपन्न हुए तृतीय आवास वैश्विक सम्मेलन में की गयी जिसे आने वाले बीस वर्षों तक ज्यादा टिकाऊ शहरीकरण व टिकाऊ शहरी क्षेत्रों को बढ़ावा देने के विश्व के प्रयासों को आकार देना है। शहरी टिकाउपन का महत्व अब व्यापक मान्यता प्राप्त कर

रहा है, जो इस मकसद की दिशा में प्रगति के लिए पहली दशा की तरह है। फिर भी, इसमें एक विरोधाभास है। पहली नजर में यह लग सकता है कि उच्च आय वाले देशों के संसाधनयुक्त, व्यवस्थित शहरों नगरों–महानगरों को टिकाऊ बनाना ज्यादा सरल है परन्तु वहाँ संसाधनों पर बहुत अधिक निर्भर, बहुत ज्यादा उपभोग करने वाली आर्थिक प्रक्रिया व जीवन शैली है साथ ही शक्ति–संबंधों एवं निहित स्वार्थ की बाधा भी है जिन्हें पार करने के लिए बहुत अधिक प्रयास तथा राजनैतिक इच्छाशक्ति की जरुरत है।

इसके विपरीत, कई लोगों के लिए गरीब देशों के तेजी से वृद्धि हासिल कर रहे शहर जिसमें व्यापक गरीबी, संसाधनों और सेवा का अभाव व भारी यातायात में बढ़ोतरी—निर्णायक चुनौती अथवा 'दुर्दम्य' शहरी समस्या का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी, यद्यपि निहित स्वार्थ वहाँ भी हैं तथा बदलाव का जबरदस्त विरोध हो सकता है, पूर्व प्रशासक बाबाटुंडे फाशोला के राज में नाइजेरिया के सबसे बड़े शहर लागोस का उदाहरण दिखाता है कि कैसे निजी भ्रष्टाचार से अछूता, समस्या के प्रति प्रतिबद्ध कोई ऊर्जावान सही संबंद्धताओं के साथ अपेक्षाकृत कम समय में भी उल्लेखनीय नतीजे ला सकता है, यहाँ तक कि, ज्यादा गंभीर समस्याओं वाले किसी महानगर में भी।

नि:संदेह, यद्यपि टिकाऊ हों अथवा कि न हों लेकिन शहर ईंटों, कंक्रीट, लोहा, शीशा, रोड़ी, लोहे, लकड़ी और कार्डबोर्ड आदि के पृथक द्वीपों जैसे नहीं होते। वस्तुत: ये व्यापक प्राकृतिक व राजनीतिक–प्रशासनिक क्षेत्रों तथा राष्ट्रीय तथा पराराष्ट्रीय अस्तित्त्वमान तत्वों के अभिन्न अंग होते हैं, जिनपर ये संसाधनों, कचड़ा निकासी, मनुष्यों के बीच परस्पर क्रियाओं व लोगों की आवाजाही, उपभोग की वस्तुओं एवं वित्त के लिए आश्रित होते हैं। शहरी क्षेत्र टिकाऊपन की तरफ परिवर्तन में आगे अथवा पीछे रह सकते हैं, लेकिन अंत में टिकाऊ कस्बे और शहर अधिक अथवा कम टिकाऊ समाजों के अंग सरीखे होते हैं। यह विभिन्न महाद्वीपों पर विद्यमान अनेक प्राचीन शहरी समाजों से संग्रहित साक्ष्यों के आधार पर भी व्याख्यत होते हैं, चूँकि, परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया कर रही व्यवस्थाओं का विस्तार प्राय: बहुत–से प्रशासनिक क्षेत्रों तक होता है, यह जटिलता 'सीमा–स्पर्शी' समस्या पैदा करती है तथा पहले से ही जटिल विकास, आर्थिक, पर्यावरणीय, राजनीतिक, सामाजिक एवं तकनीकी चुनौतियों को और जटिल बनाती है। टिकाऊपन कई तरह से अपने आप में एक जटिल और विवादग्रस्त खयाल है। इसमें विविध घटकों का समावेश होता है—कुछ आसानी से मापने योग्य तो दूसरे कहीं अधिक गुणात्मक होते हैं।

इसके अतिरिक्त, विकास के जैसे टिकाऊपन में तिहरी विशिष्टताएँ होती हैं—एक आदर्श आकांक्षा, समुदाय के लिए एक आदर्श अवस्था की अवस्थिति व इस अवस्था को प्राप्त करने के साधन। अनेक विमर्शों तथा अमलीकरणों में इसका सिद्धांतीकरण, औचित्यीकरण, उपयोग तथा गलत उपयोग किया गया है। इस हद तक कि कुछ आलोचकों का दावा है कि विकास की तरह ही यह अपनी उपयोगिता खो चुकी है। इनमें से कुछ जटिलताओं की परख शहरी संदर्भ में अध्याय तीन में की गयी है। मुख्यत: 'हल्के जोर वाले' एवं 'अधिक जोर वाले', सातत्त्य विमर्शों के बीच, नीतियों तथा कार्यों के बीच के विभेदों की तथा आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा पर्यावरणीय आयामों को एकीकृत करने की आवश्यकता है।

● टिकाऊ शहरी व्यवस्था

इस अध्याय का मकसद आधिकारिक हस्तक्षेपों के प्रयोग से टिकाऊ शहरीकरण के लिए तैयार कार्यसूची को समझने में मदद करना है। यह साफ तौर पर सभी टिकाऊ नगरों एवं महानगरों के लिए मुख्य आयामों के महत्त्व, प्रासंगिकता का मूल्यांकन व व्याख्या के साथ उसे संदर्भित करती है। अर्थात इन्हें सुगम, हरित व न्यायपूर्ण होना चाहिए। ये तीनों आयाम 'मिस्ट्रा अरबन फ्यूचर्स' के कार्य को सामने लाते हैं। टिकाऊ शहरीकरण पर कार्य करने वाला गोटेबोर्ग, (स्वीडेन) स्थित एक अंतर्राष्ट्रीय शोध केन्द्र है, जो स्कैन (दक्षिणी स्वीडेन), ग्रेटर मैनचेस्टर (यूके), केप टाउन (दक्षिण अफ्रीका) व किसुमु (केन्या) स्थित पारआनुशासनिक शोध मंचों से संचालित होता है। ये मंच विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों, शोधार्थियों के समूहों व

पैरास्टेटल्स, स्थानीय तथा क्षेत्रीय प्राधिकरणों व आधिकारिक एजेंसियों को एक साथ लाते हैं जिससे समस्याओं की पहचानकर उनके समाधान पाने व उन्हें लागू करने की दिशा में संयुक्त शोध प्रारंभ किये जाएँ। ज्यादातर महाद्विपीय क्षेत्रों में एक शोधमूलक उपस्थिति स्थापित करने के क्रम में 2016-17 में एशिया एवं लैटिन अमेरिका में एक नई साझेदारी की योजना बनी है, जो उचित कार्य के दिशानिर्देशों और सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन का दायित्व उठाने की मिस्ट्रा अरबन फ्यूचर्स की क्षमता को बढ़ाएगी व इसके जरिए सभी स्तरों पर शहरी टिकाऊपन कार्यसूचियों को प्रभावित करेगी।

अपने दूसरे चरण के शोध कार्यक्रम में 'मिस्ट्रा अरबन फ्यूचर्स' ने सुगमतापूर्ण हरित और न्यायपूर्ण शहरों से संबंधित मौजूदा साहित्य की विस्तृत समीक्षा का दायित्व लिया है। यह विश्वभर में जारी शहरी टिकाऊपन संबंधी बहसों को प्रभावित करने को भी संभव बनाता है। इस बहसों में कई अक्टूबर 2016 में हुए तृतीय आवास सम्मेलन की तैयारी मूलक प्रक्रिया में आगे आये हैं तथा अगले दो दशकों के लिए नई कार्यसूची के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र प्रणाली के भीतर व बाहर समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इन बहसों के आसंग में यह पुस्तक स्थानीय, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नीति निर्माताओं और व्यवहारकर्मियों के समक्ष आधार तथा संदर्भ के रूप में सामने आती है। इन लोगों के सामने दोहरी चुनौती है। जहाँ एक तरफ इन पर बहुत नये शहरी क्षेत्रों के निर्माण (जिन्हें कभी कभार 'भविष्य का शहर' कहा जाता है) व फैल रहे शहरों में नये शहरी हिस्सों की जिम्मेदारी है, वहीं पुरातन शहरी क्षेत्रों का फिर से डिजाइन करना है। और यह डिजाइन दुनिया भर में अलग-अलग संदर्भों में उभर रहे उत्तम शहरी टिकाऊपन पद्धति के आधार पर करना है। ये सिद्धांत टिकाऊ शहरों और शहरी योजनाओं पर विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों तथा पेशेवर प्रशिक्षण इकाइयों में समान रूप से तेजी से केन्द्रीय स्थान पा रहे हैं।

● लोकतंत्र के अन्तर्गत शहरी नियोजन

यह अध्याय शहरी नीति और नियोजन में पहुँच—सुगमता (अभिगम्यता) की अवधारणा के कुछ लाभों और प्रतिकूलताओं व इसके विभिन्न आयामों का मूल्यांकन कैसे हो सकता है, पर विचार करता है।

मुख्यधारा की शहरी नीति में, सामान्यत: घनत्व को शहरी नियोजन के लिए एक अनकारात्मक लक्ष्य माना जाता है। विश्व बैंक की दलील है कि 'घनत्व ही दरअसल फर्क उत्पन्न करता है', तथा इसने कई वर्षों तक इसे केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में अपनाए रहा। इस दौरान यूरोपीय नीति के तहत टिकाऊ विकास में सफलता के लिए सघनीकरण को बढ़ावा दिया गया। फिर भी, शहरी घनत्व के तुलनात्मक फायदों के इर्द-गिर्द दलीलें बहुत साफ नहीं हैं और बिल्कुल हाल की चर्चाओं ने भी पहुँच की सुगमता के महत्त्व पर बल दिया है। सघनीकरण के पक्ष में ज्यादातर दलीलें संघनन के माध्यम से उत्पन्न आर्थिक मूल्य, शहरों की आर्थिक क्षमता, अधिक संसाधन क्षमता व परिवहन के इस्तेमाल तथा सेवाओं तक बेहतर पहुँच के इर्द-गिर्द तैयार की गयी है। तथापि घनत्व के साथ अनेक व्यापक मुद्दे जुड़े हैं, जिनमें आवास की आसान सुगमता, गोपनीयता, मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य, अपराध, जैव-विविधता तथा ऊर्जा का इस्तेमाल शामिल हैं।

कुल मिलाकर, सघनता के तीन मुख्य फायदों को चिह्नित किया गया—शहरी भूमि का अधिक सफल तथा गहन इस्तेमाल, बुनियादी ढाँचा व कार द्वारा यात्रा में कमी, अधिक उत्पादक अर्थव्यवस्थाएँ और अधिक जीवंत व समावेशी समुदाय।

शहरी क्षमता एवं पर्यावरणीय असर

सघनता के चिह्नित फायदों में से एक—छोटी यात्राओं के कारण निम्नतम जीवाश्म ईंधन का निकारण व विकास के निम्नतर स्तर के कार्बन फुटप्रिंट का होना है। निकटता सार्वजनिक परिवहन को अधिक व्यावहारिक बनाती है। व साइकिल चलाना या पैदल चलना स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होने के साथ ही निजी वाहन के प्रयोग को तथा इसके द्वारा उत्पन्न प्रदूषण को भी घटाता है। इसके अतिरिक्त 'ट्रांजिट-ओरिएंटेड डेवलपमेंट' परिवहनोन्मुख विकास से प्रेरित विकास सार्वजनिक परिवहन केंद्रों के गिर्द भौतिक रूप से अनुकूल

होता है व यात्रा की अवधि और दूरी को घटाता है। पैदल चलने की तरफ ध्यान देने वाला विकास को सार्वजनिक परिवहन जंक्शनों के एक साथ जोड़ने से, लोगों को पड़ोस से बाहर की यात्राओं के लिए सार्वजनिक परिवहन व अपने पड़ोस में यात्रा के लिए पैदल चलने तथा साइकिल से चलने की संभावना बढ़ती है।

'स्मार्ट शहरों' में, डिजिटल तकनीकों अथवा सूचना तथा संचार तकनीकी का उपयोग शहरी सेवाओं को बढ़ाने, लागत और संसाधन खपत को घटाने तथा नागरिकों से अधिक प्रभावशाली तरीके से जुड़ने के लिए किया जा रहा है। उच्च घनत्व वाले क्षेत्रों में विभिन्न प्रयोजनों को मिश्रित कर व अधिक सक्षम बुनियादी ढाँचे के द्वारा जमीन के उपयोग की सीमा में वृद्धि की जा सकती है। जहाँ तक सड़कों, पानी, सीवरों और तूफानी जल के नालों के विस्तार किये जाने की जरुरत नहीं पड़ती यह हरित क्षेत्र तथा कृषि भूमि पर पड़ने वाले विकास के दबाव को कम करता है व मौजूदा हरित क्षेत्र पर भी कम दबाव पड़ता है। नतीजतन शहरी जीवन की गुणवत्ता सुधर सकती है।

दूसरी तरफ व्यापक घनत्व हमेशा निजी कार यात्राओं में कमी नहीं लाता और वस्तुत: यह यातायात जाम तथा पार्किंग की समस्या उत्पन्न कर सकता है और बड़ी संख्या में सड़क हादसों का कारण भी बनता है। उच्च घनत्व वाली इमारतों का निर्माण पदयात्रियों के लिए दिक्कत की वजह भी बन सकता है, खासकर, सार्वजनिक परिवहन के आस-पास। उच्च—घनत्व वाली इमारतों, खासकर गगनचुंबी इमारतों के निर्माण में ऊर्जा का भी ज्यादा उपयोग होगा। भूमि उपयोग से संबद्ध असुविधाओं में खुली सार्वजनिक जगह की कमी तथा शहरी क्षेत्रों की बारिश व वायु प्रदूषण से निबटने की घट गई क्षमता शामिल है।

अफ्रीका के उप-सहाराई इलाकों इत्यादि में, तीव्रता से तथा व्यापक स्तर पर प्राकृतिक क्षेत्रों का रूपांतरण शहरी भूमि में हो रहा है, प्राय: कम घनत्व वाले विस्तार से व उच्च घनत्व से युक्त तेज विकास के रूप में भी। इसलिए, घनत्व के साथ संबंध साफ नहीं है। दूसरी ओर, यूरोपियन शहरी विकास से उत्पन्न मजबूत साक्ष्य हैं। उदाहरण के स्वरूप, ब्रिटेन में उच्चतर शहरी घनत्वों वाले क्षेत्रों में घटते हरितीमा आच्छादित क्षेत्रों से तथा पानी और ताप नियमन व्यवस्था एवं कार्बन—पृथकीकरण जैसी पारिस्थितिकी क्रियाएँ बाधित होती। भविष्य में पूर्व से घने शहरी क्षेत्रों में हरियाली युक्त जगहें बनाए रखने वाली उच्च घनत्व की नई इमारतों के लिए स्थान पाना तथा उनका निर्माण ज्यादा मुश्किल हो जायेगा।

संघटन एवं आर्थिक फायदे

साक्ष्य संकेत करते हैं कि बड़े फैले शहरों के बुनियादी ढाँचे, रखरखाव तथा परिचालन लागत के वित्तपोषण की तुलना में उच्च घनत्व वाला विकास उल्लेखनीय रूप से सस्ता है। लेकिन, उच्च घनत्व के नकारात्मक आर्थिक नतीजों के साक्ष्य भी हैं। उच्च घनत्व वाले क्षेत्रों में उच्च घनत्व वाली इमारतों व बुनियादी ढाँचे के निर्माण में अकसर अधिक लागत आती है। अधिक महँगी भूमि के चलते, निवासी अवकाश के स्थानों से वंचित हो सकते हैं व रहन-सहन, वस्तुओं एवं सेवाओं की सापेक्षिक कीमतें अधिक हो सकती हैं।

आर्थिक फायदों व हानियों के अधिकतर प्रमाण अमेरिका, आस्ट्रेलिया अथवा ब्रिटेन जैसे देशों से आते हैं और हर अलग-अलग संदर्भ में इसके विभिन्न होने की संभावना होती है। इसलिए, लाभों और हानियों की प्रासंगिक समझ अनिवार्य होती है।

उच्च घनत्व वाले शहरी क्षेत्रों के सामाजिक प्रभाव विभिन्न तरह के हैं वे सामाजिक साम्यता के लिए सापेक्ष फायदे विवादित हैं। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक लाभों में शामिल हैं—

- घने क्षेत्रों में घर हासिल कर पाने में वृद्धि।
- किसी क्षेत्र में रहने वाले लोगों की बड़ी मात्रा इसे सुरक्षित, अधिक विवधतापूर्ण पहुँच में सुगम तथा बसने योगय बना सकते हैं।
- आपस में धनात्मक सामाजिक अंतर्क्रिया की संभावना है।
- साथियों के लिए व्यापक विकल्प, खासकर बच्चों के लिए।

ये फैलाव को सुधार कर कार—निर्भर शहरी विकास के बरम्स, सार्वजनिक परिवहनोन्मुख शहरों की ओर झुके होते हैं।

सघन शहर, घने शहरी रूपों और पौटर्नों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे शहरी घनत्व के इर्द-गिर्द अनेक उपर्युक्त सकारात्मक तर्कों के समर्थन पर निर्भर कर रहे हैं यथा संसाधन क्षमता व नई तकनीकी के इस्तेमाल, ग्रामीण भूमि पर कम विकासमूलक दबाव, न्यूनतम ऊर्जा उपयोग, बुनियादी ढाँचे में कम लोगत, रहन-सहन की उच्चतर गुणवत्ता व उच्चतर सामाजिक संबंद्धता के साथ भी जुड़े हैं। इसके अतिरिक्त, उपर्युक्त वर्णित उच्च घनत्व की हानि है, जिनमें भीड़, किफायती आवासों का अभाव, अपराध में वृद्धि, जाम, हरित स्थान की कमी तथा प्रदूषण भी शामिल हैं।

बहुकेन्द्रिक शहर को गलियारे के साथ तारा-आधारित या उपग्रह आकारिकी के आधार पर डिजाइन किया जाता है। ये शहरी विकास के एजेंडो को संबोधित करता है यथा शहरी जैवविविधता की गुंजाइश बनाने, जीवंत और विविधतापूर्ण पड़ोसों के निर्माण, आसानी से पहुँच वाली जगहों के निकट विकास को केन्द्रित कर यात्रा अवधि का घटाने आदि पर। बहुकेन्द्रिक शहरों का मकसद सामाजिक व व्यावसायिक गतिविधियों के केन्द्रों पर ध्यान देते हुए विस्तृत फैलाव वाले शहरों और सघन शहरों—दोनों के फायदे मुहैया कराना होता है। ये सामाजिक एवं व्यावसायिक क्रियाओं के केन्द्रों पर केन्द्रित हैं जो विभिन्न पड़ोसों के गिर्द बने समुदायों से बने होते हैं। इन पड़ोसी इलाकों में निजी गतिविधियों व सार्वजनिक सेवाओं की विविधता शामिल होती है, जो सहज निकटता के दायरे में होती है इस तरह कार का प्रयोग कम तथा सार्वजनिक परिवहन, पैदल चलने साइकिल चलाने का प्रयोग किया जाता है।

तीसरा और सबसे हालिया व नामित तथाकथित स्मार्ट शहरों का है, जहाँ स्मार्ट विकास में परिवहन, भूमि अनुमान, संरक्षण व आर्थिक विकास के समन्वय के माध्यम से अधिक दक्षताओं की प्राप्ति होती है। तेज विकास का तर्क नवाचार को बढ़ावा देने और निजी संपत्ति बाजार को नयी दिशा देने के लिए दिया जाता है, ज्ञान संचार के साथ ठोस बुनियादी ढाँचे और सामाजिक ढाँचे (मानव व सामाजिक पूँजी) के एकीकरण के जरिए संभावित प्रतिस्पर्धा को बढ़ाकर। हालाँकि, इस मॉडल का कुछ निश्चित सामाजिक-तकनीकी आधार हैं, जो परिष्कृत पर आश्रित हैं। स्मार्ट शहर की कार्यसूचियाँ उत्सर्जन घटाने में प्राय:सहयोग देती हैं, जो व्यापक टिकाऊपन के लक्ष्यों का एक तत्व है।

● विशेष

पहुँच-सुगम शहर

पहुँच-सुगमता; माल या सेवाओं तक लोगों की पहुँच की क्षमता है, जिसका मापन भौतिक दूरी, सामर्थ्य और औचित्य के लिहाज से उनकी उपलब्धता के जरिए होता है। लेकिन पहुँच—क्षमता में सेवाओं और सुविधाओं, रोजगार के अवसरों, शिक्षा तथा आवास व्यवस्था के साथ-साथ उन तक पहुँचने के साधन भी शामिल हैं। शहरी संदर्भ में, घनत्व पहुँच को प्रभावित करने वाला एक कारण है जैसी पड़ताल ऊपर हो चुकी है लेकिन हमें जुड़ाव, विविधता और तेजी पर भी विचार करना चाहिए; इन कड़ियों पर बाद में विचार किया जा रहा है। इससे अलग, 'पहुँच सुगम शहर' के हिस्सा के तौर पर भौतिक उपलब्धता से लेकर किफायत तथा सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्वों जैसे व्यापक आयामों पर भी विचार करने की आवश्यकता है। पहुँच—सुगमता (अभिगम्यता) व्यक्तियों की क्षमता को मानवता की भलाई के लिए जरुरी अथवा इच्छित क्रियाकलापों में शामिल होने से भी जुड़ा है। ऊपर की पंक्तियों में घनत्व की समीक्षा में शहरी घनत्व व मानवीय तंदुरस्ती के मध्य व्यवस्थित संबंध ढूँढने में कठिनाईयों का पता चला, जिनमें मिश्रित साक्ष्य, सघनता के विभिन्न पहलुओं के मध्य व भीतर ताल-मेल की दिक्कत और मुद्दे का राजनीतिकरण शामिल हैं।

अभिगम्यता को सही अमल व नियोजन के एक उपयोगी औजार के रूप में देखा जाता है साथ ही सामाजिक तंदुरस्ती को बढ़ावा देने के एक साधन के रूप में भी। हाल में, नवाचार तथा प्रौद्योगिकी के माध्यम

से, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों तक सिर्फ भौतिक परिवहन के द्वारा ही नहीं जाया जा सकता है। अत:, सुगमता स्थानों, लोगों, अवसरों और गतिविधियों तक पहुँच से जुड़ा है, वो भी भौतिक एवं आभासी जुड़ाव के तरीकों के द्वारा।

सामाजिक स्थायित्त्व से संबंध

सामाजिक स्थायित्व असमानता, विस्थापन, रहने की क्षमता व किफायती आवास व्यवस्था की जरुरत जैसी सामाजिक मुद्दों से जुड़ा है। टिकाऊ शहरों पर प्रारंभिक बहसें, ठोस अवशिष्ट प्रबंधन या घटी कार निर्भरता के माध्यम से सीमित पारिस्थितिक पदचिह्नों (फुटप्रिंट) से सम्बन्धित थीं। हालाँकि, आजकल रोजगार, सेवाओं तथा शिक्षा, साथ ही साथ सांस्कृतिक मूल्यों, सामाजिक संबद्धता व आर्थिक स्थिरता आदि सभी मुद्दे अधिक प्रासंगिक हो गये हैं। सामाजिक स्थायित्व व सुगम शहर की अवधारणाएँ एक-दूसरे को काफी ओवरलैप करती है। क्योंकि रोजगार, सेवाओं एवं शिक्षा, किफायती आवास, परिवहन, मनोरंजन सुविधाओं, औपचारिक व अनौपचारिक संस्थानों के लिए पहुँच एक प्रमुख मुद्दा है; साथ ही साथ सामुदायिक संबंध व सामाजिक आधारभूत ढाँचा, जो सामाजिक समता और सामुदायिक स्थिरता पैदा करने में मदद करते हैं भी इससे जुड़ा है। सुगमता सामाजिक स्थायित्व के प्रक्रियात्मक पहलुओं से भी जुड़ा है, जैसे कि विकास की प्रक्रियाओं में हितधारकों से संवाद एवं परामर्श व नीतियों एवं योजनाओं का जिम्मेदार प्रशासन एवं प्रबंधन और मानक निर्धारण की सामाजिक निगरानी सुगमता का मापन।

सुगमता, कई मायनों में घनत्व से कहीं अधिक वयापक अवधारणा है और इसके मापन के लिए प्राय: नई विधियों का प्रयोग होता है। परिवहन तथा डिजिटल सुगमता के भीतर ही तीन तरीके सुझाए गये हैं—

1. डिजिटल सुगमता

2. जटिल शहरी प्रणालियों के मापन के लिए कंप्लेक्स नेटवर्क एनालिसिस, जो सुगमता के लिए एक संकेतिक हो सकता है।

3. भौगोलिक सूचना व्यवस्थाएँ (जियोग्राफिक इन्फार्मेशन सिस्टम)। सुगमता (परिवहन) मापन का एक जरुरी उपकरण बन रहा है व यह लोगों के लिए शहरी अवसरों की सुगमता को लेकर विस्तृत जानकारी जुटा सकता है।

सुगमता के बहुत पक्षों के लिए, जैसी किफायती आवास, पारिस्थितिक सार्वजनिक स्थान आदि पर यह तरीके अपनाए जा सकते हैं। लेकिन व्यापक आयामों—जैसे सामाजिक आधारभूत ढाँचा अथवा न्याय और शक्ति पर अलग से विचार करने की आवश्यकता होगी।

'सुगम शहरों' की धारणा का दायरा परिवहन व गतिशीलता से कहीं व्यापक है, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में वर्णित है, यह सामाजिक स्थायित्व में योगदान से भी जुड़ा है। सर्वप्रथम इसमें आवश्यक श्रेणी के सार्वजनिक चीजें शामिल है। जैसे कि सार्वजनिक जगह, मेट्रो प्रणाली, श्रम बाजार, सड़कें, सेवाएँ व हरित स्थान। साथ ही, सुगम शहरों के पास ऐसी सामाजिक आधारभूत संरचना होनी चाहिए, जो सामाजिक साम्यता (जिसमें सामर्थ्यशीलता शामिल है) तथा व्यक्तियों के विकास के लिए औपचारिक व अनौपचारिक संस्थानों की उपस्थिति हो व उन्हें सुगम बनाने को शक्ति और न्याय प्रणाली भी। अधिक संरचनात्मक तौर पर, सुगम शहरों में निवासियों के लिए उनकी सौंदर्यबोध-विषयक गतिविधियों, मनोरंजनमूलक और जगह होने के भाव से जुड़े इच्छाओं एवं जरुरतों को पूरा करने के लिए भौतिक व पारिस्थितिकीय सार्वजनिक स्थान होना चाहिए। निम्नलिखित हिस्सा इन आयामों पर चर्चा करता है साथ ही पहुँच के मध्यस्थ के रूप में शक्ति तथा न्याय की भी।

संभवत: सुगम शहरों का सबसे साफ पहलू निकटता के जरिए जगहों तथा सेवाओं तक पहुँच है। इसकी सबसे पारिभाषित विशिष्टताओं में रिहाइशी तथा कार्यस्थल की सघनता, कार्यों का वितरण तथा मिश्रित उपयोग की कोटियों, केन्द्रीकरण का स्तर और स्थानीय स्तर की शहरी योजना शामिल हैं।

निवासियों के लिए सामाजिक संबंधों और बुनियादी दैनिक क्रियाकलापों तक पहुँच के लिए रिहाइशी निकटता सबसे कीमती है। स्वीडेन में किये गये एक अध्ययन में 'सुगमता का विरोधाभास' पाया गया। हालाँकि दस वर्षों का अध्ययन समय में स्थानिक सुगमता में सुधार के साथ स्थानीय व क्षेत्रीय दोनों स्तर पर औसत दूरी घट रही थी जबकि यात्रा की दूरी बढ़ गई। दूसरे शब्दों में, लोग को अपनी पसंद की सुविधा व रसद के लिए इच्छित दूरी से ज्यादा जाना पड़ा। यह पहुँच सुगमता के निर्धारकों तथा घनत्व, दोनों के प्रभाव के साथ संदर्भ और कार्यकारी तत्त्वों को समझने के महत्व को दर्शाता है।

सुगम शहरों को सभी शहरवासियों को शिक्षा, स्वास्थ्य—देखभाल जैसी जरुरी सेवाओं तक आसान पहुँच की व्यवस्था करनी चाहिए, परन्तु हर एक संदर्भ में यह सवाल पूछने की जरुरत है कि क्या ऐसी सभी सेवाओं तक पहुँच देना स्थानीय शासन के लिए संभव है अथवा इनमें से कई ज्यादा अनौपचारिक तरीकों के जरिए मुहैया की जायेंगी।

परिवहन

जबकि निकटता जगहों और सेवाओं तक व्यक्तियों की पहुँच को निर्धारित करती है, परिवहन यह निर्धारित करने का मध्यस्थ है कि व्यक्ति उन स्थानों तक कैसे पहुँचें। एक लक्ष्य के रूप में सुगमता के साथ, लोगों के आवागमन को सुविधाजनक बनाने के क्रम में—भूमि प्रयोग तथा परिवहन—दोनों पर विचार किया जाना जरुरी है, अनिवार्यत: कारों पर ही नहीं। अत: शहरी क्षेत्रीय योजना निर्माण स्तर पर, सुगमता परिवहन व भूमि उपयोग योजना के एकीकरण हेतु एक फ्रेमवर्क प्रदान करती है।

एक निश्चित हद तक, शहरी क्षेत्रो में यात्रा की गति ज्यादाकर भौतिक निकटता को हासिल किया जा सकता है। ढाँचागत विशिष्टताएँ, जो 'वेग द्वारा पहुँच' को प्राप्त करती हैं, उनमें सड़कों की व्याप्ति, सड़क व रेल नेटवर्क की गुणवत्ता व अन्य सार्वजनिक परिवहन संरचनाएँ शामिल हैं।

निजी मोटर परिवहन कम घनत्व वाले कस्बाई विकास का अवसर देता है परन्तु सड़कों के लिए वहाँ कहीं अधिक भूमि की माँग होती है। यह स्थिति, सार्वजनिक परिवहन जो शहरी सघनता की माँग करता है व निजी कार प्रयोग, जिसकी जरुरत जगह है, के बीच तनाव पैदा करती है।

शहर की परिवहन व्यवस्था इसके पर्यावरणीय प्रभाव को भी प्रभावित करेगी। कार्बन उत्सर्जन का स्तर पूर्णरूप से परिवहन प्रणाली द्वारा निर्धारित होती है। 1970 से वैश्विक परिवहन उत्सर्जन में 80 फीसदी की वृद्धि सड़क पर चलने वाले वाहनों की वजह से हुई है।

सामाजिक आधारभूत ढाँचा

सुगम शहरों में सभी निवासियों को, परस्पर संपर्क, सामाजिक समूहों और संगठनों में शामिल होने व सामूहिक लचीलापन हासिल करने तथा आगे बढ़ने के लिए जरुरी सामाजिक नेटवर्क निर्माण में समर्थ बनाने वाली सामाजिक संरचना भी होगी। आवासन कार्यकाल व पड़ोस का सामाजिक ढाँचा प्रभावित करता है, कि निवासी वहाँ रहना पसंद करेगा अथवा नहीं। लचीलेपन के लिए सामाजिक पूँजी तथा नेटवर्क भी अहम होते हैं, इस लिहाज से, कि संकट अथवा सदमे की स्थिति में वे सामाजिक समूह किस प्रकार की प्रतिक्रिया देते हैं।

सामाजिक लचीलेपन के लिए विभिन्न तरह के सामाजिक नेटवर्क जरुरी होते हैं, जिनमें से सामुदायिक समूहों की सदस्यता एक अहम बात है। अत: सुगम शहरों को इस बात पर भी विचार करना है कि शहर के स्वरूप और सामुदायिक सुविधाओं की स्थान—आधारित व्यवस्था, शहरी आबादी को सामाजिक नेटवर्कों व सामुदायिक समूहों तक पहुँचने को, समाज तथा व्यक्तियों के बीच संबंध बनाने की कैसी सुविधा देता है।

सत्ता व न्याय

पहुँच–सुगमता जोरदार रूप में शक्ति तथा न्याय से भी जुड़ा है कि ये इसे कैसे सुनिश्चित करते हैं कि सुगमता पूरी शहरी आबादी को हासिल है। शहरी विकास की राजनीति व अर्थशास्त्र से यह अर्थ निकलता है कि वंचित क्षेत्रों में पहुँच के संसाधन प्राय: निम्न स्तरीय होते हैं। ये विभेद भौगोलिक रूप पर स्थानीय संसाधन

वितरण पर प्रभाव डाल सकते हैं, नतीजतन समाज के कुछ हिस्सों में पहुँच भेदभावपूर्ण हो सकती है तथा स्थानीय स्तर पर न्यायपूर्ण संसाधन वितरण निश्चित करने की जरुरत पैदा कर सकती है। अत: इस पर विचार करने की आवश्यकता है कि कैसे राजनीतिक और सांस्थानिक संदर्भ विकास को प्रभावित करते हैं।

सुगम शहरों में निश्चिय ही, जाति, लिंग व आबादी समूह के अनुसार न्यायपूर्ण पहुँच की जरुरत होती है, साथ ही परिवहन जैसी सेवाओं तक पहुँच व पर्यावरणीय प्रदूषण के बीच तालमेल के प्रति भी सजग होना चाहिए।

सत्ता और न्याय के लिहाज से पहुँच खासकर वैश्विक दक्षिण के शहरों में अकसर चुनौतीपूर्ण होती है। जहाँ यात्रा की लागत इसे रोकने वाली है। परिवार ऐसी घरेलू रणनीतियों को स्वीकार कर सकते हैं, जो एक अथवा दो सदस्यों द्वारा यात्रा करने को वरीयता देती हों। यह अकसर लिंग तथा अन्य कारकों द्वारा भेद पैदा करता है, जिससे समाज के सिर्फ कुछ सदस्य ही कमाई के अवसर, शिक्षा व अवकाश की गतिविधियों तक पहुँच प्राप्त करते हैं। इसलिए, सत्ता और न्याय के मुद्दे किसी शहर के भौगोलिक क्षेत्रों, जाति, लिंग तक पहुँच को प्रभावित कर सकते हैं इसलिए इसकी जरूरत होती है कि योजनाओं को लागू करने के लिए समावेशी प्रशासन हो।

किफ़ायती आवास

ज्यादा घनत्व और किफ़ायती हाउसिंग टाईप वाले हिस्सों में किफ़ायती भाड़े वाली इकाइयाँ अधिक होती हैं बनिस्पत एक ही परिवार वाले घरों के कम घनत्व वाले हिस्सों के। जीवन जीने की लागतों और स्थितियों की विविधता सबों के लिए आकर्षक रहनवारी का निर्माण करेगी, जबकि उपयुक्त आवास और सेवाओं के अभाव के चलते लोगों को विशाल उपनगरों की ओर धकेला जाना संभव हो जाता है। अंतत: सुलभ आवास-व्यवस्था मात्र आवास के रूप पर निर्भर नहीं हैं क्योंकि इन्हें सुसंगत आवास संघ और स्थानीय प्राधिकरण से सेवा की भी आवश्यकता होगी।

सामाजिक सांस्कृतिक आयाम

सुगमता आवागमन, सामाजिक संगठन या रिहाइश के इलाकों पर 'आंतरिक रूप से' तथा बाहरी रूप से लागू होती है। कई शहर देश के अन्य हिस्सों से और विदेशों से ज्यादा संख्या में लोगों के प्रवास का अनुभव कर रहे हैं। एक ओर तो यह उद्योग और श्रम शक्ति के लिहाज से बड़ा अवसर पेश करता है। दूसरी ओर किसी शहर में आने वाले हालिया प्रवासी प्राय: अधिक असुरक्षित हैं। सेवाओं तक बिना उचित पहुँच व बिना राजनीतिक आवाज के, संपत्ति व संसाधनों के अभाव की वजह मलिन दशा में रहते हैं। अत: शहरों के प्रशासन के सामने सुगमता के इन आयामों पर विचार की जरुरी चुनौतियाँ हैं।

पारिस्थितिकीय तथा सार्वजनिक जगह

विश्व बैंक सार्वजनिक जगहों का वर्णन ऐसी जगह के रूप में नहीं करता कि, जो हो तो अच्छा हो वरन् शहरों के लिए बुनियादी आवश्यकता के रूप में करता है व इनके लाभों को आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय मूल्यों में विभाजित करता है। इसके अतिरिक्त, अध्ययन संकेत करते हैं कि सार्वजनिक जगह गरीबों की भलाई के साथ ही उनके समुदायों के विकास के लिए बहुत जरुरी होते हैं क्योंकि उनके पास निजी घरेलू स्थान नहीं होते हैं। अत: सार्वजनिक जगहें सुगम शहरों में समाविष्ट एक अहम घटक हैं व परिवहन, पानी और स्वच्छता आदि के समान्तर इन्हें एक सेवा समझा जाना चाहिए।

नवाचार व व्यवसाय

सुगम शहरों में व्यक्तियों को आर्थिक अवसरों के साथ-साथ शहरों तक गैर-भौतिक जाने के लिए तकनीक के प्रयोग की क्षमता की भी गुंजाइश मिलती है। सर्वप्रथम, यह देखा गया है कि श्रम-शक्तियों तथा विस्तृत बाजार क्षेत्रों को अधिक सुलभ बनाने से भौतिक संपर्क ज्ञान निर्माण प्रक्रिया को तीव्र करता है।

दूसरे, यदि शहरों को 'स्मार्ट विकास' के मॉडल अपनाने हों तो, प्रोद्योगिकी तक पहुँच जरुरी है। वर्तमान में सूचना प्रौद्योगिकी का तेज तथा व्यापक, प्रसार हो रहा है, जो शहरी नेटवर्क के जुड़ाव को बढ़ाता है लेकिन यह स्थानिक तौर पर असमान है।

ICT व इंटरनेट समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं। अत: भौतिक परिवहन, प्रौद्योगिकी तक बढ़ी पहुँच शहरी नागरिकों के लिए भलाई को बढ़ावा दे सकती है परन्तु इससे असमानताओं को बढ़ने का डर भी है।

सुगमता व शहरी स्वरूप-सुगमता क्या जोड़ती है?

सुगमता के आयामों का शहरी घनत्व के पहलुओं के साथ गहन संबंध है लेकिन वे शहरी घनत्व की दलीलों की कमियों को भी संबोधित करते हैं और शहरी विकास में नवीनता जोड़ते हैं। निश्चय ही घनत्व के जरिए पहुँच बनाना संभव है। उच्च घनत्व सीधे जगहों और सेवाओं तक निकटता बढ़ाता है जिससे त्वरित परिवहन की संभावना बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त, मिश्रित भूमि प्रयोग और घनत्व जैसे शहरी तत्वों की मौजूदगी का स्थानीय सेवाओं व सुविधाओं तक पहुँच तथा उपयोग पर सकारात्मक असर पड़ेगा, जैसा कि कुआलालंपूर तथा पुत्राजाया में साबित हुआ। हालाँकि, सघनता भी पहुँच को कम कर सकती है, उदाहरण के तौर पर जहाँ उच्चतर घनत्व के साथ किफायती आवास की संभावना घट जाती है। अन्त में सुगमता शहरी विकास की बारीकियों को सीधे संबोधित करती है, जिसमें न्याय एवं शक्ति और शहरी रूपाकार में प्रौद्योगिकी का समोवेश शामिल है। जहाँ, पहुँच के स्थान आधारित व परिवहन पक्षों पर आधारित सुगमता परस्पर आव्यापन करते हैं, यह अवधारणा नये आयाम प्रस्तुत करती है, तो टिकाऊ विकास में योगदान देते हैं। सुगमता के विशिष्ट योगदान निम्नानुसार हैं—

1. सबसे पहले, घनत्व के विरुद्ध अभिगम्यता इस बात पर ध्यान देता है कि क्या हो, क्योंकि इसकी परिभाषा, न सिर्फ जगहों तक पहुँच वाले बल्कि रोजगार, अवसरों व सेवाओं तक पहुँच बनाने बल्कि इसके द्वारा तंदुरस्ती (well-being) को बढ़ावा देने वाले की हैं। यह प्रक्रियात्मक पहलुओं समेत ज्यादा सामाजिक स्थायित्व की विमर्शों के साथ एक खास किस्म का परस्पर-व्यापन (overlapping) करती है।

2. परिवहन, सुगम शहरों का एक मुख्य घटक है, जिसमें 'वेग द्वारा पहुँच' की धारणा शामिल है तथा जिस तरह से विभिन्न परिवहन रूप इसमें योगदान करते हैं। इस तरह यह भिन्न-भिन्न शहरी विकास के प्रतिमानों को आर-पार करती है।

3. सुगमता में सामाजिक आयाम भी जोरदार ढंग से शामिल हैं, इस नजर से कि सामाजिक व्यवस्था शहरी नवीकरण तथा स्थिरता के लिए जरुरी है। यह दर्शाता है कि जो पहुँच प्राप्त करता है, अहम है इस कारण सत्ता व न्याय के आयामों (प्रक्रियात्मक) का यह समावेश करता है।

4. इससे यह भी जुड़ा है कि पहुँच का निर्धारण व्यक्तियों की परिसंपत्तियों व सामाजिक नेटवर्कों द्वारा होता है, और इस तरह सुगम शहर स्पष्ट रूप से समता की चिंताओं और हाशिए के लोगों पर विचार करते हैं; मुख्यत: भौगोलिक रूप से तथा सामाजिक तौर पर असमाबेशित लोगों पर। इसके कुछ पहलुओं में अंतरशहरी चुनौतियों पर ध्यान दिया जाता है। जैसे कि किफ़ायती आवास आदि जबकि, अन्य में शहर में योगदान देने आ रहे लोगों हेतु अनुकूल स्थितियों के निर्माण पर ध्यान दिया जायेगा।

5. सुगम शहर डिजिटल पहुँच को अपनाते हैं व नवाचर के लिए स्थितियों का सृजन करते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. समावेशी शहरी लोकतंत्र के अन्तर्गत सामाजिक आधारभूत ढाँचे को समझाइए।

2. पारिस्थिकीय व सार्वजनिक जगह की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

3. लोकन्त्र के अन्तर्गत शहरी क्षमता व पर्यावरणीय असर को उल्लेखित कीजिए।

4. टिकाऊ शहरी व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

● सारांश

हालाँकि यह अध्याय सुगम शहरों पर केन्द्रित है, शहरी घनत्व फिर भी कुछ मामलों में उपयोग मापक व संकेतक है।

ऐसे बेहतर संकेतकों की जरुरत होती है, जो इन विभिन्न घटकों को पकड़ में ले सके, खासकर भीड़ वाले व जहाँ के आँकड़े कम उपलब्ध है, वहाँ के लिए।

हमें इस बात की व्यापक समझ की जरुरत है कि कैसे, शहरी स्वरूप लोगों के अपने इलाकों से जुड़ाव को तथा रिहाइश, सार्वजनिक सुविधाओं तथा रोजगार तथा सेवाओं से निकटता, के बीच तालमेल की उनकी प्राथमिकता को प्रभावित करते हैं।

कम उपयोग की गयी भूमि की स्थिति व विस्तार को लेकर अधिक जानकारी की आवश्यकता है, चाहे परित्यक्त हरीतिमा-विहीन जमीन, पसरे क्षेत्र या ऊँचे मूल्य वाली इमारतें हों। इसी तरह, यह अस्पष्ट रहता है कि क्या वहाँ शहरी स्थायित्त्व के आयामों के मध्य तालमेल बैठेगा। शहरी सुगमता को लागू करने में अधिकतम लाभ पाने के क्रम में सामान्य सुगमता व हरित जगहों तक पहुँच के बीच संबंधों का पता लगाने के लिए और अधिक अध्ययन जरुरी होगा।

असमानता को बढ़ाये बिना प्रौद्योगिकी या तेज परिवहन तक पहुँच बनाने के लिए ऐसे विकास के न्यायमूलक असर पर केन्द्रित अध्ययन होना चाहिए। जैसा कि मेडलिन, कोलंबिया में देखा गया कि गरीबी घटाने व टिकाऊपन के मध्य सह-अस्तित्व संभव है, और इन सह-अस्तित्त्वों का आगे भी पता लगाया जाना चाहिए।

घनत्व के लिए, अभी भी ज्यादातर प्रमाण दुनिया के उत्तरी भूभाग से आते हैं, जबकि सत्ता व न्याय के इर्द-गिर्द स्थायित्त्व से जुड़े आयाम, किफायती आवास, परिवहन विकास की स्थिति दक्षिणी गोलार्ध में पूरी तरह अलग है। इस कारण विभिन्न संदर्भों में तुलनात्मक अध्ययन यह समझने के लिए महत्त्वपूर्ण होगा कि सुगम शहर कैसे विकसित हो सकते हैं व सकारात्मक पथ पर पहुँच सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, सुगम शहरों को लेकर शोध में 'ग्रह-व्यापी शहरीकरण' पर विचार करने की आवश्यकता जिसमें शहरीकरण के नये रूप शामिल हैं जो शहरियत की अवधारणाओं को चुनौती दे रहे हैं।

सुगमता के सभी आयामों पर विचार करने के क्रम में, शहरी जीवन को उद्घाटित करने वाली श्रेणियों, विधियों अथवा मानचित्रण पर भी ध्यान देना चाहिए।

अंतत: सुगम शहरों के लक्ष्यों को न्यायपूर्ण व हरित शहरों के पक्षधरों के साथ देखा जाना चाहिए। समग्र रूप से टिकाऊ शहरी व्यवस्था प्राप्त करने के लिए, सुलभ, हरित और न्यायपूर्ण शहरों के सभी आयामों पर एक दूसरे के साथ विचार करना चाहिए व तालमेल तथा सहयोगों का भी आकलन किया जाना चाहिए।

● अभ्यास प्रश्न

1. समावेशी शहरीकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. लोकतन्त्र के अन्तर्गत संघटन व आर्थिक फायदे के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. शहरी प्रतिमानों को स्पष्ट कीजिए।
4. किफायती आवास के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए।
5. सुगम शहर के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

●